भारतवर्ष का इतिहास

(प्रथम खण्ड : वैदिक तथा आर्ष पर्व)

आचार्य रामदेव जी

सद्धर्म्म प्रचारक यंत्रालय,
गुरुकुल कांगडी

द्वितीयावृत्ति
वि. सम्वत् १९६८

श्री० महात्मा मुन्शीरामजी, मुख्याधिष्ठाता,
गुरुकुल कांगड़ी द्वारा प्रकाशित
और
पंडित अनन्तराम के प्रबन्ध से
सद्धर्म प्रचारक यन्त्रालय गुरुकुल कांगड़ी
में मुद्रित।

प्रथमावृत्ति की भूमिका ।

दार्शनिक बुद्धियुक्त इतिहासवेत्ता ने क्या सच कहा है कि "प्रत्येक देश का भविष्यत् उस के भूत में अङ्कित है, और जिस जाति को अपने भूत का यथार्थ ज्ञान नहीं वह भविष्यत् में उन्नति का मार्ग बहुत कठिन और कई गढ़ों से पूरित पावेगी"। शोक है कि आर्यजाति जैसी प्राचीन और ऐतिहासिक जाति का कोई क्रमबद्ध और कारण कार्य शृङ्खलायुक्त इतिहास विद्यमान नहीं जिस के अवलोकन से उस के युवकों और युवतियों का उत्साह बढ़े, उन का जातीय अभिमान उत्तेजित हो, और उन को अपने पुरुषाओं का महत्त्व और उन की निर्बलताओं का ज्ञान हो ताकि उन के लिये उन्नति का मार्ग सुगम हो और वह सावधानता से पग धर सकें। प्राचीन आर्य इतिहास जानते थे अथवा नहीं और उन के लिखे हुए इतिहास कहां गए इस विषय का विचार पाठकगण पुस्तक के द्वितीय और तृतीय परिच्छेद में ही पावेंगे। किन्तु शोकमय वार्त्ता यह है कि इस समय प्राचीन भारत के जो यूरोपियनों के बनाए हुए इतिहास मिलते हैं उन में कतिपय तो ऐसे हैं जिन में प्राचीन आर्यों का गौरव घटाने के लिए प्राचीन घटनाओं को तरोड़ने और मरोड़ने का यत्न किया गया है इन में से एक लैथब्रिज साहब का इतिहास है जिस के प्रत्येक अध्याय से पक्षपात और दुराग्रह का परिचय मिलता है। सल्युकस और चन्द्रगुप्त के युद्ध का वृत्तान्त लिखते हुए आप कहते हैं कि सल्युकस जीत गया और विजयी ने विजित को अपनी कन्या विवाह में दी और अपने राज्य के तीन प्रदेश भी दे दिए। इस में असत्यता ऐसी स्पष्ट है कि लैथब्रिज के शब्दों से ही उस की स्थापना का खण्डन होता है। भला जिन के मानसिक भावों की यह दशा हो उन से सच्ची ऐतिहासिक बुद्धि को काम में लाने की आशा कैसे हो सकती है? महाशय रमेशचन्द्रदत्त का इतिहास यद्यपि यूरोपियनों के

रचित इतिहासों से कई दर्जे उत्तमतर है किन्तु उस में भी वेदों और ब्राह्मणों के समय पर जो कुछ लिखा गया है वह यूरोपियनों के लेखों के आधार पर ही है।

इस लिए इस बात की बड़ी आवश्यकता थी कि सच्ची ऐतिहासिक और स्वदेशीय दृष्टि से प्राचीन आर्यजाति की सभ्यता का इतिहास (राजाओं का कालबद्ध इतिहास लिख सकना तो सर्वथा असम्भव है) लिखा जावे। गुरुकुल के विद्यार्थियों को इतिहास पढ़ाने का कार्य जब मुझे सौंपा गया तो उस समय मैंने इस आवश्यकता को विशेष रीति से अनुभव किया और उक्त दृष्टि से प्राचीन आर्यसाहित्य को पढ़ना आरम्भ कर दिया। विद्यार्थियों को जो कुछ बतलाता था वह नोटों के रूप में लिखा भी देता था, वही नोट इस पुस्तक की नीव है। कोई स्थापना इस पुस्तक में ऐसी प्रस्तुत नहीं की गई जिस के लिए प्रमाण न दिया गया हो अन्यान्य ऐतिहासिकों से अपने भेद के कारणों को कुछ २ तो यथास्थान और विशेष कर परिशिष्टों में दर्शाया है। प्राचीन भारतवर्ष पर अंग्रेज़ी में जितनी पुस्तकें मुझे मिलीं प्रायः सभी को मैंने पढ़ा किन्तु रामायण और महाभारत के भागों के लिखने में मुझे महाशय सी. वी. वैद्य) एम, ए, एल, एल, बी, बम्बई की पुस्तकों The Riddle of Ramayana और The Mahabharat, a Criticism से विशेष सहायता मिली। मैं उक्त महाशय के सर्व विचारों से सहमत नहीं, जैसा कि पाठकों को उन भागों के पढ़ने से स्वयं ही प्रतीत हो जावेगा । दृष्टान्त रूप से दो बातें यहां लिख देता हूं। वैद्य महाराज की यह सम्मति है कि हनुमान् समुद्र फांद कर लङ्का में गए। इस के विरुद्ध वाल्मीकीयरामायण के शब्दों से मुझे यह निश्चय रूप से प्रतीत हुआ कि वह समुद्र तैर के लङ्का गए। "तितीर्षति" शब्द से कोई अन्य अभिप्राय निकल ही नहीं सकता। वैद्य महाराज श्रीरामादि को मांसभक्षी मानते हैं, मैंने रामायण के प्रमाणों से ही सिद्ध किया है कि वे फलाशी थे। सविस्तर विचार पाठकवृन्द पुस्तक में ही देखें।

मैं अनुभव करता हूं कि इस पुस्तक में कई त्रुटियां रह गई हैं । मैं बड़ा प्रसन्न होता यदि कोई मुझ से योग्य पुरुष इस कार्य्य को सम्पादन करता, परन्तु ऐसा न हुआ अतः कड़ी आवश्यकता को देख मुझे इस पुस्तक को लिखने का साहस करना पड़ा । यदि शुद्ध भावों से प्रेरित होकर कोई महाशय मेरी कोई भूल बतलावेंगे तो उस पर पूरा विचार करूंगा और समझ आ जाने पर आगे की आवृत्ति में उस को शोध भी दूंगा परन्तु " जो कोई पक्षपात से अन्यथा शंका वा खण्डन करेगा उस पर ध्यान न दिया जावेगा" । अन्त में मैं पं० ब्रह्मानन्द का हार्दिक धन्यवाद करता हूं जिन्होंने पुस्तक को सुभाषा से सुभूषित करने और प्रमाणों के ढूढ़ने में मुझे बड़ी सहायता दी

गुरुकुल कांगड़ी २९–७–१९६७ वि०

रामदेव

द्वितीयावृत्ति की भूमिका

इस पुस्तक की प्रथमावृत्ति २ मासों के अन्तर्गत ही समाप्त हो गई और इस लिये दूसरी आवृत्ति बहुत शीघ्र निकालनी पड़ी अतः विशेष परिवर्तन नहीं हो सका। तथापि रामायण के भाग में कतिपय पृष्ठ बढ़ा दिये गए हैं प्रश्नोत्तर और संग्रह को सर्व साधारण के लिये अनुपयुक्त समझ के अब की बार निकाल दिया है अन्त में मैं आर्य्यजाति के प्रति उत्साह-वृद्धि के लिये धन्यवाद प्रकट करके इस भूमिका को समाप्त करता हूं और आशा दिलाता हूं कि तीसरी आवृत्ति में पुस्तक को अधिक सर्वप्रिय और लाभदायक बनाने का प्रयत्न करूंगा।

रामदेव

गुरुकुल कांगड़ी ३-१-१९६८ वि०।

विषय सूची।

ब्राह्मण ग्रन्थों के समय में शिक्षा की रीति और विद्या का प्रचार।

राजा, उस का अधिकार और कर्तव्य तथा राजव्यवस्था।

वर्णाश्रम अवस्था, स्त्रियों की दशा साधारण अवस्था।

राजवंश-सभ्यता-यज्ञादि।

मनुस्मृति का निर्म्माण ।

वर्णाश्रमधर्म ।

राजधर्म ।

यह उस राजसभा (पार्लिमेंट) का चित्र है जिस में श्रीराम के युवराज्याभिषेक विषय में विचार हो रहा है। राजसिंहासन पर महाराज दशरथ विराजमान हैं। देखिए पृष्ठ २९९।

सद्धर्म्म-प्रचारक यन्त्रालय गुरुकुल कांगड़ी में अनन्तराम शर्म्मा द्वारा मुद्रित।

* ओ३म् *

भारतवर्ष का इतिहास।

❀ प्रथम भाग ❀

❀ प्रथम परिच्छेद ❀

* इतिहास का लक्षण और-उस से लाभ *

दुःख सागर से पार होने के जो कतिपय प्रधान साधन हैं उन में से एक ऐतिहासिक ज्ञान भी है। अनेक शताब्दियों से इस भयङ्कर सागर के भंवर में पड़ी हुई हमारी नौका डगमगा रही है। हमारे जो पुरुषा इस नौका को सुगति से चलाते थे वे तो परलोकवासी हो गए और हम आलसियों ने इस नौका संचालन की विधि उन से न सीखी। जब प्रचण्ड पवन वहने लगा, नौका अधिक डोलने लगी, अब गई तब गई की दशा उपस्थित हुई, तब हा हा कार आरम्भ हुआ। परन्तु इस क्रन्दन से क्या होता है ? सावधान हो कर हमें चाहिये कि हम उन विधियों का पता लगाएं जिन्हें धारण कर हमारे पुरुषा इस नौका को सुगति से संचालित करते थे और हमारे कल्याण के विचार से जिन्हें वह अपने पुस्तकों में अङ्कित कर गए हैं और साथ ही ढूंढना चाहिए कि हम क्रोड़ों मनुष्यों में अब एक भी कर्णधार कहीं वर्तमान है वा नहीं जो इस दुःखसागर में डूबने से बचने के उपाय तथा शान्ति युक्त यात्रा की विधि हमें शीघ्र बताए।

यह एक स्वाभाविक बात है कि जब मनुष्य किसी महान् कार्य्य सम्पादन की चिन्ता में निमग्न होता है तो कार्य्य शैली के परिज्ञान के लिये चाहता है कि उसे कोई ऐसा पुरुष मिले जिस ने उस प्रकार के कार्य्य पूर्ण करने में सफलता प्राप्त की हो अथवा जिस ने अकृतकार्य्यता की दशा में भी अभीष्ट सिद्धि के लिये पूर्ण पुरुषार्थ किया हो। उक्त प्रकार के पुरुषों में से एक भी व्यक्ति यदि उसे मिल

जाता है तो कार्य्यारम्भ से पूर्व वह उस के साथ विचार करता और उस के अनुभवों को ध्यान से श्रवण करने लगता है। यह क्यों ? क्या वह उस के साथ विचार करने में जो समय लगाता है उसे वह अपने कार्य्यसम्पादन में नहीं लगा सकता ? गम्भीर विचार से ज्ञात होता है कि इस प्रकार का सम्मिलन और सम्भाषण भी कार्य्यसम्पादन के साधन ही हैं। जो मनुष्य किसी कार्य्य में सफलता प्राप्त कर लेता है वह सफलता प्राप्ति के पूर्व पुरुषार्थ करते समय अनेक भूलें करता, अनेक कष्टदायक कठिनाइयों को लांघता, क्रमशः अनुभवी होता और तब जिस प्रकार सफलता प्राप्त की जाती है उन सब विधियों का ज्ञाता बनता है। ऐसे अनुभवी पुरुष के साथ विचार कर लेने से नूतन कार्य्यकर्त्ता कृतकार्य्यता के कारणों और कार्य्य प्रणाली को जान कर आशावान और उत्साहित होता, अनेक भूलों से बचता और कठिनाइयों को अल्पश्रम से लांघता हुआ सुगमता से उन्नति के मार्ग पर चलता है और इस प्रकार बहुत सा समय और श्रम जो कार्य्य से सर्वथा अपरिचित होने की अवस्था में नष्ट करता उसे बचा कर स्वकार्य्य सिद्धि में लगाता है। कृतकार्य्य पुरुष के अभाव में यदि उसे वह पुरुष मिल जाता है जो सफलता की प्राप्ति के लिये पूर्ण पुरुषार्थ करने पर भी स्वाभिष्ट सिद्धि से वञ्चित रहा हो तो उस की कठिनाइयों, भूलों और अपक्व अनुभवों से भी लाभ उठाता हुआ नूतन कार्य्यकर्त्ता अपनी सफलता के लिये अनेक नवीनोपाय सोचता और अनेक विध कष्टों से बचता है।

यह तो हुई एक मनुष्य की वार्त्ता। अब किसी ऐसे कार्य्य पर विचार कीजिये जिसे अनेक मनुष्य मिल कर ही सम्पादन कर सकते हों, जैसे कि खान का खोदना। खनिज विद्या से अपरिचित १०० मनुष्य मिल कर यदि एक सुवर्ण की खान को खोदने लगें तो कार्य्यविधि से अनभिज्ञ होने के कारण उन्हें अनेक कठिन कष्ट उठाने पड़ेंगे परन्तु यदि उन्हें उन लोगों की कार्य्यविधि सविस्तर ज्ञात हो जाय जिन्होंने उन से पूर्व इस कार्य्य को किया हो तो वे निश्शङ्क हो अपने कार्य्य को सुगमता से करने लगेंगे और यदि पूर्व कार्य्यकर्त्ता इन नूतन कार्य्यकर्त्ताओं के पुरुषा हों तो कार्य्य रीति की प्राप्ति के साथ ही इन का मस्तिष्क पैतृक उत्साह और हृदय आह्लाद से परिपूर्ण हो जायगा, क्योंकि संसार का यह नियम है कि मनुष्य अपने पुरुषाओं की सफलता का वृत्तान्त श्रवण कर उत्साहित होता और उन का अनुकरण करने के लिये बद्ध परिकर हो जाता है। आप ही सोचें कि यदि आप के पिता वा अध्यापक धाराप्रवाह संस्कृत बोलते हों अथवा किसी विशेष विद्या में विशेष निपुण

हों तो आप का मन कितना उत्साहित होता और अनुकरण की प्रबल इच्छा आप को किस प्रकार वशीभूत कर लेती है (परन्तु किसी अन्य के विषय में ऐसे वृत्तान्त श्रवण कर आप का हृदय उतना उद्वेलित नहीं होता), एवं यदि आप के पुरुषाओं ने किसी स्थान विशेष में अपनी बुद्धिमत्ता से सुकार्यों के सम्पादन में बारम्बार कीर्त्ति प्राप्त की हो तो उस स्थान के साथ तथा उस भूमि (देश) के साथ भी जहां ऐसे महापुरुषों ने जन्म ग्रहण किया हो आप का स्नेह हो जाता है। यही कारण है कि आज भी लक्षों मनुष्य अयोध्या, मथुरा प्रभृति के नामों से उत्साहित हो रहे हैं।

जो बात एक मनुष्य अथवा मनुष्यों के एक छोटे समूह के विषय में सत्य है वह एक मनुष्य महामण्डल वा जाति के विषय में भी चरितार्थ हो सकती है, क्योंकि मनुष्य व्यक्तियों के समारोह से ही एक मनुष्य महासमूह वा जाति बनती है। बहुत से कार्य्य ऐसे हैं जिन्हें सारी जाति मिल कर ही कर सकती है। यदि कोई सामाजिक कुरीतियां देश में हों तो सारी जाति को मिल कर ही सुधार का यत्न करना पड़ता है, क्योंकि यदि जाति का एक भाग कुरीतियों से पीड़ित हो तो शेष भाग भी सुखी नहीं रह सक्ता। यदि किसी देश में वाणिज्य करना बुरा समझा जाय तो इस का परिणाम यह होगा कि उस देश के निवासी सब के सब दरिद्री बन जायंगे अतएव आवश्यक है कि जाति अपने धार्मिक, सामाजिक तथा अन्यान्य प्रकार के नियमों को भली भांति सोच समझ कर बनावे और इन नियमों के निर्धारण के लिए उन सामाजिक तथा अन्यान्य प्रकार के नियमों पर भी विचार करले जिन का पालन इस के पुरुषा किया करते थे अर्थात् अपने पुरुषाओं का इतिहास भलीभांति अध्ययन कर उक्त प्रकार के गम्भीर नियमों के निर्माणार्थ उद्यत हो ताकि उन्नति का मार्ग उस के लिये सुगम हो जाय।

इतिहास

उस विद्या का नाम है जिस के अवलोकन से हमें किसी जाति के पुरुषाओं के वृत्तान्त अर्थात् उन की उन्नति और अवनति, उन की चेष्टा और शिथिलता उनकी भ्रान्ति और दक्षता एवं उन के सुखों और दुःखों का पूरा २ ज्ञान हो।

भारतवर्षीय इतिहास।

आर्य्य जाति की उन्नति और अवनति, उस की चेष्टा और शिथिलता उस की भ्रान्ति और दक्षता, अनेक समय उस के नेताओं की मूर्खता तथा स्वार्थपरता के

का पूर्ण यत्न करना चाहिये । संसार में कोई भी सभ्य जाति ऐसी नहीं जिस के सुयोग्य पुत्र अपने इतिहास को सर्वप्रिय बनाने के अनेक यत्न न करते हों । क्या सभ्य देशों को सभ्यता प्रदान करने वाली जाति अपने अनेक पुरुषाओं के महत् कार्य्यों का स्मरण कर के और अनेक पुरुषाओं की भूलों को मनन कर के एक वार पुनः संसार की आचार्य्या न बनेगी ? क्या यह पुण्य भूमि फिर से संसार को सच्ची सभ्यता का पथ न दिखलावेगी । आशा तो यही पड़ती है कि जो जाति इतने क्लेशों से बच निकली है वह अपने इतिहास के द्वारा अपनी वास्तविक महानता को अनुभव करती हुई फिर उन्नति के शिखर पर पहुंचेगी जो इस का स्वत्व है ।
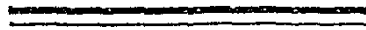
द्वितीय परिच्छेद ।

क्या प्राचीन आर्य्य इतिहास जानते थे ?

एक सभ्यजाति के लिये इतिहास की आवश्यकता–संस्कृत भाषा में इतिहास शब्द का होना—संस्कृत साहित्य में इतिहास के गुण वर्णन—क्यों भारतवर्ष का कारण कार्य्य शृंखला युक्त पूर्ण इतिहास नहीं मिलता–प्राचीन ऐतिहासिक पुस्तकें-प्राचीन आर्य्यों के ऐतिहासिक होने में अन्यान्य युक्तियां ।

इतिहास की महिमा हम पिछले परिच्छेद में वर्णन कर चुके हैं । इस परिच्छेद में हमें कतिपय पश्चिमी इतिहासवेत्ताओं के इस कथन की परीक्षा करनी है कि "प्राचीन आर्य्य ऐतिहासिक विद्या से अनभिज्ञ थे" । वास्तव में यदि यह लांछन ठीक हो तो हमें मानना पड़ेगा कि हमारे पुरुषा केवल अर्धसभ्य थे क्योंकि केवल दो ही अवस्थाओं में कोई जाति ऐतिहासिक ज्ञान से शून्य हो सकती है:—

(१) कि उस के नेता कोई ऐसे कार्य्य न किये हों जिनको उन की सन्तति साभिमान स्मरण कर सके ।

(२) कि उस के नेता अपनी सन्तति को ऐतिहासिक शिक्षा के लाभों से अवगत कर उन में देशभक्ति के भावों को उत्तेजित करने की आवश्यकता से अनभिज्ञ हों ।

पहली अवस्था तो हो ही नहीं सकती, क्योंकि यह प्रख्यात है कि प्राचीन आर्य्यावर्त में रेखा गणित, ज्योतिष तथा पदार्थ विज्ञान महोन्नति को पहुंचे हुए थे, वैद्यक सम्बन्धी आश्चर्य्यजनक अन्वेषण हो चुके थे, अध्यात्म-विद्या उन्नति के शिखर पर विराजमान थी, प्रजातन्त्र शासन प्रणाली का अभ्यासिक प्रचार था, तथा चक्रवर्ती साम्राज्य भी संस्थापित हो चुका था । अतएव यह सिद्ध नहीं हो सकता कि प्राचीन आर्य्यों के कार्य्य ऐसे न थे जो उन की सन्तान के उच्च भावों को उत्तेजित करते और उन की उन्नति में सहायक हो सकते । वास्तव में उन के कार्य्य तो केवल भारत ही नहीं प्रत्युत सर्व संसार को उन्नति के मार्ग पर चलने का आदेश करते हैं ।

द्वितीयावस्था भी संघटित नहीं होती क्यों कि जब हम प्राचीन और नवीन संस्कृत साहित्य की आलोचना करते हैं तो उसे इतिहास के गुण वर्णन से भर पूर पाते हैं । स्थालीपुलाक न्याय से यहां पर थोड़े से उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं:—

अथर्व वेद, काण्ड १५, अ० १, सूक्त ६, मन्त्र १०, ११ तथा १२ में निम्नलिखित शिक्षा है:—

" स बृहतीं दिशमनुव्यचलत । तमितिहासश्च पुराणंच गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन् । इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद " ।

अर्थात् " महत्वाभिलाषी पुरुष जब (बृहतीम्) महत्व की ओर चलता है तब इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसी उस के अनुगामी बन जाते हैं " इस बात को जो पुरुष जानता है वह इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसी का प्रिय धाम (वासस्थान) बन जाता है । (यह मन्त्र इतिहास विद्या का बीज है) *

गृह्य सूत्र में लिखा है:—

" ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरिति"

अर्थात् ब्राह्मणों को इतिहास पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी भी कहते हैं । अर्थात् ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ जो ब्राह्मण ग्रन्थों के नाम से प्रसिद्ध हैं उन में कई प्रकार के इतिहास विद्यमान हैं ।

छान्दोग्योपनिषद् के सप्तम प्रपाठक में जहां महर्षि सनत्कुमार और ऋषि नारद का संवाद है वहां सनत्कुमार के पूछने पर नारद ने निम्नलिखित प्रकार बतलाया है कि उन्हों ने क्या २ अध्ययन किया है:—

" सहो वाचर्ग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदꣳसामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहास पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याꣳ सर्पदेवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि "

अर्थात् हे भगवन् ! मैंने ऋक, यजु. साम, अथर्व, इतिहास, पुराण, . वेदार्थ प्रतिपादकग्रन्थ, पितृविद्या, राशि, दैव, निधि वाकोवाक्य, एकायनविद्या, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या सर्प देव जनविद्याओं को अध्ययन किया है । (इस उत्तर में इतिहास पुराण अर्थात् पुराकालीन इतिहास का नाम स्पष्ट आया है) ।

---

* देखिये द्वितीय संस्करण की ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका पृष्ठ ८२

इसी प्रकरण में सनत्कुमार ने नारद को उपदेश दिया है:—

"विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदꣳसामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहास पुराणं पञ्चमम्………"

अर्थात् विज्ञान (सायंस) के द्वारा ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास पुराण का तत्व ज्ञात होता है। (इस कथन का तात्पर्य तो यह है कि किसी समय इतिहासविद्या भारत में ऐसी उन्नति को प्राप्त थी कि उस के कतिपय गूढ़ाशय पूर्ण ग्रन्थों को समझने के लिये विद्यार्थी को पहले विज्ञानवित् अर्थात् सायंस का ज्ञाता बनना पड़ता था) ।

महाभाष्य व्याकरण के पस्पशाह्निक में लिखा है:—

"महान् शब्दस्य प्रयोग विषयः………………

वाक्यकोवाक्यमितिहासः…………………"

अर्थात् " शब्दप्रयोग " विषय बहुत बड़ा है………वाक्यकोवाक्य इतिहासादि

चतुष्षष्ठि (६४) कलाओं की गणना कराता हुआ एक कवि लिखता है:—

"इतिहासागमाद्याश्च काव्यालङ्कार नाटकम्…."

अर्थात् इतिहास, वेद, काव्य, अलङ्कार, नाटक………आदि ६४ कलाएं हैं।

राजकुमार चन्द्रापीड को कौन २ सी विद्याएं पढ़ाई गई थीं इस का वर्णन करता हुआ कवि वाण अपने ग्रन्थ कादम्बरी में लिखता है:—

"स (चन्द्रापीडः) महाभारत पुराणेतिहास रामायणेषु परं कौशलमवाप"

अर्थात् वह राजकुमार महाभारत, इतिहास, पुराण, तथा रामायण में बड़ा कुशल हो गया।

राजा के वर्णन में कवि वाण ने कादम्बरी में लिखा है:—

" स कदाचिदाख्यानकाख्यायिकेतिहास पुराणाकर्णनेन सुहृत्परिवृतो दिवनैषीत्"

वह कभी २ प्रबन्ध, कहानियां, इतिहास, तथा पुराणों को सुन कर मित्रों के साथ दिन व्यतीत करता था।

महाभारत में लिखा है:—

"इतिहास पुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्"

अर्थात् इतिहास तथा पुराण से वेदार्थ दृढ़ करना चाहिये। इस से पता लगता है कि प्राचीन आर्य ऐतिहासिक विज्ञानशास्त्र के इस नियम को भी भली भांति जानते थे कि जब तक किसी मनुष्य ने बहुत सी सांसारिक स्थूल घटनाओं के परस्पर सम्बन्धों को न समझा हो तब तक वह सूक्ष्म नियमों को ठीक अनुभव नहीं कर सक्ता क्योंकि स्वभावतः ज्ञान की गति स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर है।

एक कवि लिखता है:—

"धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम् पूर्ववृत्त कथायुक्तमितिहासम्प्रचक्षते"

अर्थात् इतिहास वह विद्या है जिस में प्राचीन बातों के वर्णन के साथ २ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का उपदेश हो। इस से ज्ञात होता है कि प्राचीन समय में इतिहास न केवल घटनाओं का तिथि वार वर्णन ही करता था किन्तु साथ ही कारण कार्य्य की शृङ्खला द्वारा उन घटनाओं से जो शिक्षा मिलती थी वह भी जतलाता था।

इन उदाहरणों से भली भांति विदित होता है कि प्राचीन आर्य इतिहास को एक प्रकार का विज्ञान और धर्मार्थ काम मोक्ष की प्राप्ति में सहायक मानते थे एवं इस की सहायता से अपने अनेक काव्यों को शिक्षाप्रद तथा मनोरञ्जक बनाया करते थे। भला, जिस इतिहास की विद्यमानता की साक्षी नारद, सनत्कुमार, पतञ्जलि प्रभृति स्पष्ट शब्दों में दे रहे हैं उस के ज्ञाता भारत में न हुए हों यह कैसे सम्भव हो सकता है? एवं भारतीय साहित्य में ऐतिहासिक साहित्य की अविद्यमानता कोई कैसे सिद्ध कर सकता है?

अब प्रश्न उपस्थित यह होता है कि यदि प्राचीन आर्य लोग इतिहास के लाभों से परिचित थे तो इस समय कारण कार्य शृङ्खलायुक्त समस्त भारत का इतिहास क्यों नहीं मिलता, जिस में तिथिवार सब घटनाओं का सविस्तर वर्णन हो? मिले कैसे? क्या भारत पर आक्रमण करने वाले मुसलमानों की साम्प्रदायिक पक्षपात से अब भी संसार अपरिचित है? जिस समय मुसलमानी मत से असम्मत भारत सन्तान को वशीभूत करने की बलात चेष्टा की जाती थी, जिस समय सहस्रों पुरुषों से उन की पत्नियां भ्राताओं से भग्नियां छीनी जाती थीं, कभी २ क़तल आम अर्थात् सर्व जन बध की आज्ञा प्रचरित होती थी, उस समय कुरान के प्रतिद्वन्दी भारतीय ग्रन्थ भला कैसे बच सकते थे? उदान्तापुरी का प्राचीन विश्वविद्यालय महाराज महिपाल के समय महोन्नति को प्राप्त था, जिस में अन्यान्य प्रकार के विद्यार्थियों के अतिरिक्त हीनायन

सम्प्रदाय के १००० एक सहस्र बौद्ध साधु तथा महायन सम्प्रदाय के ५००० पांच सहस्र बौद्ध साधु शिक्षा ग्रहण कर रहे थे, उस के महान् पुस्तकालय को जिस में ब्राह्मणों तथा बौद्धों के ग्रन्थ भरे पड़े थे, १२०२ ईसवी में बख़्तियार ख़िलजी के सेनापति मुहम्मद बिनसीम ने जला दिया और उक्त साधुओं को मार डाला । * ऐसी दुर्घटनायें कितनी हुईं इस का पता कौन लगा सकता है ! (वर्त्तमान संस्कृत

---

* देखिये राय सरतचन्द्रदास बहादुर सी० आई० ई० का अंग्रेज़ी व्याख्यान जो साहित्य सभा कलकत्ता में, सर रोपर लेथब्रिज एम० ए० के० सी० आई० ई० की प्रधानता में हुआ था और जो प्रयाग के मासिकपत्र हिन्दुस्तान रिविउ अङ्क मार्च १९०६ में छपा है, वहां लिखा है:—

"The temple of Odantapuri vihara which is said to have been loftier than either of the two (Budha Gaya and Nalanda) contained a vast collection of Budhist and Brahmanical works which, after the manner of the great Alexandrian library, was burnt under the orders of Mohamed Ben Sim General of Baktyar Khilji in A.D. 1202." (The Hindustan, Review, March 1906. P. 187.) .

"During the reign of the son of king Mahipal who was called Pal the Great *i. e.* Mahapal, there were 1000 monks of the earlier school of Budhism called Hinayana & about 5000 monks of the Mahayana school at Odantapuri. The Pal kings had established a monastic university at Odantapuri with a splendid library of Brahmanical and Budhistic works which was destroyed at the sack of the monastery and massacre of its monks by the Mohomedans in A. D. 1202." (The Hindustan Review. March 1906, P. 190).

अर्थात् उदान्तापुरी के विहार मन्दिर में (जिस के विषय में कहा जाता है कि वह बुद्धगया तथा नलन्द के विहार मन्दिरों से भी ऊंचा था) ब्राह्मणों तथा बौद्धों के बनाए ग्रन्थों का एक बहुत बड़ा सङ्कलन था जो कि अलेकज़ेंड्रिया के महान् पुस्तकालय की भांति १२०२ ईसवी में बख़्तियार ख़िलजी के सेनापति मुहम्मद बिनसीम की आज्ञानुसार जलाया गया (हिन्दुस्तान रिविउ, मार्च १९०६ पृष्ठ १८७)।

महाराज महिपाल के पुत्र महाराज महापाल के शासन समय उदान्तापुरी में बौद्धों के पुराने पन्थ हीनायन सम्प्रदाय के एक सहस्र १००० साधु तथा नवीन पन्थ महायन सम्प्रदाय के ५००० पांच सहस्र साधु निवास करते थे । साधुओं के लाभार्थ पालवंश के महाराजाओं ने उदान्तापुरी में एक विश्वविद्यालय स्थापित किया था जिस में एक सुन्दर और विशाल पुस्तकालय ब्राह्मणों तथा बौद्धों के ग्रन्थों से पूरित विद्यमान था। यह पुस्तकालय १२०२ ईसवी में (जब कि मुसल्मानों ने उक्त साधु आश्रम पर चढ़ाई कर साधुओं को मार डाला) मुसल्मानों के द्वारा जला दिया गया । (हिन्दुस्तान रिविउ मार्च १९०६) ।

ग्रन्थों में अनेक ऐसे ग्रन्थों के नाम आते हैं जिन का इस समय कहीं भी पता नहीं लगता। इस का कारण क्या ? यही कि अनेक भारतीय ग्रन्थ मुसलमानी ईर्षाग्नि में भस्म हो गये) जब आर्य्य जाति पर यह विपत्ति पड़ी तो उस के नेताओं ने यह सोचा कि इतिहासादि साधारण ग्रन्थ तो फिर भी बन सकते हैं परन्तु यदि वेदों, उपनिषदों, तथा दर्शनादि शास्त्रों का नाश हो गया तो न केवल आर्य्य जाति ही विनष्ट हो जायगी प्रत्युत संसार मात्र की आत्मिक मानसिक तथा सामाजिक उन्नति में बाधा पड़ेगी। अतएव वह वेदोपनिषद् दर्शनादि कतिपय ग्रन्थों को विशेष रूप से कण्ठस्थ करने लगे जिस से आर्य्यों के सैकड़ों ग्रन्थ बच गये परन्तु सहस्त्रों परमोपयोगी ग्रन्थों की रक्षा न हो सकी, वेदों की प्रायः १००० एक सहस्त्र शाखाओं का नाश हो गया, धनुर्वेद, आयुर्वेद, शिल्पविद्या, इतिहासादि के सैकड़ों ग्रन्थ विलुप्त होगये। तथापि मानना पड़ेगा कि हमारे पुरुषाओं ने उस घोर विपत्ति के समय बड़ी बुद्धिमत्ता से काम किया। यदि आज इस गिरी हुई अवस्था में भी भारत सन्तान का कुछ मान्य योरोप तथा अमेरिकादि देशों में है तो उस का कारण केवल यही है कि गौतम, कणाद, पतञ्जलि और व्यास की पूजा सभ्य संसार में होती है।

परन्तु क्या सारी इतिहास की पुस्तकों का नाश हो गया ? नहीं, इस समय भी काश्मीर का इतिहास मिलता है जिस का नाम राजतरङ्गिणी है जिस के कर्त्ता कल्हन के विषय में डाक्टर स्टाइन नामक प्रसिद्ध ऐतिहासिक मानते हैं कि कल्हन इतिहास के सच्चे अर्थों को जानते थे और मिस्टर एचब्रूस आश्चर्य प्रकट करते हैं कि जिस समय योरोप में वास्तविक ऐतिहासिक बुद्धि का विकाश भी नहीं हुआ था उस समय भारत में कल्हन सरीखे इतिहासवेत्ता कैसे उत्पन्न हो गए ! कल्हन का कार्य अद्भुत है और ईवोल्यूशन थियोरी अर्थात् विकाश विचार के नियमों में आबद्ध नहीं होता !

सोचने की बात है कि महाराज विक्रमादित्य की बारहवीं शताब्दि में जब कि भारत का अधःपतन हो रहा था, कल्हन सरीखे इतिहासवेत्ता उत्पन्न हो सकते थे तो उस समय जब कि भारत उन्नति के शिखर पर विराजमान था इस देश में कितने और कैसे २ ऐतिहासिक विज्ञानी उत्पन्न हुए होंगे ! कल्हन लिखते हैं कि राजतरङ्गिणी लिखने के पूर्व मैंने ११ ग्यारह ऐतिहासिकों के पुस्तकों को अवलोकन किया, परन्तु शोक ! महाशोक ! कि मुसलमानों की कृपा से उन में से एक का भी कहीं पता नहीं चलता।

प्राचीन आर्य्यों की तो कथा ही क्या है उन की पतित सन्तति भी ऐतिहासिक घटनाओं को स्मृत वा अङ्कित रखना आवश्यक समझती थी । जिस समय भारत में हाहाकार मचा हुआ था और आर्य्यों की लिखित पुस्तकों को मुसलमान नष्ट कर रहे थे उस समय देश के शेष भाट और चारण सामयिक ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन लिखने की अपेक्षा कण्ठस्थ रखना समुचित समझ प्रसिद्ध २ घटनाओं को अपनी स्मृति में रखने लगे । यही कारण है कि सुप्रसिद्ध निष्पक्ष ऐतिहासिक टाड महाशय जब क्षत्रियों का इतिहास लिखने लगे तो उक्त चारण तथा भाटों से उन्हें तिथिवार उन सब ऐतिहासिक घटनाओं का ठीक २ पता मिल गया जिन्हें उन्होंने अपने सुप्रतिष्ठित इतिहास राजस्थान में अङ्कित कर रक्खा है । मरहटों की शक्ति जब प्रकट हुई, मुसलमानी अत्याचार का सामना भारतीय सफलता के साथ करने लगे तब पुस्तकों के नाश का भय कुछ न्यून हुआ और मरहटे, महाराज शिवजी (सेवाजी) तथा पेशवाओं के राज्य समय का वृत्तान्त मरहटी भाषा में लेखबद्ध करने लगे जो अब तक विद्यमान है ।

जो पक्षपाती यह कहते हैं कि प्राचीन आर्यों को ऐतिहासिक विद्या का ज्ञान न था वह यह बतावें कि अब्बुलफ़ज़ल ने जो भारत का इतिहास लिखा है उसकी सामग्री उसने कहां से एकत्रित की ? यदि ऐतिहासिक विद्या का ज्ञान ही न था तो महाराज अशोक अपने राज्य समय की घटनाओं को तिथि सहित पर्वतों की शिलाओं पर क्यों लिखवाया करते थे ? क्या समालोचक महाशयों ने कभी चीनी यात्री ह्यूनसैन के भारत भ्रमण वृत्तान्त को ध्यानपूर्वक पढ़ा है ? ह्यूनसैन स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं * "घटनाओं को लेखबद्ध करने के लिये प्रत्येक प्रदेश में एक राजपुरुष होता था जिस का कार्य्य

---

* With respect to the records of events, each province has its own official for preserving them in writing. The record of these events in their full character is called Ni-lo-picha (Nilpita, blue deposite). In these records are mentioned good and evil events, with calamities and fortunate occurences (Records of western countries, Book II. Literature; translated from the Chinese of Hiuen Tsiang of A. D. 629. English edition of 1906. P, 78.)

अर्थात् घटनाओं को लेखबद्ध करने के लिये प्रत्येक प्रदेश में एक राजपुरुष होता था जिस का कार्य्य यह था कि घटनाओं का वृत्तान्त लिखता रहे उनके लेखों का नाम "नीलोपित्र" "नीलपित" (नीलपत्री) वा "नीलकोष" था । इन लेखों में सुघटनाएं तथा दुर्घटनाएं सभी वर्णित होती थीं एवं देश की आपत्ति तथा सौभाग्य सूचक घटनाएं सब

यह था कि घटनाओं का वृत्तान्त लिखता रहे उनके लेखों का नाम नीलोपिच वा नीलपित (नीलपत्री) वा नीलकोष था, इन लेखों में सुघटनाएं तथा दुर्घटनाएं सभी वर्णित होती थीं एवं देश की आपात्ति तथा सौभाग्य सूचक घटनाएं सब विद्यमान रहती थीं।"आजकल भी यूरोपीय देशों में राज्य प्रबन्ध के लिये प्रत्येक विभाग से ब्लूबुक्स अर्थात् नील पत्रियां निकलती हैं जिन के आधार पर ही आधुनिक ऐतिहासिक इतिहास लिखा करते हैं। भारतीय नीलपत्री तथा यूरोपीय ब्लूबुक्स इन दोनों नामों में जो समता है वह वर्त्तमान ऐतिहासिकों के मन में नाना प्रकार की कल्पनाएं उत्पन्न कर रही है। क्या यह असम्भव है कि यूरोपियनों ने ब्लूबुक्स लिखने की प्रणाली नीलपत्री के निमार्ण से ही सीखी हो ?

ऐसा प्रतीत होता है कि भारत वर्ष के इतिहास में कोई समय ऐसा था जब कि कवि लोग अपनी काल्पनिक रचनाओं के लिये सामग्री भी प्रायः ऐतिहासिक पुस्तकों से लेते थे और इसी कारण उन्हें इतिहास दर्शी भी बनना पड़ता था। क्षेमेन्द्र कृत कवि कण्ठाभरण, प्रथम सन्धि के निम्नलिखित श्लोक से कवि के लिए इतिहास दर्शी बनने की आवश्यकता स्पष्ट ज्ञात होती है:—

पठेत् समस्तान् किल कालिदास कृतप्रबन्धानितिहासदर्शी ।
कामाधिवास प्रथमोद्गमस्य रक्षेत्पुरस्तार्किकगन्धमुग्रम् ॥

संस्कृत भाषा में ऐतिहासिक काव्यों की विद्यमानता सिद्ध कर रही है कि प्राचीन आर्य्यावर्त्त में इतिहास पर कई पुस्तक लिखे गए थे, यदि नहीं लिखे गए थे तो कवि कालिदास ने रघुवंश लिखने के लिये ऐतिहासिक सामग्री कहां से एकत्रित की थी ? और पुराणों में जो वंशावलियां दी हुई हैं उनका ज्ञान पुराण के कर्त्ताओं को कहां से हुआ ? कई काव्यों के पढ़ने से बोध होता है कि एक समय इस देश के विद्यालयों में इतिहास भलीभांति पढ़ाया जाता था एवं इतिहास के अनेक ग्रन्थ उपस्थित थे। हर्षचरित के प्रमाण से हम ऊपर लिख चुके हैं कि जब महाराज हर्ष का चित्त उदास हुआ करता था वह इतिहास सुना करते थे। कादम्वरी में लिखा है कि महाराज ने अपने पुत्र के लिये गुरुकुल खुलवाया और उस में भिन्न २ विद्याओं

विद्यमान रहती थीं। (रेकर्ड्स् आफ़ वेसटर्नकंट्रीज़, बुकसेकंड, लिटरेचर नामक पुस्तक पृष्ट ७८ जो चीनी यात्री ह्यूनसैन के ६२९ ईसवी के लिखे चीनी ग्रन्थ का अंग्रेज़ी अनुवाद है, जो कि १९०६ ईसवी में छापा गया था) ।

के अध्यापकों के साथ साथ इतिहास का अध्यापक भी नियुक्त किया । यदि इतिहास थे ही नहीं तो अध्यापक राजकुमार को यह विद्या कैसे पढ़ाते थे ! रामायण और महाभारत दो महान् ऐतिहासिक काव्य इस समय उपस्थित हैं । यद्यपि उन में प्रक्षिप्त श्लोक बहुत हैं तथापि उन के विषयों के ऐतिहासिक होने में कोई सन्देह नहीं । रामायण के एक अलङ्कार युक्त पुस्तक होने और महाभारत से पीछे लिखे जाने के विषय में यूरोपीय ऐतिहासिकों ने जो नए २ और विचित्र विचार घड़े हैं उन का खण्डन हम रामायण तथा महाभारत के प्रकरणों में करेंगे । यदि प्राचीन आर्य्य इतिहास के लाभों को नहीं समझते थे तो बाल्मीकि और व्यास ने इतनी बड़ी २ पुस्तकों के लिखने का कष्ट क्यों उठाया ? यूनानी इतिहासवेत्ता मेगस्थनीज़ अपने भारत निवास का वृत्तान्त लिखते हुए, कहते हैं कि " महाराज चन्द्रगुप्त के देश में भिन्न २ घटनाओं की वार्ता संग्रह करने के लिये कई राजपुरुष नियुक्त थे " *निश्चय है कि इन्हीं घटनाओं के सार वृत्तान्त से इतिहास बनता होगा । इतिहास सङ्गठन के विषय में इस से भी दृढ़तर प्रमाण महाराज अशोक का छठा शिलालेख है जिस में अङ्कित है कि "जो कुछ घटना किसी नगर में हो उसे पत्रीवेत्ता नामक राजपुरुष लेखबद्ध कर लेवे"

पूर्वोक्त प्रमाणों से यही परिणाम निकलता है कि प्राचीनार्य्य, ऐतिहासिक विज्ञान को जानते थे, उन्होंने इतिहास की कई पुस्तकें लिखीं जिन में से बहुतेरों का मुसल्मानी राज्य के समय नाश हो गया, तथापि जो पुस्तकें बची हुई हैं वह प्राचीनार्य्यों के ऐतिहासिक विज्ञान प्रदर्शन में काम दे रही हैं और सिद्ध करती हैं कि आधुनिक विज्ञानविद् इतिहास लिखने में जिस शैली का अवलम्बन करते हैं वह विधि भी प्राचीनार्य्य ऐतिहासिकों को ज्ञात थी ।

---

* This institution of official reporters (Pativedakas) existed in the time of Chandragupta (Asoka, The rock inscriptions P. 121) Vincent A. Smith.

The sixth class consists of the overseers, to whom is assigned the duty of watching all that goes on, and making reports secretly to the king ....
The ablest and most trustworthy men are appointed to fill these offices. (Mc Rindle's Ancient India page 85)

॥ तृतीय परिच्छेद ॥

भारतवर्ष का इतिहास अब कैसे बन सकता है ॥

प्राचीन संस्कृत साहित्य का गूढ़ दृष्टि से अवलोकन–राज तरङ्गिणी, महाभारत, रामायण, ऐतिहासिक काव्यों और पुराणों का आन्दोलन–शिला लेखों पर विचार-पुराने खण्डहरों तथा सिक्कों की परीक्षा–विदेशी यात्रियों की पुस्तकों का पाठ–ईरान मिश्र, कालडिया, चीन, यूनानादि देशों के प्राचीन इतिहासों का अवलोकन ॥

एक समय था जब कि, विदेशों में, राजाओं का वृत्तान्त और उन का वंश वर्णन ही इतिहास समझा जाता था। उस समय का इतिहासवेत्ता इस देश के एक साधारण भाट से कुछ अधिक न था। क्योंकि जीते हुए राजाओं का वर्णन, उन के पुरुषाओं के नाम तथा उन के पुत्र पुत्रियों की संख्या तथा उन के जन्म मरणादि तिथियों को स्मरण रखना वा लिख लेना ही साधारण भाटों का काम था। फ़िरिशता भी इसी कोटि का ऐतिहासिक था। परन्तु यह ऐतिहासिक विचार दीर्घ कालतक स्थिर न रहा। प्राचीन ग्रन्थों की आलोचना तथा प्रजातन्त्र शासन प्रणाली ने उक्त विचार को पलटा दे दिया। आज कल वह पुरुष विज्ञ इतिहासवेत्ता समझा जाता है जो किसी जाति की सामाजिक, शारीरिक, मानसिक, आत्मिक राजनैतिक तथा आर्थिक अवस्थाओं का वर्णन करे और इन विषयों में उस जाति के मनुष्यों की उन्नति अथवा अवनति के कारणों का पता लगावे।

आर्य्यों की अब भी अनेक ऐसी पुस्तकें उपस्थित हैं जिन में उन के संस्कारों तथा आचार व्यवहार का वर्णन है, यदि पूर्ण परिश्रम किया जाय तो यह पता लगाना भी कठिन नहीं है कि किन २ समयों में आर्यजाति में किस प्रकार के आचार का प्रधानत्व था अर्थात् किन २ संस्कारों सुविचारों वा कुविचारों और सुरीतियों वा कुरीतियों का राज्य था। इन तमाम परिवर्तनों को यदि वैज्ञानिक कारण कार्य्य शृंखला में जोड़ा जाय तो इतिहास का जो अब एक नया लक्षण बतलाया जाता है (जो वास्तव में अति प्राचीन और यथार्थ लक्षण है) तदनुसार भारत का इतिहास सम्पादित हो सकता है। केवल इतनी त्रुटि होगी कि विशेष २ घटनाओं के अन्तरों का काल निर्णित न हो सकेगा। अब आवश्यकता यह है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों, श्रौतसूत्रों, गृह्यसूत्रों, उपनिषदों, व्याकरणों, काव्यों, उपाख्यानों, पुराणों,

तन्त्रों, तथा अनेक कथाओं की खानों के अन्दर जो इतिहास की सामग्री उपस्थित हैं उन्हें कठिन श्रम से खोद कर निकालें और स्वच्छ धात को वालू और मट्टी से पृथक् कर पवित्र बनावें ।

काश्मीर के इतिहास राजतरङ्गिणी में अनेक घटनाओं का वर्णन तिथि सहित दिया हुआ है । इस इतिहास के अवलोकन से न केवल काशमीर का ही इतिहास ज्ञात होगा प्रत्युत समीपवर्ती देशों का वृत्तान्त भी अवगत होगा । और क्योंकि काशमीर अनेक बार भारत साम्राज्यान्तर्गत रह चुका है जिस से काशमीर राज्य के लिये भी अनेक प्रकार की आज्ञाएं साम्राज्य के मध्यवर्ती शासनकारी मण्डल से प्रचरित हुई होंगी अतएव उक्त पुस्तक के अवलोकन से उक्त समय के साम्राज्य के शासनकारी नियमों का भी कुछ पता लग सकता है ।

रामायण में केवल रघुवंश और अयोध्या प्रदेश का ही इतिहास वर्णित नहीं है प्रत्युत दक्षिणदेशस्थ वानर जाति, सिंहलद्वीपवासी आदि के भी सामाजिक, मानसिक और साधारण अवस्थाओं का एक सत्य चित्र खींचा हुआ है ।

महाभारत में भारत के अतिरिक्त, बिलोचिस्तान, अफ़ग़ानिस्तानादि अनेक देशों का भी वर्णन है ।

उक्त पुस्तकों की सहायता से पुराणों की वंशावलियों की जांच की जाय तो विशेष समयों का शृङ्खला रूप इतिहास भी बन सकता है ।

महाराज अशोक तथा अन्यान्य नृपतियों ने जो शिला लेख खुदवाए थे वह भी बड़े काम के हैं । इन शिला लेखों को मिस्टर फ्लीट ने एकत्रित कर पुस्तकाकार छपवा दिया है और उन के अर्थों को भी प्रकाशित कर दिया है ।

प्राचीन नगरों के जो खण्डरात इस समय पाए जाते हैं उन का निरिक्षण करने से भी विशेष ऐतिहासिक कालों के लोगों की सभ्यता का बड़ा ज्ञान प्राप्त हो सक्ता है । देहली में इन्द्रप्रस्थ दुर्ग की ड्योढ़ी की छत के पत्थर देख कर महाभारत के समय के लोगों की शिल्प क्रिया पर आश्चर्य होता है । अभी बंगाल के ज़िले बर्दवान के ग्राम सीताहट्टी में पृथिवी खोदते समय एक राजभवन के चिन्ह मिले हैं । इस राजभवन पर जड़ा हुआ १२ सेर सुवर्ण का एक पत्र मिला है जिस पर कई पंक्तियां खुदी हुई हैं । इन से पता लगता है कि इस राजभवन के निर्माता राजा नल थे, इत्यादि ।

बहुत से पुराने सिक्के भी आज कल मिलते हैं। उन के अवलोकन से राजाओं के कालनिर्णय में बहुत सहायता मिलसक्ती है।

समय २ पर यूनान चीनादि देशों के जो विदेशी यात्री भारत में आए उन्होंने यहां भ्रमण कर यहां का वृत्तान्त लिखा इन वृत्तान्तों से न केवल हमें उस समय का इतिहास ही ज्ञात होता है प्रत्युत उक्त वृत्तान्त आर्यों को उन अनुचित आक्षेपों से भी बचाते हैं जो मुसलमान ऐतिहासिकों ने साम्प्रदायिक पक्षपात के वशीभूत हो उन पर किये हैं। यदि इस समय केवल मुसलमान ऐतिहासिकों के ही लेख होते तो अनेक इतिहासवेत्ता मुसलमानों के लेखों पर ही विश्वास कर लेते परन्तु अब उक्त निष्पक्ष विदेशियों की सम्मति उपस्थित होने से इतिहास का एक निष्पक्ष विद्यार्थी सम्मतियों का सम्मेलन कर के सत्य और असत्य की परीक्षा कर सकता है। इन यात्रियों में से कतिपय का अति संक्षिप्त वृत्तान्त निम्नलिखित है :—

मेगस्थनीज़—यह महाशय सैलूकस निकैटोर की ओर से राजप्रतिनिधि बन कर महाराज चन्द्रगुप्त के दर्बार में आया था। यह जितने वर्षों तक यहां रहा भारत की रीति नीति को सूक्ष्म दृष्टि से देखता और लेखबद्ध करता रहा। परन्तु शोक कि भारत के विषय में जो पुस्तक उस ने लिखी वह पूर्णतः नहीं मिलती। उस पुस्तक के प्रमाणों को अन्यान्य यूनानी ऐतिहासिकों ने अपने २ ग्रन्थों में जो उद्धृत किये हैं वही भाग अब मिलते हैं। इन सब भागों को एकत्रित कर महाराज विक्रमादित्य के सम्वत् १८९३ में महाशय श्वेन बैंक ने "मेगस्थनीज़ इंडिया" के नाम से पुस्तकाकार छपवा दिया था। और सम्वत १९३४ में उक्त भागों का अनुवाद अंग्रेज़ी भाषा में महाशय मैकेंडल ने "एंशंट् इंडिया, ऐज़ाडिस्क्राइब्ड् बाइ मेगस्थनीज़ एंड ऐरियन" नाम से छपवाया था। मेगस्थनीज़ महाराज विक्रमादित्य से २०६ वर्ष पूर्व भारत में आया था इसके लेखों से भारतवर्ष की उस समय की मानसिक, सामाजिक, राजनैतिक और आत्मिक अवस्थाओं का परिज्ञान होता है।

फ़ाहियान—यह चीनी यात्री सम्वत् ४५७ विक्रमीय में तीर्थ यात्रा के लिये भारत में आया था। उस ने उद्यायन (काबुल) स्वात, गान्धार, तक्षशिला, पिशावर, मथुरा, कोशल, विशाली, लङ्कादि अनेक प्रदेशों तथा नगरों को देखा था। बौद्ध सम्प्रदाय और उन के साधुवों तथा नेताओं के विषय में यह यात्री विशेष लिखता है अतएव इस की बातें उक्त विषय में हमारे लिये बहुमूल्य हैं।

ह्यूनसैन—यह भी एक चीनी यात्री था । सम्वत् ७८६ विक्रमीय में यह भारत में आया था इस ने प्रायः संपूर्ण भारत में भ्रमण किया और यहां के भूगोल इतिहास और धर्म्म के विषय में एक पुस्तक लिखा जिस का नाम "टंटागसीपृकी" है । इस पुस्तक का अनुवाद लण्डन युनिवर्सिटी कालेज के चीनी भाषा के प्रोफ़ेसर बील साहब ने अंग्रेज़ी भाषा में कर दिया है जिस के अवलोकन से प्रायः सम्पूर्ण भारत का उस समय का वृत्तान्त ज्ञात होता है ।

अलबरूनी या अब्बूरेहान—इस का जन्म मध्य एशिया के खीवा नगर में सम्वत् १०३० में हुआ था यह भारतवर्ष में कई वर्षों तक घूमता रहा । इस ने महमूद ग़ज़नवी के आक्रमण तथा उस समय की भारतीय सभ्यता के विषय में एक बड़ा ग्रन्थ लिखा है जिस के प्रत्येक पृष्ठ से सविशेष निष्पक्षता टपकती और उस समय की सामाजिक तथा विद्या सम्बन्धी दशाओं का पता लगता है । इस का अनुवाद भी डाक्टर एडवर्ड सेचा ने प्रकाशित कर दिया है ।

बर्नियर—यह फ़रांसीसी यात्री सम्वत् १६८२ विक्रमीय में उत्पन्न हुआ था, मिश्र और पैलस्टाइन देशों में भ्रमण कर औरंगज़ेब के राज्य समय भारत में आया था । बारह वर्ष तक यह औरंगज़ेब का डाक्टर (चिकित्सक) बना रहा और उस समय के भारत तथा मुग़लराज्य के विषय में एक पुस्तक लिखता रहा इस ने अपनी सम्पूर्ण यात्रा का वृत्तान्त जो लिखा है उस से अन्यान्य अनेक विषयों के ज्ञानातिरिक्त, मुग़लराज्य का संक्षिप्त वृत्तान्त, तथा औरंगज़ेब के समय का विस्तृत वृत्तान्त ज्ञात होता है ।

टैवर्नियर—यह फरांसीसी यात्री सम्वत् १६६२ में फ्रांस देश की राजधानी पेरिस में पैदा हुआ था । इस का पिता भूगोल विद्या का बड़ा प्रेमी था और प्रायः अपने छोटे भाई तथा अन्यान्य पुरुषों के साथ भूगोल सम्बन्धी वार्ताएं किया करता था । इस संस्कार ने टैवर्नियर पर ऐसा प्रभाव डाला कि वह १६ वर्ष की अवस्था से ही विदेश यात्रा करने लगा । फ्रांस के आस पास के देशों की यात्रा कर तथा रूस और फ़ारस में भ्रमण कर संम्वत १६९८ में वह भारत में आया जिस समय कि बादशाह शाहजहां दिल्ली के राज सिंहासन पर विराजमान था इस यात्रा में उस ने आगरा, बुरहानपुर, सूरत, गोवा, गोलकुण्डा तथा ढाकादि भारत के नगरों को देखा और प्रायः दो वर्ष भ्रमण कर फ़ारस होता हुआ पेरिस को लौट गया । सम्वत्

१७०२ में वह पुनः भारत के सूरत नगर में पहुंचा और दौलताबाद, नान्दर होता हुआ गोलकुण्डा पहुंचा । इस समय गोलकुण्ड के अतिरिक्त रावल कुण्डा तथा साउमेलपुर की खानों से भी हीरे निकलते थे जिन स्थानों को उस ने अवलोकन किया इस वार प्रायः एक वर्ष तक भारत में रह कर टैवर्नियर फ़ारस को चला गया । वहां से सम्वत् १७०५ में वह पुनः भारत को लौटा और भारत के पाश्चिमीय सीमा में कुछ काल भ्रमण कर यवद्वीप को गया और वहां से फिर अपने जन्म स्थान को लौट गया । पुनः अनेक देशों की यात्रा करता हुआ फ़ारस के बन्दर अब्बास में वह सम्वत् १७०८ में पहुंचा और वहां गोलकुण्डा के भारतीय जहाज़ पर सवार होकर भारत के लिये रवाना हुआ, मुसलीपट्टम में उतर कर और वहां से मद्रास गोलकुण्डा सूरत, अहमदाबाद, औरंगाबाद में घूम कर प्रायः सम्वत् १७१० में भारत से फ़ारस होता हुआ अपनी जन्म भूमि को लौट गया । सम्वत् १७१६ में वह पुनः भारत में आया जब कि औरंगज़ेब दिल्ली में राज्य कर रहा था । शाइस्ताख़ां से इस यात्रा में उस की विशेष मैत्री हो गई और गोलकुण्डे की हीरे की खानों को उस ने भली भांति देखा इस वार प्रायः एक वर्ष में ही वह भारत से लौट गया । सम्वत् १७२२ में वह पुनः सूरत पहुंचा और यहां से बुरहानपुर, सीरोंज और ग्वालियर होता हुआ औरंगज़ेब की सेवा में आगरा पहुंचा औरंगज़ेब के हाथ इस ने अनेक बहुमूल्य रत्न (जवाहरात) बेचे और बादशाह के अनेक रत्नों के साथ प्रसिद्ध हीरा कोहनूर को भी अवलोकन किया । वर्नियर नामक प्रसिद्ध फ़रांसीसी डाक्टर भी उसे यहीं मिला और उस के साथ आगरा से बंगाल की ओर रवाना हुआ । मार्ग में इलाहाबाद, बनारस, पटना, राजमहलादि नगरों को देखता हुआ ढाका पहुंचा जहां अपने पुराने मित्र शाइस्ताख़ां के हाथ अनेक रत्न बेचे । क़ासिम बाज़ार होता हुआ वह पटने वापिस आया जहां सूर्य्य ग्रहण की घटना को उस ने अवलोकन किया । इस यात्रा में उसे ठीक २ ज्ञात हो गया कि योरोपीय लोग किस किस प्रकार भारत में अपनी २ ज्येष्ठता संस्थापन के लिये उचित और अनुचित उपायों का अवलम्बन कर रहे हैं। सम्वत् १७२४ में वह भारत से फ़ारस देश होता हुआ अपनी जन्म भूमि को लौट गया । इस प्रकार प्रायः ४० वर्षों तक यह यात्री विदेशों में घूमता रहा । और विविध प्रकार के रत्नों के वाणिज्य से लक्षों रुपये एकत्रित कर अपने जीवन के शेष भाग को शान्ति सहित व्यतीत करने की इच्छा से फ्रांस देश में ठहर गया । प्रायः इक्कीस वर्षों तक यह शान्ति सहित रह सका और

इसी समय में उस ने अपनी कुल यात्रा के वृत्तान्तों को फ़रांसीसी भाषा में प्रकाशित किया । सम्वत् १७४६ में जब कि यह वृद्ध हो गया था इसे पुनः पूर्वीय देशों की ओर रवाना होना पड़ा परन्तु जब कि वह रूस की राजधानी मास्को तक ही पहुंचा था उस का थका हुआ आत्मा शरीर पञ्जर को परित्याग परलोक को पयान कर गया । टैवर्नियर के भारत भ्रमण का वृत्तान्त " वी, बाल " साहब ने अंग्रेज़ी भाषा में छपवाया है जिस के अवलोकन करने से भारतीय इतिहास की तत्कालीन अनेक बातें ज्ञात होती हैं ।

इब्नबतूता—इस का जन्म अफ्रिका के तंजीरप्रदेश में सम्वत् १३६१ में हुआ था । यह मूर जाति का मुसलमान था । अफ्रीका के उत्तरीय भागों, पालिस्टाइन, फ़ारसादि देशों में घूमता हुआ सम्वत् १३९० में यह भारत में आया जिस समय दिल्ली में मुहम्मद तुग़लक राज करता था । मुहम्मद तुग़लक ने इसे दिल्ली का क़ाज़ी बनाया जिस पद पर यह आठ वर्ष तक काम करता रहा, अन्त में बादशाह की आज्ञा से यह सम्राट् चीन के दर्बार को रवाना हुआ खम्भात की खाड़ी से नौका पर सवार हो इसे चीन जाना था । अतएव यह दिल्ली से खम्भात की ओर चला इस मार्ग का वृत्तान्त इस ने विस्तारपूर्वक लिखा है, खम्भात से नौका पर कलीकट आया यहां से चीनी नौका पर सवार होने ही को था कि इतने में उसे ज्ञात हुआ कि वह सब नौकाएं जिन पर चीन सम्राट् के लिये मुहम्मद तुग़लक के भेजे हुए उपहार लदे हुए थे डूब गए । इस कुसमाचार को इस ने दिल्ली पहुंचाना उचित न समझा और दक्षिण भारत के अनेक स्थानों, मालद्वीप तथा लंका में घूम कर बङ्गाल में पहुंचा वहां से सुमात्राद्वीप और वहां से चीन को गया । चीन से लौटते हुए सुमात्रा, मालाबार, ओमन, फ़ारसादी में घूमता हुआ पुनः अपनी जन्मभूमि तंजीर प्रदेश के फ़ैज़नगर में आगया । यहां से पुनः चल कर स्पेन और अफ्रिका में घूमता रहा जब कि इस के सुलतान ने इसे अपनी राजधानी में बुलवाया और अपने मन्त्री इब्नुजुज़ाई के द्वारा इस की यात्रा का पूर्ण वृत्तान्त लिखवा लिया । सम्वत् १४३४ में यह यात्री मरा । उक्त यात्रा वृत्तान्त का अनुवाद फ़रांसीसी भाषा में हो गया है । इस में भारत का जो वृत्तान्त है उस से उस समय की भारतीय दशाओं का पता लगता है ।

इन के अतिरिक्त भारतवर्ष के इतिहास निर्माण में अन्यान्य देशों के प्राचीन इतिहासों से भी सहायता मिल सकती है । मिश्र, ईरान, बेबिलोनिया, कैल्डिया, रोमा, यूनान

होते रहे हैं तथा उन सब असह्य दुराग्रहों एवं पक्षपातों पर ध्यान दें जिन्हें कि महमूद के अनेक उत्तराधिकारियों ने दिखलाया तो पता लगेगा कि हिन्दुओं का जातीय इतिहास इतना कम क्यों मिलता है और इस दुर्घट परिणाम पर भी पहुंचना नहीं पड़ेगा कि हिन्दू उस (ऐतिहासिक) कला से अनभिज्ञ (नावाक़िफ़) थे जिस का अनुशीलन अन्यान्य देशों में अति प्राचीन काल से हो रहा है । क्या यह सम्भव है कि हिन्दुओं जैसी उच्च सभ्यता को प्राप्त जाति जिन में विविध यथार्थ विज्ञान पूर्णोन्नत और सुप्रचारित हो चुके हों, जिन्होंने भवन निर्माण, शिल्प कविता, संगीतादि सुन्दर कलाओं का अनुशीलन एवं उन के सूक्ष्म लक्षणों को निश्चित कर उन की शिक्षा सुन्दरतम विस्तृत नियमों के साथ अन्यों को दी हो, वह ऐतिहासिक घटनाओं, अपने राजाओं के चरित्रों, और उन के राज्य शासन सम्बन्धी कार्य्यों को अङ्कित करने जैसी साधारण कला से सर्वथा अनभिज्ञ (नावाक़िफ़) हों ? यह विश्वसनीय नहीं कि जहां ऐसी मानसिक शक्तियां वर्तमान थीं वहां उन विविध घटनाओं के सुलेखक न थे जो उस समय के माननीय विदेशीय ऐतिहासिकों के मतानुसार अङ्कित और प्रसिद्ध करने योग्य थीं । हस्तिनापुर ‘इन्द्रप्रस्थ, अनहलवारा और सोमनाथ नगर दिल्ली और चित्तौर के जय–स्तम्भ, आबू और गिरनार के मन्दिर, तथा एलिफैंटा और इलोरा की गुफाएं इस विषय की साक्षियां हैं । भला यह कौन मान सकता है कि उस समय जब कि उक्त महान् निर्माण निर्मित हुए एक भी भारतीय ऐतिहासिक वर्तमान न था ? तथापि महाभारत के समय से अलेकज़ेंडर (सिकन्दर) की चढ़ाई समय तक का तथा इस महती घटना से महमूद ग़ज़नवी के समय तक का शुद्ध स्वदेशीय इतिहास का एक अत्यल्प भाग विच्छेद (पैराग्राफ़) भी सिवाय उसके (जिस का वर्णन हम ऊपर कर आए हैं) पाश्चात्य विद्वानों की जिज्ञासा के सन्मुख प्रकट नहीं किया गया । कविचन्द निर्मित वीरभावपूरित दिल्ली के अन्तिम हिन्दू सम्राट पृथिवीराज विषयक इतिहास में अनेक ऐसी सूचनाएं आती हैं जिन से अनुमान होता है कि चन्द कवि के इतिहास की तरह अन्य कई पुरुषों के बनाए इतिहास भी विद्यमान थे जिन में महमूद और शहाबुद्दीन के बीच के समय १००० एक सहस्र से ११९३ ईसवी तक का इतिहास प्रस्तुत था । परन्तु अब ये इतिहास कहीं भी नहीं मिलते । जब कि आठ शताब्दियों तक हिन्दू लोग ऐसे विजेताओं के आधीन रहे जो उन की प्राचीन भाषा (संस्कृत) से सर्वथा अनभिज्ञ थे, जब कि प्रायः प्रत्येक हिन्दू राजधानी पर बारम्बार

चढ़ाई कर असभ्य, दुराग्रही, विद्वेषी तथा क्रुद्ध शत्रुओं ने उन्हें बारम्बार लूटा, तदनन्तर यह आशा करनी कि भारतीय साहित्य को वह अपोणय हानि नहीं पहुंचनी चाहिये थी जो उस के अन्यान्य उपयोगी स्वत्वों को पहुंची, सर्वथा व्यर्थ है। मैं स्वयम् जब कभी राजवाड़ा के इतिहास पर विवेचन करता हुआ उसे त्रुटियुक्त बतलाने की चेष्टा करता था तो मुझे उस चेष्टा से कई बार इस न्याययुक्त कथन द्वारा रोक दिया जाता था कि हमारे नृपतिगण जब कि व्रजनावस्था को प्राप्त थे अर्थात् जब कि उन्हें एक दुर्ग से दूसरे दुर्ग में भागना पड़ता था, जब कि उन्हें पर्वतों की कन्दराओं में गुप्तरीति से रहना पड़ता था जब कि यह भी ठिकाना नहीं था कि जो भोजन उन के लिये तय्यार होरहा है उसे वह खा सकेंगे या नहीं, ऐसे समय में क्या कोई ऐतिहासिक घटनाओं को अङ्कित करने की ओर ध्यान लगा सकता था ?"

भारतीय ऐतिहासिक परिज्ञान वृद्धि के विषय में प्रसिद्ध ऐतिहासिक महाशय विंसेंट, ए, स्मिथ अपने इतिहास "अर्ली हिस्ट्री आफ़ इंडिया" के पृष्ठ ८, ९ तथा १० में लिखते हैं:—

* "संस्कृत के विशेष विद्वानों ने वैय्याकरणों और दूसरे ग्रन्थकर्त्ताओं की पुस्तकों से प्राचीन लोक-कथा के विषय में नैमित्तिक निर्देश निकाले हैं जोकि मिल-

---

*Sanskrit specialists have extracted from the works of grammarians and other authors many incidental references to ancient traditions, which collectively amount to a considerable addition to historical knowledge...... ....The most systematic record of Indian historical tradition is that preserved in the dynastic lists of the Puranas. Five out of the eighteen works of this class, namely the Vayu, Matsya, Vishnu, Rrahmanda and Bhagwat contain such lists. The Brahmanda and Bhagwat Puranas being comparatively late works, the lists in them are corrupt, imperfect, and of slight value. But those in the oldest documents the Vayu, Matsaya and Vishnu, are full, and evidently based upon good authorities... ....Modern European writers have been inclined to disparage unduly the authority of the Puranic lists's but closer study finds in them much genuine and valuable historical tradition. For instance, the Vishnu Purana gives the outline of the history of the Maurya dynasty with a near approach to accuracy, and the Radcliffe manuscript of the Matsyu is equally trustworthy for Andhra History. Proof of the surprising extent to which coins and inscriptions confirm the Matsya list of the Andhra kings has recently been published (Early History of India by V. A. Smith P. 8, 9 and 10.)

कर हमारे ऐतिहासिक परिज्ञान को बहुत बढ़ाते हैं..........................
भारतीय ऐतिहासिक लोक-कथा का क्रमानुगत लेख पुराणों की वंशावलियों में सुरक्षित है अठारह पुराणों में से पांच अर्थात् वायु, मत्स्य, विष्णु, ब्रह्माण्ड और भागवत में ऐसी वंशावलियां हैं। ब्रह्माण्ड तथा भागवत पुराण क्योंकि अन्यों की अपेक्षा पीछे बने हैं अतः इन में जो वंशावलियां दी हुई हैं वे भ्रष्ट, अपूर्ण और अत्यल्प मूल्य की हैं परन्तु जो वंशावलियां सब से पुराने पुराणों में अर्थात् वायु, मत्स्य और विष्णु में हैं वे पूर्ण और साधारणतः अच्छे प्रमाणों पर आरोपित हैं। ....
नवीन योरोपीय इतिहास वेत्ता पौराणिक वंशावलियों के प्रमाणों को अनुचित रीति से तिरस्कृत करना चाहते हैं। परन्तु विशेषावलोकन से पता लगता है कि उनमें बहुत सी सच्ची और बहुमूल्य लोक कथाएं हैं। एक दृष्टान्त लीजिये। विष्णुपुराण में मौर वंश के इतिहास का स्थूल वर्णन है जोकि प्रायः यथावृत है। मत्स्य पुराण का हस्त-लेख जो "रैडक्लिफ" ने प्राप्त किया है उसी प्रकार से अन्धरा वंश के इतिहास के लिये विश्वासपात्र है। अन्धरा राजाओं की जो वंशावलि मत्स्यपुराण में दी हुई है, सिक्के और शिला लेख जिस आश्चर्यजनक प्रकार से उस का अनुमोदन करते हैं उस का प्रमाण थोड़ी देर हुई प्रकाशित किया जा चुका है।"

प्रसिद्ध भारतीय ऐतिहासिक कल्हन की राज तरङ्गिणी का जो अनुवाद "डाक्टर स्टाइन" ने किया है उसकी विस्तृत समालोचना करते हुए "महाशय, एच, ब्रूस" ईस्ट एंड वेस्ट नामक मासिक पत्र के नवम्बर १९०६ ई० के अङ्क में एक स्थान पर ऐसा लिखते हैं:—

* "जैसा कि डाक्टर स्टाइन कहते हैं एक मात्र प्रचरित इतिहास जो इस समय मिलता है, जिसे संस्कृत साहित्य ने उत्पन्न किया है और जिसमें एक सच्चे इतिहास

---

* Kalhana's work is, as Dr. Stein says "practically the sole extant product of Sanskrit literature possessing the character of a true Chronicle." This has always, or at least since Europe discovered Indian literature, given to it a peculiar interest and importance. Kalhan by a *tour de force* or by what must be called a miracle of genius managed to attain to a real historic sense. He writes at the beginning: "That noble minded poet is alone worthy of praise whose word, like that of a Judge, keeps free from love or hatred in relating the facts of the past." This too, was in the twelfth century, when such a sense of accuracy had entirely disappeared in Europe. (East and West, Vol. V. No. 61, November 1906 P. 1090—91.)

के गुण विद्यमान हैं, कल्हन का ग्रन्थ है । इस ऐतिहासिक गुण ने बराबर अथवा कम से कम उन समय से जब कि यूरोप ने भारतीय साहित्य का ज्ञान प्राप्त किया, कल्हन के इतिहास को विशेष रुचिकर आलोचना तथा प्रसिद्धि का पात्र बना दिया है । कल्हन ने एक विचित्र शक्तिमत्ता से अथवा जिसे हमें बुद्धि का आश्चर्य्यमय कौशल कहना पड़ता है उसके द्वारा वास्तविक ऐतिहासिक ज्ञान का प्राप्त कर लिया था । कल्हन (अपने ग्रन्थ के) आरम्भ में ही लिखता है "केवल वही धर्म्मात्मा कवि प्रशंसा के योग्य है जिस का वचन एक न्यायाधीश की नाईं भूत कालीन घटनाओं के वर्णन करने में राग द्वेष से पृथक् रहता है" और यह लेख बारहवीं शताब्दि का जब कि ऐसे याथातथ्य वर्णन की बुद्धि यूरोप से सर्वथा विलुप्त हो गई थी ।"

चाहे महाशय एच ब्रूस कल्हन की बुद्धि को विचित्र अथवा आश्चर्य्यमय बतलावें परन्तु हम तो यही कहेंगे कि कल्हन के पूर्व अनेक ऐतिहासिक भारत में हो चुके थे जिनके ग्रन्थों के अवलोकन से कल्हन ने वास्तविक ऐतिहासिक बुद्धि प्राप्त की थी । यह कभी माना ही नहीं जा सकता कि राजतरङ्गिणी में सम्पूर्ण वह गुण हों जो डाक्टर स्टाइन बतलाते हैं यदि साथ ही यह भी न माना जाय कि उस से पूर्व अनेक ऐतिहासिक पुस्तकें लिखी गई थीं । पश्चिमी लेखकों ने अपने मन में यह विचार स्थिर कर रक्खा है कि प्राचीन आर्य्य असभ्य थे जब कभी उन के इस प्रिय विचार के विरुद्ध कोई प्रमाण संस्कृत ग्रन्थों से मिलता है तो वे चकित हो जाते हैं और कल्हन ने जो शिक्षा इतिहासवक्ताओं को प्रदान की है तदनुकूल आचरण न करते हुए राग द्वेष और पक्षपात में फंसकर आग्रह किये जाते हैं और ऐसे प्रमाणों को यातो टालना चाहते हैं अथवा उनके वास्तविक अर्थों को पलटने का यत्न कर उस की महानता को तिरस्कृत कर देते हैं । यह एक विचित्र दुर्भाग्य है कि ऐसे देश का भूत काल इतिहास शून्य समझा जाता है जहां वेदों अनेक प्राचीन आर्ष ग्रन्थों तथा लोक कथाओं को सहस्रों वर्षों से गुरु से शिष्य प्राप्त करते आते हैं । और जहां क्रमशः एक प्रसूति के पश्चात् दूसरी प्रसूति अपनी स्मरण शक्ति के बल से सैकड़ों ग्रन्थों को कण्ठस्थ रखती आती है और इस कण्ठस्थ रखने को धर्म्म समझती हुई उसे एक बहुमूल्य पैतृक धन समझ रही है । क्या इन ग्रन्थों से भारत के इतिहास का कुछ भी पता नहीं लगता ? अवश्य लगता है, और वह समय विशेष दूर नहीं है जब कि इन ग्रन्थों के अनुशीलन से भारत का एक सामान्य इतिहास अवश्य बन जायगा ।

चतुर्थ परिच्छेद

वेद

भारतवर्षीय इतिहास के सम्बन्ध में इस विषय का महत्व ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यक्ता—वेद के ईश्वरीय ज्ञान होने में युक्तियां-इस प्रश्न पर पाश्चिमी विद्वानों का सम्भ्रम।

"वर्त्तमान सृष्ट्यारम्भ के पूर्व भी वेद विद्यमान था, क्योंकि यह सनातन ईश्वर का सनातन ज्ञान है अतः यह संसार मात्र के लिये है" ऋषि सन्तानों का ऐसा ही विश्वास है। आर्य्य लोग मानते हैं कि वेद को किसी मनुष्य वा मनुष्यों ने नहीं बनाया इसी कारण इस में किसी प्रकार का इतिहास नहीं है।

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब ग्रन्थकर्त्ता का ऐसा विश्वास है तो फिर एक देश विशेष के इतिहास में वेद विषय पर लिखने की क्या आवश्यकता है। इस का उत्तर यह है कि योरोपियन इतिहासवेत्ता वेद को प्राचीन आर्य्यों का प्रारम्भिक इतिहास मानते और उस से ऐतिहासिक घटनायें निकालते हैं इस लिये आवश्यक है कि भारतवर्ष के ऐतिहासिक प्रश्नों को हल करते समय इन दोनों पक्षों पर भी विचार किया जावे। वास्तव में इन दोनों पक्षों में इतना विरोध है कि एक को स्वीकार करने वाले का प्राचीन आर्य्यवर्त के विषय में ऐतिहासिक दृष्टि विंदु दूसरे पक्ष के मानने वाले के दृष्टि विंदु से सर्वथा विपरीत हुए बिना नहीं रह सकता आर्य जाति का विश्वास है कि वेद सम्पूर्ण मानसिक, अध्यात्मिक तथा प्राकृतिक विद्याओं का भण्डार है, प्राचीन साहित्य, दर्शनशास्त्र, ज्योतिष, आयुर्वेद, धनुर्वेद, विविध विज्ञान ये सब के सब वेद का ही आश्रय लेते हैं। इस के विपरीत यूरोपीय विद्वान् वेद को "बच्चों की बलबलाहट" बतलाते हैं और कहते हैं कि जिन ऋषियों ने इन्हें बनाया, वे असभ्य और सीधे थे, जब किसी नवीन दृश्य को देखते थे तो उन के हृदय आह्लाद और मन आश्चर्य्य से भर जाते थे और अपने इन मानसिक भावों का विकाश वे ग्रामीण रस युक्त कविता में प्रकाशित करते थे। जिन कविताओं का नाम वेद है वे तत्वपूजा विषयक हैं। वैदिक समय के पश्चात् देश में क्रमशः सुशिक्षा और सभ्यता का प्रचार हुआ। वैदिक समय की शिक्षा ग्रामीण प्रकार की थी, मनु के समय वह सभ्यता संकुल हुई इत्यादि। इतिहास का विद्यार्थी जब वैदिक समय की सभ्यता का पता लगाने

लगता है तो उस के सन्मुख उक्त दो प्रकार की सम्मतियां उपस्थित होती हैं और वह सन्देह में पड़ जाता है कि इन दो परस्पर विरुद्ध सम्मतियों में से किस को उचित और किस को अनुचित मानें। अतः आवश्यकता है कि हम उक्त दोनों प्रकार के विचारों की पूरी परीक्षा करें।

वेद के ईश्वरीय ज्ञान होने के विषय में विचार नहीं हो सकता जब तक कि " ईश्वरीय ज्ञान " की आवश्यकता सिद्ध न की जाय। कई पुरुष भ्रम में पड़ कर ऐसा कहने लगते हैं कि मनुष्य बिना किसी उच्च शक्ति की सहायता के ही क्रमशः अपनी उन्नति कर लेता है और पूर्ण सभ्य बन जाता है। इन का कथन कहां तक ठीक है इस का विवेचन भी साथ ही हो जाना चाहिये।

संसार का अनुभव हमें बतलाता है कि बालक कभी उन्नति नहीं कर सकता जब तक कि उसे कोई विद्वान् शिक्षा न दे। इस विषय पर मुग़ल बादशाह अकबर तथा असीरिया के महाराज असुर बाणीपाल (Asur Banipal) (जिसे यूनानी साडैना पैलस कहते थे) ने विशेष प्रकार से विचार किया था महाराज असुरबाणीपाल ने एक बालक को मनुष्यों के प्रायः सब प्रकार के संस्कारों से बचाने के लिये एक जंगल में बारह वर्ष तक रक्खा था ताकि उसे मानुषी भाषा ज्ञात न हो उस बालक की सेवा के लिये भी गूंगी तथा बहरी स्त्रियां नियत की गई थीं। बारह वर्ष के पश्चात् जब वह बालक महाराज असुर बाणीपाल के दर्बार में लाया गया तो वह मानुषी भाषा बोल न सकता था केवल बकरे की तरह में में करने लगा। अनुसन्धान करने पर ज्ञात हुआ कि यह बालक जंगल में जहां रहता था वहां एक बकरी बंधी रहती थी उसी से बालक ने में में करना सीख लिया। अकबर ने भी इसी प्रकार परीक्षा की थी और उस परीक्षा का परिणाम भी वही निकला था।

कई वर्ष हुए कि आर्य्य अनाथालय बरेली में एक बालक लाया गया था जो कच्चा मांस खाता था और भेड़िये की तरह चलता था। अनुसन्धान करने पर ज्ञात हुआ कि इस बालक को भेड़िया उठा ले गया था और उसी ने इसे पाला था यदि वह अनाथालय में न लाया जाता तो कुछ दिनों में वह भेड़िये के सब दुर्गुण सीख लेता और उस में मनुष्यता बिलकुल न आती।

इन दृष्टान्तों से सिद्ध होता है कि मनुष्य स्वयम् कभी उन्नति नहीं कर सकता जब तक कि उसे कोई शिक्षक न मिले। बुद्धि अपने आप उन्नत नहीं होती। बुद्धि

का बहिरङ्ग ज्ञान के साथ वैसा ही सम्बन्ध है जैसे कि दियासलाई का अग्नि के साथ । दियासलाई में जलने की शक्ति तो होती है परन्तु जब तक उस को अग्नि अथवा रगड़ के द्वारा उष्णता नहीं पहुंचाई जाती वह जल नहीं सकती । इसी प्रकार बुद्धि में ज्ञान धारण शक्ति तो है परन्तु जब तक उस का सम्बन्ध किसी ज्ञानी के साथ न हो बुद्धि में ज्ञान आ नहीं सकता । अब विचारना यह चाहिये कि वर्तमान सृष्टि के आरम्भ में जब सब मनुष्य बुद्धि में बालक के समान थे और आज कल की तरह एक दूसरे को शिक्षा नहीं दे सकते थे तो ज्ञान का आरम्भ किस प्रकार हुआ । निश्चय है कि मनुष्यों की अपेक्षा किसी उच्च चैतन्य शक्ति ने उन्हें ज्ञान दिया होगा । परन्तु वह उच्च चैतन्य शक्ति परमात्मा के विना कोई अन्य सिद्ध नहीं हो सकती अतः सिद्ध हुआ कि परमात्मा ने ही इस सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यों को ज्ञान दिया । यदि वह ज्ञान न देता तो मनुष्य भी पशुओं के समान ज्ञान हीन होते अथवा पशुओं की तरह इन में भी केवल नैसर्गिक सहज बुद्धि होती। आज कल कोई नहीं देखता कि बन्दर अपने आप किसी प्रकार की उन्नति करता ही नहीं ऐसा सुनने में आता है कि आज से ५०० पांचसौ वर्ष पूर्व बन्दरों की जो अवस्था थी उस में किसी प्रकार का परिवर्तन हुआ हो । बन्दरों की बात तो दूर रही आज कल भी ऐसी मनुष्य जातियां उपस्थित हैं जो पहले कभी सभ्य थीं और फिर गिरगई क्योंकि अन्य सुशिक्षित जातियों में से इन में शिक्षकों का आना बन्द होगया ऐसी गिरी हुई जातियां जो शताब्दियों से दुरावस्था को प्राप्त हैं वह भी अभी तक स्वप्रयत्न से उच्चावस्था को प्राप्त नहीं हुई । एक पतित जाति अन्दामन द्वीप में निवास करती है जिस का नाम निग्रेटा है । इन लोगों में कोई लिपि नहीं है । न ये कपड़े बुनना जानते और न सीना और न खेती ही कर सकते हैं । इन्हें लोहा, पीतलादि धातों का प्रयोग बिलकुल नहीं आता । आग इन के यहां बराबर जलती र-रहती है । जब एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते हैं जलती हुई आग अपने साथ ले जाते हैं । उन में ऐसा कदाचित् ही कोई मनुष्य होगा जो दश तक गिन सके । किसी प्रकार यदि कोई पांच तक भी गिन ले तो वह गणितज्ञ माना जाता है । वे कपड़े नहीं पहनते कभी २ पत्तों से शरीर ढक लेते हैं । वे न तो ईश्वर की प्रार्थना करते और न किसी प्रकार की पूजा परन्तु ऐसा विश्वास रखते हैं कि एक कोई परमात्मा है जो लोगों को दण्ड देने के लिये जल प्लावन भेजा करता है । उन का यह भी विश्वास है कि समुद्र और नदियों के भिन्न भिन्न देवता हैं परन्तु इन देवताओं

की आराधना का कष्ट वे कभी नहीं उठाते। इन के भीतर न कोई इतिहास है और न कोई लंबी चौड़ी लोक कथा, शनैः २ इस जाति का नाश हो रहा है।

यदि स्वभावतः उत्तरोत्तरोन्नति का विचार ठीक है अर्थात् मनुष्य जाति स्वयम् बिना किसी अन्य महान् चेतन की सहायता के उन्नति कर सकती है तो क्या कारण कि उक्त निगरेटा जाति शताब्दियों से हीनावस्था में पड़ी रही और उस ने किसी भी प्रकार की उन्नति नहीं की।

अतः ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता सिद्ध हो गई। अब यह विवेचनीय है कि ईश्वरीय ज्ञान है कौन सा?

आर्य्यावर्त्त के प्राचीन ऋषि मुनि तथा वर्त्तमान समय के क्रोड़ों पौराणिक भी "वेद" को ईश्वरीय ज्ञान मानते आए और मानते हैं, पारसी, लोग "ज़िन्द अवस्था" को वेद मानते हैं, ईसाइयों का मत है कि बाइबिल ईश्वरीय ज्ञान की पुस्तक है, मुसल्मानों का यह सिद्धान्त है कि कुरान ईश्वरीय ज्ञान है। यह सब कथन तो ठीक हो नहीं सकते अतः कुछ ऐसी परीक्षाएं नियत करनी चाहियें जिन से उक्त कथनों के सत्यासत्य का निर्णय हो सके।

परीक्षाएं

(क) **ईश्वरीय ज्ञान** का पहला लक्षण यह है कि वह अपने आप को ईश्वरीय ज्ञान कहे अर्थात् उस के नाम से यह टपके कि वह ज्ञान है न कि पुस्तक। पुस्तक बनाने वाला मनुष्य हो सकता है न कि परमात्मा। परमात्मा साकार तो है ही नहीं कि वह बैठ कर पुस्तक लिखेगा, वह तो केवल हृदयों में ज्ञान का प्रकाश करता है।

ज़िन्द अवस्था का अर्थ है " पवित्र लेख की व्याख्या " अतः इस शब्दार्थ से सिद्ध होता है कि किसी धर्मात्मा पुरुष ने इसे लिखा है।

"बाइबल" शब्द यूनानी धातु "बिब्लिया" से निकला है जिस का अर्थ बहुत सी पुस्तकें हैं। बाइबल के दो भागों के नाम ओल्डटेस्टामेण्ट और न्युटेस्टामेण्ट हैं जो लातिनी धातु " टेस्टर " से निकलता है जिस का अर्थ साक्षी हो है। अतः इन धात्वर्थों से हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि बहुत सी पुस्तकों को जमा करके बाइबल बनाई गई थी और उसमें जिन २ घटनाओं का वर्णन है उस के लिये

साक्षी भी एकत्रित की गई थी । अस्तु इस के नाम से तो यही सिद्ध होता है कि यह मनुष्यकी बनाई हुई है, ईश्वर की नहीं । ईश्वर निराकार सर्वव्यापक और सर्वज्ञ है अतः ईश्वर के विषयमें यह नहीं कहा जा सकता कि उस ने बहुत सी पुस्तकें एकत्रित कीं अथवा साक्षी ढूंढ़ने गया ।

अलकुरान एक संयुक्त शब्द है जो अर्बी के दो शब्दों से बना है, एक 'अल' दूसरा "कुरान" । "कुरान" "कर-आ" धातु से निकला है जिस का अर्थ 'पढ़ना' है अतः अलकुरान का अर्थ हुआ वह लेख जो विशेष प्रकार से पढ़ा गया हो । इस से सिद्ध हुआ कि अलकुरान भी लिखी हुई पुस्तक का नाम है न कि ईश्वर के ज्ञानका ।

" ग्रन्थ साहब " का अर्थ तो स्पष्ट ही ग्रन्थ है अतः इस के विषय में विशेष लिखने की कोई आवश्यकता नहीं दीखती ।

" वेद " " विद् " ज्ञाने धातु से निकला है । वेद का अर्थ है " ज्ञान " । यह किसी लेख वा पुस्तक का नाम नहीं प्रत्युत उस ज्ञान का नाम है जो परमात्मा ने मनुष्यों के कल्याणार्थ प्रकाशित किया है यजुर्वेद अ० ४० मन्त्र ८ में लिखा है:—

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ यजुर्वेद अ० ४० मं० ८ ॥

वह परमात्मा सब में व्यापक शीघ्रकारी सर्वशक्तिमान्, स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से रहित, छिद्र रहित और अच्छेद्य, नाड़ी आदि के साथ सम्बन्ध रूप बन्धन से रहित, अविद्यादि दोषों से रहित होने से सदा पवित्र, जो पाप युक्त पापकारी अथवा पाप में प्रीति करने वाला कभी नहीं होता, जो सर्वज्ञ, सब जीवों के मनों की वृत्तियों को जानने वाला, दुष्ट पापियों का तिरस्कार करने वाला, अनादि स्वरूप जिसकी संयोग से उत्पत्ति वियोग से विनाश नहीं होता, जो माता पिता गर्भवास जन्म वृद्धि मरण को प्राप्त नहीं होता वह परमात्मा, सनातन अनादि स्वरूप अपने २ स्वरूप से उत्पत्ति विनाश रहित जीव रूप प्रजाओं के लिये यथावत् अर्थों ज्ञानों का उपदेश (वेदद्वारा) करता है ।

(ख) यह आवश्यक है कि परमात्मा अपने ज्ञान का दान सृष्टि के आरम्भ में दे । क्योंकि मनुष्य का काम इस के बिना निकल ही नहीं सकता । दूसरी बात यह है कि परमात्मा दयालु और न्यायकारी है वह ऐसा नहीं कर सकते कि सृष्टि

के आरम्भ से सहस्रों वर्षों तक शतों प्रसूतियों को अपने ज्ञान से वञ्चित रख पीछे से मनुष्यों को ज्ञान प्रदान करें । इस कसौटी पर भी यदि वेद, जिन्दावस्था, बाइबल कुरान और ग्रन्थसाहब जांचे जांय तो वेद ही ईश्वरीय ज्ञान ठहरता है क्योंकि कुरान बाइबल, जिन्दावस्था और ग्रन्थसाहब के विषयमें कोई भी ऐसा नहीं कहता कि ये सृष्टि की आदिमें हुए । कुरान को बने प्रायः १३०० वर्ष हुए, बाइबल के ईसा-मसीह की यह १९०८ वीं शताब्दी है । ईसाइयों के हज़रत आदम को भी उन के मतानुसार उत्पन्न हुए प्रायः ६००० छः सहस्र वर्षों से अधिक नहीं हुवे । जिन्दा-अवस्था के विषय में युरोपीय विद्वानों की सम्मति है कि वह प्रायः ४००० चार सहस्र वर्षों का बना हुआ है सम्भव है कि यह अनुमान सर्वथा ठीक न हो परन्तु इस में सन्देह नहीं कि जिन्दाअवस्था महर्षि व्यास के समय से पीछे का अर्थात् पांच सहस्र वर्षों से कम दिनों का है क्योंकि जिन्दाअवस्था में महर्षि वेदव्यास का वर्णन आया है । उस में "शन्नो देवी रभिष्टय आपो भवन्तु पीतये शंयोरभिस्रवन्तु नः" इस वेद मन्त्र का वर्णन आया है और यह भी लिखा है कि जिस समय ईरान में वेदों का प्रचार था उस समय वहां धर्म बहुत फैला हुआ था । अतः सिद्ध हुआ कि ज़िन्द अवस्था वेद से बहुत पीछे हुआ । वेद को भारत के सभी ऋषि महर्षि सदा से अनादि मानते आये हैं । वेद सम्वत् वा सृष्टि सम्वत् अब तक बराबर चला आता है । ज्यों २ भूगर्भ विद्या की उन्नति होती जाती है, त्यों २ संसार के विद्वान् सृष्टि सम्वत् की ओर आ रहे हैं । कहां तो योरोप में पहिले यह माना जाता था कि संसार को बने केवल छःसहस्र वर्ष व्यतीत हुए हैं और कहां अब वहां के विद्वानों का यह मत हो रहा है कि यह संसार क्रोड़ों वर्षों से चला आता है । क्या कोई आश्चर्य्य की बात होगी यदि उक्त विद्वान् कतिपय वर्षों में वेद में बतलाए हुए सृष्टि सम्वत् को ही ठीक मानने लगें और ऋषियों की भांति इन का विश्वास भी वेदों पर जम जायं !

कोई समय था जब कि यूरोपीय विद्वान् यह कहा करते थे कि वेदों को बने प्रायः ३४०० चौंतीस सौ वर्षों से अधिक नहीं हुए । परन्तु प्राचीन इतिहासों का जब अधिक अन्वेषण होने लगा तो पता लगा कि आज से कई सहस्र वर्ष पूर्व इस देश का मिश्र के साथ वाणिज्य सम्बन्ध था और इसी प्रकार का सम्बन्ध प्रायः ५००० पांच सहस्र वर्ष पूर्व इस देश का बेबिलोनिया के साथ था * । अतः

---

*In the ruins of Mugheir, ancient ur of the Chaldees, built of Urea or Ur-Bagash the first king of united Babylonia who ruled not less than

निश्चित होता है कि पांच सहस्र वर्षों ५००० से भी शताब्दियों पूर्व वेद विद्यमान थे क्योंकि कोई भी मनुष्य जाति दूर देशों के साथ तब तक व्यापार नहीं कर सकती जब तक कि उस ने पोत (जहाज़) बनाना न सीख लिया हो तथा साथ ही साथ कई प्रकार की अन्यान्य उन्नतियां भी न कर लीं हों। भारत के प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित बाल गङ्गाधर तिलक अपनी पुस्तक "ओरियन" में ज्योतिष विद्या के प्रमाण से सिद्ध करते हैं कि विशेष २ ब्राह्मण भागों के बने १२००० बारह सहस्र वर्षों से भी अधिक व्यतीत हो चुके हैं। इतिहास जिन ग्रन्थों को अति प्राचीन बतलाता है। उनमें से एक भी ऐसा नहीं जिन के निर्माण काल में वेद ईश्वरोक्त न माना जाता हो। वेदों में जो सृष्टि सम्बन्ध दिया है, वह नवीन वैज्ञानिक अन्वेषणों से ठीक सिद्ध हो रहा है। सृष्टि के आरम्भ में ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता हम प्रथम ही सिद्ध कर चुके हैं। और अभी सिद्ध किया है कि वेद से प्राचीन किसी अन्य उपदेश का पता नहीं चलता और यह भी बतलाया है कि वेदको बड़े बड़े प्रामाणिक ग्रन्थ तथा पुरुष ईश्वरोक्त कह चुके और कह रहे हैं अतः यदि यह सिद्ध होजाय कि ईश्वरीय ज्ञानमें जिन जिन गुणोंकी आवश्यकता है वह सभी वेदों में पाए जाते हैं पुनः ऐसा कौन विचारशील पुरुष होगा जो वेदों को ईश्वरीय ज्ञान स्वीकार न करे ?

(ग) परमात्मा के सब दान उन सब प्राणियों के लिये होते हैं जो उन से लाभ उठा सकें। क्योंकि बुद्धि सब मनुष्यों में होती है इस लिये ईश्वरीय ज्ञान भी मनुष्यमात्र के लिये होना चाहिये। सब के लिये सामान्यतः लाभदायक होने के लिये यह आवश्यक है कि वह किसी देश विशेष की भाषा में न हो ताकि उस के समझने में सब को समान परिश्रम करना पड़े।

कुरान अर्बी में है, बाइबल इबरानी में, जिन्द अवस्था पहलवी में ग्रन्थसाहब पञ्जाबी में। इन सब भाषाओं को देश भाषा कह सकते हैं परन्तु वेद इन भाषाओं में

3000 years E.C, was found a piece of Indian teak (Vedic India, by Zenaide A Ragozin, 3rd edition. P. 305).

अर्थात् मुघेरनगर के खण्डहरों में जिसे, कैलडिया वासी "उर" नगर कहते थे और जिसे "उर ईया" वा "उर बगश" नाम पुरुष ने (जो संयुक्त बेबिलोनिया का प्रथम राजा था) निर्मित किया था और जो ईसा के जन्म से कम से कम ३००० तीन सहस्र वर्ष पूर्व राज्य करता था, भारतीय सागुवान लकड़ी का एक टुकड़ा मिला था (वैदिक इण्डिया तृतीयावृत्ति पृष्ठ ३०५ महाशय जैनेद ए, रागोज़िन निर्मित)

से किसी में भी नहीं है । वह ईश्वरीयवाणी (वेद) यौगिक भाषा में है जो आदि सृष्टि में उत्पन्न हुवे मनुष्यमात्र की भाषा थी और जिस से अपभ्रंश हो कर आज इतनी भाषाएं जगत् में फैल गई हैं ।

वेद की रचना अद्भुत है । इस में एक ऐतिहासिक प्रमाण भी है । धूर्तों ने भारतवर्ष के समग्र आर्ष साहित्य में अपने पाखण्ड मत को प्रामाणिक बनाने के लिये प्रक्षिप्त श्लोक, वाक्य जड़ दिये हैं । ब्राह्मण ग्रन्थों से ले कर महाभारत तक कोई ऐसी पुस्तक नहीं है जिस में बीसियों प्रक्षिप्त श्लोक न हों । महाभारत में तो अ-सली श्लोकों की अपेक्षा कई गुण श्लोक प्रक्षिप्त हैं । परन्तु क्या कारण कि वेदों में एक अक्षर भी प्रक्षिप्त नहीं मिलता । वेदों के अक्षर और मात्राएं २०००० बीस सहस्र वर्ष पूर्व जितनी थीं उतनी ही अब हैं । यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि वेदों में प्रक्षिप्त श्लोक मिलाने से धूर्तों की कोई स्वार्थ सिद्धि नहीं हो सकती थी क्योंकि यदि धूर्त लोग धोखेसे यह सिद्ध कर सकते कि श्रुति में भी उनके मत की पुष्टि होती है तो उन का पाखण्ड मत बहुत चलता और उन की घृणित रीतियों का बहुत प्रचार होता । हम इस से तो यही परिणाम निकालते हैं कि वेद मन्त्रों की रचना इस प्रकार की है कि मनुष्य उस का पूर्णतःअनुकरण कर ही नहीं सकता । धूर्तों ने ऋषियों की लेख प्रणाली का अनुकरण तो इसप्रकार कर लिया है किग्रन्थ की भाषा मात्र देख कर यह बतलाना कठिन है कि कौन से श्लोक इन में प्रक्षिप्त हैं। परन्तु वेद मन्त्र बनाने का उन को साहस ही नहीं हुआ क्योंकि वे जानते थे कि ऐसा करने से उन की पोल तत्काल खुल जायगी । इस विषय में एक लौकिक दृष्टान्त की ओर ध्यान दीजिए । जर्मनी देश में यदि कोई नए प्रकार का लैम्प बने तो इंगलैंड के कारीगर वैसा ही लैम्प बना देते हैं, दोनों लैम्पों को देख कर कोई नहीं बतला सकता कि इन में असल कौनसी और नक़ल कौनसी है । परन्तु आज तक किसी ने कृत्रिम सुर्य्य, चन्द्र, तारागण बनाने का यत्न नहीं किया क्योंकि ऐसा यत्न करना अपने पागलपन का परिचय देना है। यह बात भी विचारणीय है कि यदि उत्तरोत्तर उन्नति (ईवोल्यूशन थियोरी) का सिद्धान्त ठीक माना जाय तो वेद की भाषा साधारण और अशुद्धियों से भरपूर होनी चाहिये । परन्तु हम यह देखते हैं कि वेद की भाषा अति ललित और प्रभावशाली है और यदि संसार में कोई पूर्ण व्याकरण है तो वह वेद का व्याकरण है अतः इस परीक्षा के अनुसार भी केवल वेद ही ईश्वरीय ज्ञान ठहरते हैं ।

(घ) ईश्वर का ज्ञान सब मनुष्यों के लाभ के लिये होता है । इस लिये उस

में किसी देश विशेष का इतिहास अथवा भूगोल नहीं हो सकता । बाइबल में यहूदियों का इतिहास अधिक है उस में पालिस्टाइन से सम्बन्ध रखने वाले बीसियों स्थानों का वर्णन है । ऐसी अवस्था में उस पुस्तक के विषय में यही कहा जा सकता है कि उस में एक जाति का इतिहास है और उस जाति के नेताओं ने अपने अनुयायियों के आत्मिक लाभ के लिये उसे लिखा है । इसी प्रकार कुरान अरबस्थान के दृश्य वर्णन से भरपूर है, उस में मुहम्मद साहब के जीवन वृत्तान्त बहुत लिखे हैं, उन से जो भूलें हो गई उन्हें अच्छी सिद्ध करने का यत्न किया गया है, उस में स्वर्ग के जो दृश्य खींचे गये हैं वह केवल ऐसे पुरुषों की बुद्धि को मोहित कर सकते हैं जो ऐसे स्थान में उत्पन्न हुए हों जहां जल का अभाव सा हो, भूमि उपज शून्य हो और जिस में वृक्ष और वनस्पति लेश मात्र न हों । उस में बहुत सी ऐतिहासिक भ्रममूलक असम्भव कथाएं आती हैं । ग्रन्थसाहब में भी कई असम्भव कथाएं हैं यथा "भगत हेत मार्यो हरनाखस नरसिंहरूप होइ देह धर्यो । नामा कहै भगति वश केशव अजहूं बलि के द्वार खरो"* जिन्दावस्था के विषय में भी यही कहा जा सकता है । परन्तु वेदों में किसी पुरुष विशेष वा जाति विशेष का इतिहास नहीं है । उस में किसी पुरुष, जाति वा देश का नाम भी नहीं है ।

परन्तु योरोपीय विद्वानों ने भ्रम में पड़ कर और यह न जान कर कि वैदिक शब्दों के अर्थ केवल धातुज अर्थात यौगिक होते हैं (नैगमरूढ़ि भवं हि सुसाधु, नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्) वैदिक मन्त्रों का अर्थ पौराणिक कथाओं के आधार पर किया है । उन लोगों ने यह समझ लिया है कि भारतवर्ष का इतिहास भी और देशों के इतिहास की नांई है । परन्तु वास्तव बात यह नहीं है भारतवर्ष का इतिहास उत्तरोत्तर अवनति का इतिहास है जिसे अनेक योरोपीय विद्वानों को भी कई वार मानना पड़ा है। पुराणों के आधार पर वेदों का अर्थ करना वैसा ही हास्य जनक है जैसा कि नवीन फ़ारसी का कोष लेकर पहलवी भाषा के किसी पुस्तक का अर्थ लगाने का यत्न करना अथवा जैसा कि आज कल के अंग्रेज़ी कोष तथा व्याकरण के सहारे "चौसर" की किताबों का अर्थ समझने का उद्योग करना । जब फ़ारसी और अंग्रेज़ी जैसी नवीन भाषाओं की यह दशा है कि पांच वा छैसो वर्ष अथवा एक वा दो सहस्र वर्षों के बीच उन के शब्दार्थों में आश्चर्य्य जनक परिवर्त्तन हो

* नवल किशोर प्रेस लखनऊ का १९९३ का छपा हुआ श्री गुरुग्रन्थ साहब पृष्ठ ९६३ ।

जाता है तो कैसे माना जाय कि सहस्रों वर्षों के व्यतीत हो जाने पर संस्कृत भाषा के शब्दार्थों में कुछ परिवर्त्तन नहीं हुआ होगा ।

वेदों और वैदिक साहित्य के सत्यार्थ समझने के लिये अष्टाध्यायी, महाभाष्य, निघण्टु तथा निरुक्तादि के पढ़ने की आवश्यकता है । जिन मन्त्रों के अर्थों को न समझ कर इन विद्वानों ने वेद में से इतिहास निकालने का यत्न किया है उन में से दो चार को लेकर हम **परिशिष्ट में** बतलायेंगे कि अर्थ का अनर्थ किस प्रकार किया गया है । हम यह नहीं कह सकते कि योरोपीय विद्वानों ने दुष्ट भाव से वेदों के अर्थों का अनर्थ किया परन्तु यह अवश्य कहेंगे कि उन्हें वैदिक मन्त्रों का अर्थ करते हुए यह ध्यान अवश्य था कि इन वेद मन्त्रों का ऐसा अर्थ न निकले कि उन के माने वा प्रचार किये हुए सिद्धान्तों में किसी प्रकार का भेद पड़ जाय, जैसे कि "मोनियर विलियम्स्" कट्टर ईसाई थे उन का यत्न था कि "वेद छः सहस्र वर्ष से पूर्व का सिद्ध न हो" क्योंकि ईसाई धर्म्म में लिखा है कि सृष्टि का बने प्रायः छ सहस्र वर्ष व्यतीत हुए, उन को भय था कि "यदि वेद दश वा बीस सहस्र वर्ष पूर्व का भी सिद्ध हो जायगा तो उन का बाइबल एक साधारण पुस्तक ठैर जायगा।" उक्त योरोपीय विद्वानों में से कतिपय उत्तरोत्तर उन्नति विचार (इवोल्यूशन थियोरी) के पोषक थे अतः चाहते थे कि इस विचार की पुष्टि में प्राचीन ग्रन्थों से साक्षी मिले, और इसी लिये वे वैदिक मन्त्रों का अर्थ ऐसा करना चाहते थे जिस में उन से मनुष्यों की प्रारम्भिक सभ्यता सिद्ध हो । जहां कहीं उन्हें ऐसे वेद मन्त्र मिले जो वैज्ञानिक सत्ता के बोधक हैं उन्हों ने उन के उलटे अर्थ सोचने प्रारम्भ कर दिये, और तोड़ मरोड़ कर उन का अर्थ अपने मतलब का द्योतक लिख दिया । शोक की बात यह है कि भारतीय विद्वान् ऐसे विषयों के अन्वेषण में अपना समय लगाना नहीं चाहते, उन के भीतर से मानो अन्वेषण का भाव ही नष्ट हो गया है इस कारण जो कुछ योरोपीय विद्वानों ने लिखा सभ्य संसार ने उसी पर विश्वास कर लिया । भारत के सुपूतों को चाहिये था कि योरोपीय विद्वानों के वेद सम्बन्धी अमूलकता के लेखों का खण्डन करते । परन्तु यह खण्डन तब तक नहीं हो सकता जब तक अन्वेषण कर्त्ता वेदों के अर्थों के जानने की चेष्टा आर्ष प्रणाली अनुसार न करें । यही कारण है कि राजा राजेन्द्रलाल मित्र तथा महाशय रमेशचन्द्रदत्त आदि भारत वासियों ने वैदिक विषयों का अनुशीलन करते हुए भी योरोपीय विद्वानों का अनुकरण कर लिया। परन्तु महर्षि दयानन्द ने ऐसा नहीं किया क्योंकि उन्हों ने वैदिक

मन्त्रों का विचार उस विधि से किया जिस विधि से कि उन का विचार प्राचीन महर्षिगण किया करते थे अर्थात् विधिवत् ब्रह्मचर्य्य धारण कर तथा योगाभ्यास से आत्मा को पवित्र कर उन्हों ने वैदिक मन्त्रों का अर्थ किया जिस का प्रभाव यह हुआ कि सुशिक्षित श्रेणी के बहुत से लोग जो योरोपीय विद्वानों की सम्मति को मानते हुए वैदिक मन्त्रों को बच्चों की बलबलाहट समझ रहे थे वे उन्हें विज्ञानमय मानने लगे । आज कल भी बड़े बड़े विद्वान् महर्षि दयानन्द कृत वैदिक अर्थों की ओर आकर्षित हो रहे हैं और यदि वैदिक मतानुयायियों ने उक्त वेदार्थों का यथेष्ट प्रचार किया तो एक न एक दिन सारा संसार महर्षि कृत अर्थों के महत्व की ओर शिर झुकाएगा और महर्षि का उद्देश्य पूर्ण होगा । वह दिन जिस में शीघ्र आए इस लिये प्रत्येक वैदिक धर्मावलम्बी को पूर्ण पुरुषार्थ करना उचित है ।

(ङ) ईश्वर सर्वज्ञ है अतएव उस का कोई कार्य्य त्रुटि युक्त नहीं कहा जा सकता । संसार में हम यह देखते हैं कि जो मनुष्य अपनी इच्छाओं को बारम्बार बदलता रहता है और अपनी पूर्व आज्ञाओं के विरुद्ध नई आज्ञाएं प्रकाशित करता रहता है उस को मनुष्यों का कोई समूह भी अपना नेता बनाना नहीं चाहता क्योंकि उस की बुद्धि विशेष भ्रम युक्त अपरिपक्व एवं कल्याणकारी विषयों के समझने में अयोग्य मानी जाती है । जब कि बुद्धिमान् पुरुष भी दूरदर्शिता और विचार से काम लेते हुए यथासम्भव ऐसे नियम बनाते हैं कि जो चिरस्थाई हों तो फिर ईश्वर के विषय में यह कहना अज्ञानता नहीं तो क्या है कि वह पहले एक आज्ञा प्रकाशित करता है और फिर उस के विरुद्ध दूसरी आज्ञा की घोषणा देता है और इसी प्रकार बारम्बार नई आज्ञाएं देता और पीछे से उन के विपरीत अन्यान्य आज्ञाओं को प्रचारित करना चाहता है ।

बाइबल में कई स्थानों पर ऐसा लेख आता है कि ईश्वर ने अपनी भूल के लिये पश्चात्ताप किया, कई स्थानों पर बाइबल का ईश्वर धमकियां देता है और उन्हें पूरा नहीं करता, दण्ड देने की घोषणा देता है परन्तु पीछे से क्षमा करदेता है । बाइबल के भिन्न २ भागों के विषय में कहा जाता है कि वे भिन्न भिन्न समयों पर आसमान से उतरे । क्या परमात्मा का पहला ज्ञान अपूर्ण था जो उसे नवीन ज्ञान प्रकाशित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई ?

इसी प्रकार मुसलमान मानते हैं कि पहले परमात्मा ने क्रमशः जबूर, तौरेत तथा अन्जील के ज्ञान प्रकाशित किये फिर उन सब को क्रमशः उत्तरोत्तर निषिद्ध

करता रहा । यहां पर भी वही प्रश्न किया जा सकता है कि क्या परमात्मा अज्ञानी है जो पहले कुछ कहता और पीछे से उसी के विरुद्ध कुछ अन्य कहने लगता है ?

वेद जैसे सृष्टि की आदि में थे वैसे ही अब भी हैं, उन में एक मात्रा का भी भेद नहीं हुआ है । जैसे परमात्मा अनादि है वैसे ही उस का ज्ञान (वेद) भी अनादि है, उन के किसी भी सिद्धान्त के परिवर्तन की आवश्यकता परमात्मा को कभी भी प्रतीत नहीं हुई अतः वेद ही ईश्वरीय ज्ञान है ।

(च) प्राकृतिक संसार का कर्त्ता परमेश्वर है इस में किसी भी आस्तिक को सन्देह नहीं है अतः उस के सृष्टि नियम जो संसार में चल रहे हैं उन के विपरीत वह ज्ञान नहीं हो सकता जिसे उस ने मनुष्यों के कल्याणार्थ प्रकाशित किया है ।

परन्तु बाइबल में सृष्टि नियम विरुद्ध लिखा है कि इसूमसीह मरियम कुमारी के पेट से पैदा हुए, उन्हों ने मुर्दों को जीवित किया, अन्धों को बिना किसी औषधि के आंखें दी इत्यादि ।

इसी प्रकार कुरान में लिखा है कि सूर्य्य कीचड़ के चश्मे (सरोवर) में डूबता था, पहाड़ बादलों की तरह चलते थे, मूसा ने पत्थर पर अपना असा (दण्ड) मारा और उस पत्थर से बारह चश्मे (सरोवर) वह निकले इत्यादि ।

पुराणों में लिखा है अगस्तमुनि ने समुद्र को पी लिया, एक दैत्य सारी पृथिवी को चटाई की तरह लपेट उसे सिराने रख सो गया इत्यादि ।

ग्रन्थ साहब में भी पुराणों की तरह अनेक कथाएं लिखी हैं ।

परन्तु वेदों में सृष्टि नियम विरुद्ध एक भी बात नहीं है ।

पश्चिमीय विद्वान् जो यह कहते हैं कि वेदों में अनेक भ्रम मूलक कथाएं हैं वे सर्वथा स्वयम् भ्रम में हैं, उन्हों ने वेदों के आशयों को नहीं समझा । जिन वैदिक मन्त्रों से पश्चिमीय विद्वान् भ्रम मूलक कथाएं निकालते हैं वे वेदमन्त्र वास्तव में विशुद्ध अलङ्कारों को वर्णन करते हैं जैसा कि हम उदाहरण स्वरूप दो चार वेद-मन्त्रों के अर्थ **परिशिष्ट** में प्रकाशित कर बतलाएंगे ।

(छ) " जब आत्मा मन, और मन इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता वा चोरी आदि बुरी वा परोपकारादि अच्छी बात के करने का जिस क्षण में आरम्भ करता है उस समय, जीव की इच्छा ज्ञानादि उसी इच्छित विषय पर झुक जाती है, उसी क्षण में आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में भय शङ्का और लज्जा तथा अच्छे कामों के करने में अभय, निःशङ्कता और आनन्दोत्साह उठता है, वह जीवा-

त्मा की ओर से नहीं किन्तु परमात्मा की ओर से है " इस से सिद्ध होता है कि परमात्मा की शिक्षा, पवित्र होती है। परन्तु इस के विपरीत बाइबल, कुरान तथा पुराणादि में कई अपवित्र बातें पाई जाती हैं जिस कारण इन में से कोई भी ईश्वरीय ज्ञान नहीं कहला सकता। परन्तु वेद की शिक्षा अति पवित्र है उस की पवित्र शिक्षा का नमूना कतिपय वेद मन्त्रों के द्वारा हम **परिशिष्ट** में प्रकट करेंगे जिन के अवलोकन से पता लगेगा कि जैसी उच्च शिक्षा वेद की है वैसी संसार भर के किसी पुस्तक की नहीं है।

(ज) मनुष्यों के कल्याण के लिये परमात्मा ने जिस ज्ञान का उपदेश किया हो उसे सब विद्याओं का भण्डार होना आवश्यक है । परन्तु यह आवश्यक नहीं कि सब विद्याएं उस में विस्तृत रूप से बतलाई गई हों, सब विद्याओं के मौलिक सिद्धान्त यदि उस में हैं तो वह मनुष्यों के कल्याण के लिये पर्याप्त है। जिस प्रकार कि भौतिक सूर्य्य मण्डल प्रत्येक प्रकार के प्रकाश का कोष है उसी प्रकार ईश्वरीय ज्ञान भी विद्या रूपी प्रकाश का मूल है । चन्द्रमा यदि प्रकाशित है तो सूर्य्य के किरणों से, वायु यदि बहता है तो सूर्य्य के ताप से, पृथिवी मात्र पर जहां कहीं अग्नि है वह सब का सब वायु के सहार जलता है और वायु का प्रवाह सूर्य्याधीन है अतः सूर्य्य ही सब प्रकार के भौतिक प्रकाशों का मूल है। जब कि परमात्मा की भौतिक सृष्टि में देखते हैं कि सब प्रकार के भौतिक प्रकाशों का भण्डार भौतिक सूर्य्य प्रकाश दे रहा है तो यह कैसे माना जा सकता है कि मानसिक और आत्मिक जगत में ज्ञान रूपी प्रकाश का प्रदान करने वाला सूर्य्य सर्व विद्याओं से भरपूर न होगा? अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ईश्वरीय ज्ञान में सब विद्याएं विस्तृत रूप से होनी चाहिएं अथवा उस में सब विद्याओं का मौलिक सिद्धान्त मात्र होना चाहिए? जब कि ईश्वर सर्वज्ञ है तो क्या वह सब विद्याओं को विस्तृत रूप से वर्णित नहीं कर सकता? इस के उत्तर के लिये भी सृष्टि क्रम को देखिये। सूर्य्य हमें केवल प्रकाश देता है जिस की सहायता से आंखें देखती हैं । यदि आंखें देखना न चाहें अथवा अन्यथा देखें तो सूर्य्य सब वस्तुओं का यथार्थ रूप नहीं दिखा सकता। हां यदि नेत्र देखना चाहें तो सूर्य्य उन्हें सब कुछ दिखा सकता है। इस के अतिरिक्त परमात्मा ने संसार में जितने पदार्थों की रचना की है वह एक न एक कार्य के लिये है, कोई भी वस्तु निरर्थक नहीं बनाई गई । अतः नेत्रों का काम भी यदि सूर्य ही करदे तो चक्षु जिन की सूक्ष्म रचना परमात्मा की महानता की घोषणा दे रही हैं

निरर्थक ही सिद्ध हो जांय । जिस प्रकार भौतिक संसार में चक्षु हैं उसी प्रकार मानसिक और आत्मिक जगत् में बुद्धि है । यदि वेद में सब विद्याएं पूर्ण विस्तार सहित वर्णित होवें तो बुद्धि निरर्थक सिद्ध हो अतः परमात्मा ने वेदों में सर्व विद्या सम्बन्धी मौलिक सिद्धान्तों को बतलाया ताकि मनुष्य अपनी बुद्धि को दौड़ा कर विद्याओं का विस्तार कर सकें । हां यह बात कभी नहीं हो सकती कि विद्यार्थी अपनी बुद्धि के बल से बिना किसी शिक्षक की सहायता के विद्या सम्बन्धी मौलिक सिद्धान्तों को भी स्वयम् जान ले ।

बाइबल और कुरान में विद्याओं के मूल सिद्धान्तों की विद्यमानता की बात तो दूर रही उन में अनेक बातें ऐसी भरी हुई हैं जो विद्या विज्ञान के सर्वथा विरुद्ध हैं । इस सम्बन्ध में कई बातें तो पहले भी लिखी जा चुकी हैं अन्यान्य कतिपय और भी सुनिये । बाइबल और कुरान में लिखा है कि भूमि चौड़ी है, फ़रिश्ते आसमान पर रहते हैं, सृष्टि को बने केवल छःसहस्र वर्ष हुए इत्यादि इत्यादि जिन्हें पढ़ कर कोई विद्वान् यह स्वीकार नहीं कर सकता कि उक्त पुस्तकें परमात्मा की अथवा किन्हीं विद्वानों की वा किसी विद्वान् की भी बनाई हुई हैं । बाइबल के विज्ञान विरुद्ध होने का एक दृढ़ प्रमाण यह भी है कि युरोप में ईसाई पुरोहितों तथा आचार्य्यों की ओर से वैज्ञानिकों पर सदा अत्याचार होते रहे हैं । प्रसिद्ध विद्वान् गलेलियो इस कारण बन्दीगृह में डाला गया कि उस ने बाइबल की शिक्षा के विरुद्ध इस सत्-सिद्धान्त का प्रचार किया कि भूमि सूर्य के चतुर्दिक् घूमती है । देवी हियोफिया, ईसाई, पादरी सिरिल की आज्ञा से नग्न की गई और बीच बाज़ार में जान से मारी गई । उस देवी का अपराध (जिसे ईसाई अपराध बतलाते थे) केवल यह था कि वह रेखागणित की विद्या लोगों को पढ़ाया करती थी । पादरी कहते थे कि रेखागणित की विद्या असत्य है क्योंकि बाइबल में इस विषय में कुछ नहीं लिखा । कोलम्बस जब अमेरिका का पता लगाने के लिये एक जहाज़ ले जाना चाहता था तब उस ने इस कार्य में पुर्तगाल के महाराज की सहायता लेनी चाही । महाराज ने कोलम्बस की प्रार्थना पर विचार करने के लिये पादड़ियों की एक सभा एकत्रित की । पादड़ियों ने वादानुवाद के पश्चात् निश्चित किया कि भूमि के किसी अन्य महाखण्ड के विषय में बाइबल में कुछ नहीं लिखा है अतः कोलम्बस बाइबल के सिद्धान्त विरुद्ध व्यर्थ श्रम करना चाहता है अतएव उसे सहायता नहीं मिलनी चाहिये । इस

निष्पत्ति (फ़ैसले) के कारण बेचारे कोलम्बस को पुर्तगाल महाराज के यहां से निराश लौटना पड़ा ।

परन्तु वेदों में विज्ञान विरुद्ध एक भी बात नहीं है प्रत्युत ये महोच्च गम्भीर शिक्षाओं से भरे हुए हैं । इस विषय का निर्भ्रान्त और पूर्ण निश्चय तो तब होता है जब कि कोई बाल्यावस्था से ब्रह्मचर्य्य व्रत धारण कर अपने आत्मा को साधन सम्पन्न बनाए और वेदाङ्गों तथा उपाङ्गों को अध्ययन कर पुनः वेदार्थों पर विचार करे, तथापि नमूने की तरह कतिपय वेद मन्त्रों के भावार्थ हम यहां प्रस्तुत करते हैं जिन से वेदों के कुछ महत्व प्रकट होंगेः—

आयङ्गौः पृश्निरक्रमीदसदन् मातरम्पुरः । पितरञ्च प्रयन्त्स्वः । यजुर्वेद । अध्याय ३ । मन्त्र ६

यह भूगोल जल के सहित सूर्य्य के चारों ओर घूमता जाता है ।

महर्षि यास्क अपने ग्रन्थ निरुक्त में लिखते हैं "गौरिति पृथिव्या नामधेयम् । यद् दूरं गता भवति" अर्थात् पृथिवी का नाम "गौ" इस कारण है कि यह दूर दूर तक चलती रहती है ।

या गौर्वर्त्तनिं पर्य्येति निष्कृतं पयो दुहाना व्रतनीरवारतः । सा प्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुषे देवेभ्यो दाशद्धविषा विवस्वते । ऋग्वेद अ० ८ । अ० २ । व० १० । मं० १

पृथिवी अपने व्यास पर घूमती हुई सूर्य्य की परिक्रमा उस आकाश मार्ग से कर रही है जिसे परमात्मा ने उस के घूमने के लिये निर्दिष्ट किया है। और अन्यान्य लोक भी नियमित गति से घूम रहे हैं । यह पृथिवी अनेक प्रकार के रस फलादि से प्राणियों को तृप्त कर रही है । इत्यादि ।

यदा ते हर्य्यता हरी वावृधाते दिवे दिवे । आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे । ऋग्वेद अ० ६ । अ० १ । व० ६ । मं ३

अर्थात् सब लोकों के साथ सूर्य्य का आकर्षण है और सूर्य्यादि लोकों के साथ ईश्वर का आकर्षण है इसी कारण सब लोक अपनी अपनी कक्षा में चलते और इधर उधर विचालित नहीं होते हैं ।

आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च । हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥ यजुर्वेद अ० ३३ । मं० ४३ ॥

सविता अर्थात् सूर्य्य वर्षादि का कर्त्ता प्रकाश स्वरूप तेजोमय रमणीय स्वरूप के साथ वर्तमान सब प्राणी अप्राणियों में अमृतरूप वृष्टि वा किरण द्वारा अमृत का प्रवेश करा और सब मूर्तिमान् द्रव्यों को दिखाता हुआ सब लोकों के साथ आकर्षण गुण से सहवर्तमान अपनी परिधि में घूमता रहता है ।

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्य्येणोत्तभिता द्यौः । ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधिश्रितः ॥ अथर्व कां० १४ । अनु० १ । मं० १ ॥

यह पृथिवी आकाश में परमात्मा की शक्ति से सूर्य्याकर्षण द्वारा धारित है । सब प्रकाशों का मूल सूर्य्य है त्रसरेणु भी सूर्य्य की शक्ति से धारित है । और चन्द्रमा सूर्य्य के प्रकाश से प्रकाशित हो रहा है ।

कः स्विदेकाकी चरति कउ स्विज्जायते पुनः । किं७ स्विद्धिमस्य भेषजं किम्वावपनं महत् ॥ सूर्य्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः । अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत् । यजुर्वेद अ० २३। मं०९, १०

यहां चार प्रश्न हैं और क्रमशः उन के चार उत्तर दिये गये हैं ।

चार प्रश्न ।

(१) कौन एकाकी अर्थात् अकेला विचरता और अपने प्रकाश से प्रकाश वाला है ? (२) कौन दूसरे के प्रकाश से प्रकाशित होता है ? (३) शीत का औषध क्या है ? (४) कौन बड़ा क्षेत्र अर्थात् स्थूल पदार्थ रखने का स्थान है ?

चार उत्तर ।

(१) इस संसार में सूर्य्य एकाकी अर्थात् अकेला विचरता और अपनी कील पर घूमता है तथा प्रकाश रूप होकर सब लोकों का प्रकाश करने वाला है (२) उसी सूर्य्य के प्रकाश से चन्द्रमा प्रकाशित होता है। (३ शीत का औषध अग्नि है। (४) यह पृथिवी साकार चीज़ों के रखने का स्थान तथा सब बीज बोने का बड़ा खेत है ।

अनारम्भणे तदवीरये थामनास्थाने अग्र भणे समुद्रे । यदश्विना ऊहथुर्भुज्युमस्तं शतारित्रां नावमातस्थिवांसम् ॥ ऋग्वेद अ० १। अ० ८। व०८ मं०५।

अर्थात् जिस आकाश और समुद्र में बिना आलम्बन से कोई भी नहीं ठहर सकता उन में किसी प्रकार का आलम्बन सिवाय नौका और विमान के नहीं मिल

सकता इस लिये अन्तरिक्ष और समुद्र में चलने योग्य यानों को अपने कार्य्यों की सिद्धि के लिये रचलो ।

(ञ) अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि सृष्टि की आदि में परमात्मा ने किस प्रकार मनुष्यों को वेदों का ज्ञान प्रदान किया । परमात्मा साकार तो है नहीं कि उस ने पुस्तक लिख कर छपवादी हो अथवा सुनादी हो तो फिर वेदों का ज्ञान मनुष्यों को कैसे हुआ ?

१—शतपथ ब्राह्मण काण्ड १४, अध्याय ५, ब्रा० ४, कं० १० में लिखा है:—

एवं वा अरेस्य महतो भूतस्य निःश्वासितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरसः ।

अर्थात् जिस प्रकार मनुष्य सहजतया बिना श्रम के श्वास अपने शरीर से निकालता है उसी प्रकार जो आकाशादि से भी बड़ा सर्वव्यापक परमेश्वर है उस ने सहजतया ऋक्, यजु, साम और अथर्व वेदों को उत्पन्न किया है ।

२—शतपथ ब्राह्मण काण्ड ११ अध्याय ५ में स्पष्ट लिखा है:—

तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायंताग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्य्यात् सामवेदः ।

अर्थात् परमात्मा ने तीन वेदों की उत्पत्ति इस प्रकार की कि अग्नि ऋषि के हृदय में ऋग्वेद का, वायु ऋषि के हृदय में यजुर्वेद का और सूर्य ऋषि के हृदय में सामवेद का प्रकाश किया और इसी प्रकार अन्य प्रमाणों से सिद्ध होता है कि अङ्गिरा ऋषि के हृदय में अथर्ववेद का प्रकाश किया ।

यदि कोई कहे कि परमात्मा ने वेदों के शब्द अर्थ और उन के सम्बन्ध का ज्ञान एकाएक चार मनुष्यों के हृदयों में कैसे डाला जब कि इस प्रकार की कोई अन्य घटना इस समय दृष्टिगोचर नहीं होती तो इस का उत्तर यह है कि आज कल भी एक जीवात्मा दूसरे जीवात्मा पर अपना प्रभाव एकाएक डालता है । जिस के अनेक उदाहरण दृष्टिगोचर हुआ करते हैं ।

वह घटना आज कल मैज़मरेज़म के नाम से प्रसिद्ध है जिस को प्राचीन समय में योगावेश का एक साधारण भाग माना करते थे । मैज़मरेज़म की क्रिया द्वारा, एक दृढ़ इच्छा का पुरुष एक निर्बल इच्छा वाले मनुष्य के हृदय में अपना जो ज्ञान चाहे एकाएक डाल सकता है । जब कि मैज़मरेज़म करने वाला पुरुष उस मनुष्य के हृदय में जिस ने अंग्रेज़ी कभी नहीं पढ़ी अंग्रेज़ी पुस्तक का ज्ञान डाल

सकता है और उस के मुख से उन शब्दों का उच्चारण करवा सकता है जिन्हें उस ने पहले कभी नहीं सुना तो फिर क्या सर्व-शक्तिमान् परमात्मा के लिये यह असम्भव है कि वह पवित्र चार जीवात्माओं पर ऐसा प्रभाव डाले कि वह वेदों के शब्द अर्थ और उन के सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त करते हुए वैदिक शब्दों का उच्चारण कर सकें ? जिस प्रकार मैज़्मरेज़्म करने वाले के सब्जेक्ट (जिस पर मैज़्मरेज़्म किया जाता है) की इच्छा इतनी वशीभूत और पराधीन हो जाती है कि मैज़्मरेज़्म करने वाला जैसा चाहता है वैसा ही उस से बुलवाता है उसी प्रकार परमात्मा ने उक्त चार ऋषियों के द्वारा वेदों को प्रकाशित किया। " परमात्मा सर्व शक्तिमान् है, मुख प्राणादि साधनों के बिना भी वह मुख प्राणादि का काम अपने अनन्त सामर्थ्य से कर सकता है जिस प्रकार निराकार रहते हुए भी सारी सृष्टि की रचना कर लेता है। मन में मुखादि अवयव नहीं हैं तथापि उस के भीतर प्रश्नोत्तर आदि शब्दों का उच्चारण मानस व्यापार में होता है वैसे ही परमेश्वर में भी जानना चाहिये। उस ने उक्त चार ऋषियों के आत्माओं में व्यापक रहने के कारण उन के आत्माओं में अपने अनन्त सामर्थ्य से वेदों को प्रकाशित कर दिया।" उक्त चार ऋषियों को परमात्मा के उपदेश के पूर्व वेदों का कुछ भी ज्ञान न था अतः यह नहीं कहा जा सकता कि उक्त ऋषियों ने वेदों को रचा।

(ञ) वेदों की संख्या के चार होने में भी एक वैज्ञानिक नियम काम कर रहा है। संसार भर की जितनी घटनाएं हैं इन का परिगणन तीन काण्डों में आ सकता है अर्थात् ज्ञान काण्ड, कर्म्म काण्ड और उपासना काण्ड। ऋग्वेद ज्ञान-काण्ड का भण्डार है, यजुर्वेद उस ज्ञान को कर्म्म में परिणत करने की रीति बतलाता है और सामवेद में उपासना विषयक ज्ञान है। अथर्व वेद में उक्त तीनों प्रकार के विषयों का सम्मिलित प्रयोग बतलाया गया है और इसी कारण उसे विज्ञान काण्ड कहते हैं।

उपरोक्त युक्तियों से हम ने स्पष्टतः बतला दिया है कि सृष्टि की आदि में ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता है और वह ईश्वरीय ज्ञान ऋक्, यजु, साम और अथर्व हैं।

---

(२) परिशिष्ट

वेदों की पवित्र तथा उच्च शिक्षा का नमूना ।

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम् ॥ ऋग्वेद अ० १ । अ० २ । व । ७ । मं० ५ ॥

जैसे प्राणी सूर्य्य के प्रकाश में शुद्ध नेत्रों से मूर्तिमान् पदार्थों को देखते हैं वैसे ही विद्वान् लोग निर्मल विज्ञान से विद्या वा श्रेष्ठ विचार युक्त अपने शुद्धात्मा में जगदीश्वर को सब आनन्दों से युक्त और प्राप्त होने योग्य मोक्षपद को देखकर प्राप्त होते हैं ।

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा । प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी । यजुर्वेद अ० ८ । मन्त्र ३६ ॥

जिस परब्रह्म से दूसरा कोई भी उत्तम पदार्थ नहीं है जो सब जगह व्यापक हो रहा है वही सब जगत् का पालन-कर्त्ता और अध्यक्ष है उसी ने अग्नि सूर्य्य और बिजुली इन तीन ज्योतियों को प्रजा के प्रकाश के लिये रचा है वही षोडश-कला युक्त जगत् का स्वामी है ।

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियञ्जिन्वमवसे हूमहे वयम् । पूषानो यथा वेदसामसद्वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये ॥ ऋग्वेद अ० १ । अ० ६ । व० १५ । मं० ५ ॥

जो सब जगत् का बनाने वाला है जो चेतन और जड़ जगत् का राजा और पालन कर्त्ता है जो मनुष्यों को बुद्धि और आनन्द से तृप्त करने वाला है उस की हम लोग अपनी रक्षा के लिये प्रार्थना करते हैं सब सुखों से पुष्ट करने वाले जिस प्रकार आप हमारे सब सुखों के बढ़ाने वाले हैं वैसे ही रक्षा भी करें ।

सनो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा । यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥ यजु० अ० ३२ । मन्त्र १० ॥

जिस जीव और प्रकृति से विलक्षण आधार रूप जगदीश्वर में मोक्ष सुख को प्राप्त हुए विद्वान् लोग सर्वत्र अपनी इच्छा पूर्वक विचरते हैं जो सब लोक लोकान्तरों और जन्म स्थान नामों को जानता है वह परमात्मा हमारे भाई के तुल्य मान्य

सहायक और सब जगत् का उत्पन्न करने हारा है तथा वही सब पदार्थों और कर्म फलों का विधान करने वाला है ।

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च । उपास्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि संविवेश ॥ यजुर्वेद अ० ३२ । मंत्र ११॥

जो परमेश्वर आकाशादि सब भूतों में तथा सूर्य्यादि सब लोकों में व्याप्त हो रहा है और जो पूर्वादि दिशाओं तथा आग्नेयादि उपदिशाओं में भी निरन्तर भरपूर हो रहा है जिस की व्यापकता से एक अणु भी रिक्त (खाली) नहीं है जो अपने भी सामर्थ्य का आत्मा है और जो कल्पादि में सृष्टि की उत्पत्ति करने वाला है उस आनन्द स्वरूप परमेश्वर को जो जीवात्मा अपने सामर्थ्य मन से यथावत् जानता है वही उस को प्राप्त होके मोक्ष सुख को भोगता है ।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् । तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ यजु० अ० ३१ । मं० १८

मैं इस महान् व्यापक स्वप्रकाश स्वरूप अज्ञानान्धकार रहित परमात्मा को जानता हूं । उसी को जान के दुखदाई मरण को मनुष्य उल्लंघन कर जाता है । मोक्ष की प्राप्ति के लिये सिवाय उस परमात्मा के ज्ञान के अन्य कोई मार्ग नहीं है ।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य वाह्यतः॥ यजुर्वेद अ० ४० । मं० ५ ॥

परमात्मा सम्पूर्ण लोकों को चला रहा है परन्तु आप निष्कम्प है । वह दूर से दूर वर्तमान और अत्यन्त निकट भी है वह सब जगत् के भीतर व्यापक हो रहा है और सब जगत् के बाहर भी व्यापक है ।

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ यजुर्वेद अ० ४० । मं ८ ॥

वह परमात्मा सब में व्यापक शीघ्रकारी सर्व शक्तिमान्, स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से रहित, छिद्र रहित और अच्छेद्य, नाड़ी आदि के साथ सम्बन्ध रूप बन्धन से रहित, अविद्यादि दोषों से रहित होने से सदा पवित्र, जो पापयुक्त पापकारी अथवा पाप में प्रीति करने वाला कभी नहीं होता' जो सर्वज्ञ, सब जीवों के मनों की वृत्तियों को जानने वाला, दुष्ट पापियों का तिरस्कार करने वाला, अनादि

स्वरूप जिस की संयोग से उत्पत्ति वियोग से विनाश नहीं होता, जो माता पिता गर्भवास जन्म वृद्धि मरण को प्राप्त नहीं होता वह परमात्मा, सनातन अनादि स्वरूप अपने २ स्वरूप से उत्पत्ति विनाश रहित जीव रूप प्रजाओं के लिये यथावत् अर्थो ज्ञानों का उपदेश वेद द्वारा करता है ।

---

(३) परिशिष्ट

यहां निदर्शन रूप कतिपय ऐसे वेद मन्त्रों के आशय प्रकाशित किये जाते हैं जिन के वास्तविक अर्थ न समझ कर यूरोपीय विद्वानों ने ऐतिहासिक अर्थ किये हैं ।

प्रनू महित्वं वृषभस्य वोचं यं पूरवो वृत्रहणं सचन्ते । वैश्वानरो दस्युमग्नि-र्जघन्वाँ अधूनोत्काष्ठा अव शम्बरं भेत् ॥ ऋग्वेद । मण्डल । १ । सूक्त । ५९ । मन्त्र ६ ॥

इस का अर्थ प्रोफ़ेसर मैक्समूलर सम्पादित सैक्रेडबुक्स आफ दि ईस्टसेरीज़ के "वैदिक हिम्स" नामक ग्रन्थ भाग २ के पृष्ठ ५९ में इस प्रकार लिखा हुआ है:—

अब मुझे उस बैल की महानता की घोषणा करने दो जिसे शत्रुओं का नाशक समझ पुरुवंशी पूजते हैं । अग्निवैश्वानर ने दस्यु को मार कर वायु मण्डल को कंपा दिया और शम्बर (राक्षस) को काट डाला *

योरोपीय विद्वानों ने इस वेद मन्त्र में आए हुए "वृषभस्य" शब्द का अर्थ "सर्वोत्कृष्टस्य" अर्थात् "सब से उत्तम" न समझ कर इस का अर्थ "बैल" कर दिया । इसी प्रकार "पूर्व का अर्थ जैसा कि निघण्टु—कर्त्ता यास्क—महर्षि ने "पूर्व इति मनुष्य नाम, निघं० २ । ३" मनुष्य किया है वैसा न समझ कर "पुरुवंशी" किया । और वैसे हीं "शम्बरम्" का अर्थ यास्काचार्य्य ने "शम्बरमिति मेघ नाम, निघं० १।१०" जो मेघ किया है वह न जान कर उस का अर्थ "शम्बर" नाम कल्पित राक्षस कर दिया है । और इस प्रकार इस वेद मन्त्र से एक इतिहास निका-

---

* Let me now proclaim the greatness of the bull whom the Purus worship as the destroyer of enemies. Agni Vaisvanara, having slain the Dasyu, shook the (aerial) arena and cut down Sambara. (Sacred Books of the East, Vedic Hymns, Part 2. P. 49.)

लने का यत्न किया है । परन्तु वास्तव में यह वेद मन्त्र परमात्मा की महिमा का द्योतक है यथाः—

उक्त वेद मन्त्र का सत्यार्थ

जिस परमेश्वर को विद्वान् मनुष्य अपने आत्मा के साथ युक्त करते हैं वही स्वप्रकाश स्वरूप परमात्मा मेघों के नाश कर्त्ता सूर्य्य की तरह सम्पूर्ण पदार्थों को दिखाते हैं अर्थात् सब का ज्ञान प्रदान करते हैं । जिस प्रकार सूर्य्य डाकू रूप मेघों को मारता, कम्पायमान करता और उन्हें छिन्न भिन्न कर देता है उसी प्रकार परमात्मा दुष्टों को दण्ड देते हुए अविद्यान्धकार का नाश करते हैं । जिस परमात्मा के बीच सर्व दिशाएं भी व्याप्य हैं उस सर्व–व्यापक सर्वोत्कृष्ट परमात्मा की महिमा को हम भली भांति शीघ्र वर्णन करें ।

बोधद्यन्मा हरिभ्यां कुमारः साहदेव्यः । अच्छा न हूत उदरम् ॥ ऋग्वेद । मण्डल ४ । सूक्त १५ । मन्त्र ७

उत त्या यजता हरी कुमारात्साहदेव्यात् । प्रयता सद्य आददे ॥ ऋ० । मण्ड० ४ । सू० १५ मं० ८

एष वां देवावश्विना कुमारः । साहदेव्याः । दीर्घायुरस्तु सोमकः ॥ ऋ० । मण्ड० ४ । सू० १५ मं० ९

ऋग्वेद मण्डल ४, सूक्त १५ के इन ७, ८, ९ संख्या वाले तीन मन्त्रों का अर्थ, प्रोफेसर मैक्समूलर सम्पादित "सेक्रेडबुक्स आफ दि ईस्ट" सिरीज़ के "वैदिक हिम्स" नामक ग्रन्थ भाग २ के पृष्ठ ३६० में इस प्रकार लिखा हुआ है;—

जब सहदेव के पुत्र उस राजकुमार ने दो लाल घोड़ों के साथ (दो लाल घोड़े देने की इच्छा से) मेरा स्मरण किया (तब) मैं उस पुरुष की तरह खड़ा हो गया जो बुलाया गया हो (अर्थात् जिसे आने के लिये किसी ने पुकारा हो *

और मैंने सहदेव के पुत्र उस राजकुमार से, उन दो पूजनीय लाल घोड़ों को जिन्हें उस ने मुझे दिया, अति शीघ्र ग्रहण कर लिया †

---

* When Sahdeva's son, the prince, thought of me with two bay horse, I rose up like one who is called. (Sacred Books of the East, Vedic Hymns, Part 2, P. 360.)

† And immediately I accepted from Sahdeva's son, the prince, those adorable two bay horses which he offered me. (Sacred Books of the East. Vedic Hymns, Part 2. P-360)

हे अश्विन देवताओ ! सहदेव का पुत्र यह सोमक नामक राजकुमार, आप के लिये, दीर्घजीवी हो *

योरोपीय विद्वानों ने इन वेद मंत्रों में आये हुए साहदेव्याः शब्द का अर्थ "ये देवैः सह वर्त्तन्ते" अर्थात् "जो विद्वानों के साथ रहने वाले हैं" न जान कर इस शब्द का "सहदेव नामक राजा विशेष का पुत्र" अर्थ ग्रहण किया है । "आश्विनौ शब्द का अर्थ "सर्व विद्या-व्यापिनौ" अर्थात् सम्पूर्ण विद्याओं में व्याप्त अर्थात् "सब विद्याओं के जानने वाले" ऐसा न कर के इस शब्द का "अश्विन" नामक "कल्पित देवता गण" अर्थ किया है । "सोमक" शब्द का अर्थ है सोम इव शीतल स्वभावः" अर्थात् चंद्रमा के सदृश शीतल स्वभाव वाला परन्तु इस का अर्थ योरोपीय विद्वानों ने "कल्पित राजा—सहदेव के कल्पित पुत्र सोमक नामक राजकुमार" किया है । इसी कारण इन वेद मन्त्रों के अर्थ योरोपीय विद्वान् न समझ सके और इन से इतिहास निकालने लगे ।

उक्त वेद मन्त्रों के सत्यार्थ ।

इन वेद मन्त्रों के द्वारा परमात्मा ने अध्यापक तथा उपदेष्टा और उन के ब्रह्मचारियों को उन के कर्तव्यों का उपदेश दिया है जो कि इस प्रकार है—

ब्रह्मचारी अपने अध्यापक से निवेदन करे "हे अध्यापक ! मैं विद्वजनों का साथी कुमार (ब्रह्मचारी) हूं मैं प्रशंसित रीति से जिन बातों को न जानता होऊं उन का अच्छे प्रकार उत्तम बोध दीजिये ताकि (द्रुत गामी) घोड़ों की सहायता से शीघ्र चलने वाले पुरुष की तरह पठन और अभ्यास की सहायता से मैं शीघ्र विद्या को पार हो जाऊं ।

(इस निवेदन के सुनने पर)

विद्या दाता तथा अविद्या के हरण करने वाले प्रयत्नवान् अध्यापकोपदेशक को उचित है कि वे विद्वानों के सहवर्त्ती कुमार (ब्रह्मचारी) से विद्याध्ययन की प्रतिज्ञा ग्रहण करें और ब्रह्मचारी उन से शीघ्र २ विद्या ग्रहण करने लगे ।

(तब)

हे विद्वानो ! सब विद्याओं में व्याप्त आप अध्यापकोपदेशक को उचित है कि

* May this prince Somaka, Sahdeva's son, live long, for your sake, O divine Asvins. (Sacred Books of the East. Vedic Hymns, Part, 2. P. 360)

उन विद्वानों के सहवर्त्ती चन्द्रमा सदृश शीतल स्वभाव वाले कुमार ब्रह्मचारी के लिये ऐसा यत्न करें कि वह बहुकाल पर्यन्त जीने वाला होवे ।

मये में बन्ध्वेसे गां वोचन्त सूरयः पृश्निं वोचन्त मातरम् अधा पितरमिष्मिणं रुद्रं वोचन्त शिक्वसः ॥ ऋग्वेद मण्डल ५ । सूक्त ५९ । मंत्र १६ ।

इस का अर्थ प्रोफ़ेसर मैक्समूलर सम्पादित सैक्रेड बुक्स आफ़ दी ईस्ट सेरीज़ के वैदिक हिम्स नामक ग्रन्थ भाग १ के पृष्ठ ३१३ में इस प्रकार लिखा हुआ है:—

उन बुद्धिमान्, स्वामी, मरुतों ने, जब कि उन के सम्बन्धियों के विषय में अन्वेषण, खोज पूछ पाछ हुई तो मुझ से गाय के विषय में कहा और कहा कि पृश्नी उन की माता है और बलवान् रुद्र उन के पिता हैं *

योरोपीय विद्वानों ने इस वेद मंत्र में आए हुए "बन्ध्वेषे" शब्द का अर्थ जो "inquiry for their kindred अर्थात् उन के सम्बन्ध (रिश्तेदारी) के विषय में पूछ पाछ" किया है वह ठीक नहीं । इस का अर्थ है "बन्धूनामिच्छायै" अर्थात् "बन्धुओं की इच्छा के लिये" अर्थात् ऐसी इच्छा के लिये शुभ कामना के लिये, जो मनुष्यों को अपना बन्धु अर्थात् प्रेमी बनाने के लिये है । यह वास्तविक अर्थ न जानने से ही योरोपियों ने इस वेद मंत्र में आए हुए अन्तरिक्ष वाचक "पृश्नी" शब्द से स्त्री विशेष और दुष्टों को भय-प्रद वाचक "रुद्र" शब्द से पृश्नी के पति रुद्र नामक पुरुष विशेष का अर्थ ग्रहण कर लिया है ।

उक्त वेद मंत्र का सत्यार्थ ।

परमात्मा उपदेश करते हैं:—

"जो विद्वज्जन बन्धुओं की इच्छा के लिये (मनुष्यों को अपना बन्धु, स्नेही, प्रेमी, अपने समान बनाने के लिये) मेरी वाणी (वेद) को उत्तम प्रकार कहते अर्थात् वेद का भली भांति उपदेश करते हैं, जो पृश्नि अर्थात् अन्तरिक्ष विषय को बतलाते हैं तथा जो माता के विषय में उपदेश करते और शक्ति-शाली पिता के

---

* They, the wise Maruts, the lords, who, when there was inquiry for their kindred, told me of the cow, they told me of Prisni as their mother, and of the strong Rudra as their father (Sacred Books of the East, Vedic Hymns, Part 1. P. 313)

विषय में तथा दुष्टों का दण्ड देने वाले न्यायाधीश रुद्र के विषय में अथवा जो प्यारी माता के समान स्नेही, शक्ति-शाली पिता के समान रक्षक तथा न्यायाधीश रुद्र के समान दुष्टों को दण्ड देने वाले परमात्मा के विषय में उपदेश करते हैं वे सत्कार के योग्य हैं ! ”
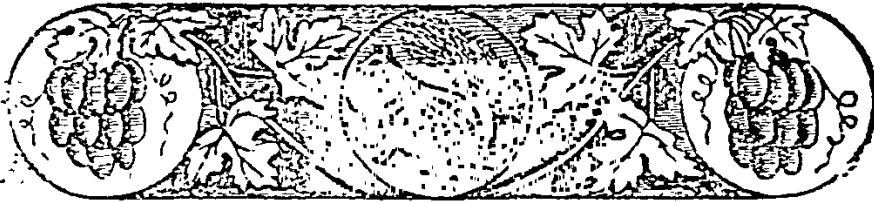
दूसरा भाग

ब्राह्मण ग्रन्थों के समय का इतिहास

प्रथम परिच्छेद

ब्राह्मण ग्रन्थों का समय-उस समय का साहित्य।

आज से प्राय: दो सहस्र वर्ष पूर्व योरोप महादेश का तीन चौथाई भाग प्रायः जाङ्गलिक था। यूनान से रोमादि देशों तथा योरोप के अन्यान्य भागों में क्रमशः दो सहस्र वर्षों के भीतर ही विद्या (विशेष कर प्राकृतिक विद्या) इतनी फैल गई कि लोग आज कल योरोप को सर्व शिरोमणि मानने लग गए हैं। अत: अनुमान करना चाहिये कि वर्तमान सृष्टि की आदि में (जिसका समय एक अर्व छियानवे करोड़ वर्षों से भी अधिक व्यतीत हो चुका है) जब कि वेदों की अनुपम शिक्षा को अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा, नाम ऋषियों ने और उन के बाद ब्रह्मादि ऋषियों ने प्रचरित किया होगा तो थोड़े ही दिनों में कितनी उन्नति हुई होगी ! सैकड़ों मन्त्र द्रष्टा ऋषि और ऋषिपत्नियां वा ऋषिकन्याएं विशेष २ मन्त्रों के भावों के सुप्रचार के कारण ही जब कि उन २ मन्त्रों के ऋषि (प्रचारक) कहलाए तब कोई भी शङ्का नहीं कर सकता कि वर्तमान सृष्टि के आरम्भ में वेदों के प्रकाशित होने के पश्चात् वैदिक धर्म का सुप्रचार न हुआ। वैदिक धर्म की थोड़ी सी शिक्षा ग्रहण करने से जब कि हम लोगों का डांवाडोल हृदय शान्ति की ओर जा रहा है तो अनुमान करना चाहिये कि जिस समय वेदों की ११२७ ग्यारह सौ सत्ताईस शाखाओं का पठन पाठन प्रचरित होगा उस समय के मनुष्य कैसी सौन्दर्यपूर्ण सभ्यता को प्राप्त होंगे।

इन क्रोड़ों वर्षों के भीतर कितने ग्रन्थ बने कितने ब्रह्मर्षि और राजर्षि मनुष्य समाज को कितना उन्नत कर गए इस का ठीक २ पता लगाना अत्यन्त कठिन है। मानव-समाज के सौभाग्य से इतने विप्लवों के पश्चात् भी चारों वेद तो ज्यों के त्यों हमें मिले ही परन्तु हर्ष की बात है कि वेदों के अर्थ बोधन कराने वाले तथा नाना प्रकार के इतिहासों से पूरित अति प्राचीन ब्राह्मण नामक ग्रन्थ भी हमें मिल गए। आज कल आर्षेय-ब्राह्मण, दैवत ब्राह्मण, मन्त्रोपनिषद्-ब्राह्मण संहितोपनिषद्-ब्राह्मण,

वंश-ब्राह्मण, महा-अद्भुतब्राह्मणादि नामों से प्रसिद्ध जो अनेक ग्रन्थ मिलते हैं जिन में थोड़े सत्य के साथ वेद-विरुद्ध अनेक प्रकार की बातें भरी पड़ी हैं वे वास्तव में ब्राह्मण नहीं हैं क्योंकि इन ग्रन्थों में ब्राह्मणों के पूरे गुण नहीं मिलते । प्रामाणिक-ब्राह्मण केवल चार हैं । ऋग्वेद सम्बन्धी ऐतरेय ब्राह्मण, यजुर्वेद सम्बन्धी शतपथ-ब्राह्मण, सामवेद सम्बन्धी साम-ब्राह्मण तथा अथर्ववेद सम्बन्धी गोपथ-ब्राह्मण ॥

किसी २ का जो यह कथन है कि ऐतरेय-ब्राह्मण के कर्त्ता इत्तरा के पुत्र केवल महिदास ऐतरेय हैं, शतपथ के बनाने वाले केवल याज्ञवल्क्य ऋषि हैं, और इसी प्रकार साम-ब्राह्मण तथा गोपथ-ब्राह्मण के बनाने वाले भी एक एक ही ऋषि हैं वह प्रमाणों से पुष्ट नहीं होता । वास्तव में ब्राह्मणों के बनाने वाले केवल चार ही नहीं प्रत्युत अनेक ऋषि हैं । और सम्भव है कि इन के किन्हीं २ भागों के बनने में भिन्न भिन्न समय भी लगे हों तथा पीछे से भी इन में कुछ प्रक्षेप किया गया हो ।

इन ब्राह्मणों के विषय में योरोपीय विद्वानों की पहले सम्मति थी कि इन को बने ३५०० पैंतीससौ वर्षों से अधिक व्यतीत नहीं हुए परन्तु इस विषय में क्रमशः ज्यों २ अधिकतर अन्वेषण होता गया त्यों त्यों उक्त विद्वानों की सम्मति बदलती गई और ब्राह्मण ग्रन्थों के भीतर ही जो ज्योतिष सम्बन्धी बातें लिखी हैं उन से अब निश्चित रूप से सिद्ध हो गया कि ब्राह्मण ग्रन्थों के अनेक भाग कम से कम १२००० बारह सहस्र वर्ष पूर्व के बने हुए हैं । हमारा विश्वास है कि ब्राह्मणों की जितनी आलोचना होगी उतने हीं वे अधिकतर प्राचीन सिद्ध होते जायेंगे ।

अनादि वेदों के प्रकाश के पश्चात् संस्कृत-साहित्य में क्रमशः कौन २ से और कितने ग्रन्थ बने इस का यद्यपि ठीक २ निर्णय होना अब कठिन है तदपि हम इतना अनुमान कर सकते हैं कि वर्तमान काल में संस्कृत-साहित्य में जितने ग्रन्थ मिलते हैं उन सब में प्रायः ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ-ब्राह्मण विशेष प्राचीन हैं परन्तु शतपथ-ब्राह्मण में जो यह लिखा है "यत्किञ्चिन्मनुरवदत् तद् भेषजम्-भेषजतायाः" अर्थात् जो कुछ मनु कहते हैं वह औषधियों की भी औषधि है इस से बोध होता है कि मनु की शिक्षा इन ब्राह्मण-ग्रन्थों के निर्माण के पूर्व भी वर्तमान थी । साम-ब्राह्मण के छान्दोग्य-भाग, प्रपाठक ३, खण्ड ११, प्रवाक् ४ से भी ज्ञात होता है कि इन ब्राह्मण-ग्रन्थों से पूर्व ब्रह्मा, प्रजापति तथा मन्वादि की शिक्षाएं फैल रही थीं । ब्राह्मणों के समय में भी विशेष २ ऋषि तथा उन के शिष्यों

के द्वारा वैदिक-मन्त्रों के किए कतिपय व्याख्यानों (जिन्हें वेद की शाखाएं कहते थे) से वैदिक-धर्म्म का प्रचार हो रहा था ।

गोपथ-ब्राह्मण पूर्व भाग के प्रथम प्रपाठक में जहां ओङ्कार के विषय में छत्तीस ३६ प्रश्न हैं वहां अन्यान्य प्रश्नों के साथ यह भी पूछा गया है "किं वै व्याकरणम् (इस "ओ३म्" के विषय में व्याकरण क्या कहता है ?), शिक्षका: किमुच्चारयन्ति? (शिक्षक लोग इस का उच्चारण किस प्रकार करते हैं ?) किं छन्द:? (इस विषय में छन्द का मत क्या है?), किं ज्योतिषम् ज्योतिष का मत इस विषय में क्या है?), किं निरुक्तं ? (निरुक्त का मत इस विषय में क्या है ?) । इन्हीं प्रश्नों के साथ कल्प-विषयक भी प्रश्न है । इन प्रश्नों का सविस्तर उत्तर देते हुए व्याकरण के मतानुसार बतलाया है कि "ओ३म्" शब्द "आप्लृ" धातु अथवा "अव" धातु से बना है और आगे चल कर लिखा है कि "ओ३म्" अव्यय भी है और अव्यय किसे कहते हैं इस के लिये निम्नलिखित श्लोक प्रमाण रूप से उद्धृत किया है:—

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु
वचनेषु च सर्वेषु यन्नव्याति तदव्ययम् ।

अर्थात् जो तीनों लिङ्ग, सब विभक्तियों तथा सब वचनों में भी परिवर्तित नहीं होता उसे "अव्यय" कहते हैं ।

इन सब के देखने से ज्ञात होता है कि गोपथ-ब्राह्मण के समय से पूर्व कोई संस्कृत-व्याकरण श्लोक-बद्ध भी था तथा वेदों के शेष पांच अङ्ग शिक्षा, कल्प, निरुक्त छन्द और ज्योतिष भी वर्त्तमान थे । साम-ब्राह्मण के छान्दोग्य-भाग प्रपाठक ७,खण्ड १, प्रवाक २ के पढ़ने से जहां महर्षि सनतकुमार और नारद का सम्वाद है यह भी पता लगता है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों के समय से पूर्व अनेक-प्रकार की विद्याएं पढ़ाई जाती थीं । वहां सनत्कुमार के पूछने पर नारद ने बतलाया है कि उन्हों ने ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद,अथर्ववेद तथा निम्नलिखित विद्याएं भी पढ़ी है:—

"इतिहास, पुराण" (History)

"वेदानां वेदम् " अर्थात वेदों के अर्थ जिन विद्याओं से जाने जांय यथा व्याकरण, निरुक्तादि (Grammar & philology &c.)

" पित्र्यं " पितरों की सेवा सुश्रूषा द्वारा प्रसन्न रखने की विद्या (Anthropology)

"राशिम्" गणित-विद्या, मैथेमैटिक्स (Mathematics)

"दैवम्" उत्पात-विद्या यथा भूकम्प, जलप्लावन, विद्युतकोप, वायु कोप फ़िज़िकल-जियागरफ़ी (Physical Geography)

"निधिम्" खानों की विद्या, (Minerology)

"वाको वाक्यम्"तर्क शास्त्र, लाजिक (Logic)

"एकायनम्" नीति-विद्या, Ethics)

"देवविद्याम्" ठीक २ नहीं कहा जा सकता कि यहां देव शब्द का क्या अभिप्राय है परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थ में जो आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, बिजली और हवन यज्ञ को तेतीस देव माना है यदि उन की व्याख्या देव-विद्या में हो तो निस्सन्देह यह विद्या बहुत बड़ी होगी जिस के अन्तर्गत सम्पूर्ण तत्व-विद्या यथा रसायन, शिल्पादि सभी होंगे और साथ ही मैटर वा तत्व से भिन्न चेतन-जीव की भी व्याख्या होगी (physical science)

"ब्रह्मविद्याम्"-जिस में ब्रह्म की व्याख्या हो । (Brahma vidya)

"भूतविद्याम्"—प्राणियों की विद्या अर्थात प्राणियों के प्रकार वर्णन तथा उनकी रचनादि (Zoology, Anatomy etc.)

"क्षत्रविद्याम्"-धनुर्विद्या तथा राजशासन विद्या (Military science & Art of Government.)

"नक्षत्रविद्याम्"-ज्योतिष स्ट्रानामी (Astronomy)

"सर्पदेवजनविद्याम्"-का तात्पर्य्य ठीक २ ज्ञात नहीं होता परन्तु सम्भव है कि इस में सर्पों के विष दूर करने की विद्या तथा देव और जन से सम्बन्ध रखने वाली अनेक प्रकार की विद्याओं का वर्णन हो । (Science treating of venomous reptiles etc.)

यद्यपि ऊपर गोपथ के प्रमाण से हम ने बतलाया है कि गोपथ के निर्माण के पूर्व भी निरुक्त वर्तमान था परन्तु इस से यह परिणाम निकालना ठीक नहीं कि महर्षि यास्क का वर्तमान वैदिक-कोष अर्थात् निरुक्त ब्राह्मणों के पहले था, क्योंकि महर्षि यास्क अपने निरुक्त के अध्याय ९ में लिखते हैं "इत्यपि निगमो भवति"इतना निगम अर्थात् वेद है तथा "इति ब्राह्मणम्" अर्थात् इतना ब्राह्मण है । जब कि महर्षि यास्क अपने ग्रन्थ में ब्राह्मणों का वर्णन करते हैं तो यास्कीय-निरुक्त ब्राह्मणों से पूर्व का निर्मित सिद्ध नहीं हो सकता और इसी प्रकार श्रौत-सूत्र और गृह्य-सूत्र

भी ब्राह्मणों से पूर्व के नहीं हैं क्योंकि सूत्र-ग्रन्थों में ब्राह्मणों के विषय में लेख आते हैं यथा "ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसी रिति" अर्थात् ब्राह्मणों के नाम इतिहास, पुराण कल्प, गाथा और नाराशंसी भी हैं। यास्कीय निरुक्त में ब्राह्मणों के प्रमाणों के अतिरिक्त याज्ञिक और गाथकों के वचन भी आते हैं परन्तु याज्ञिक और गाथकों के ग्रन्थ कोन २ से थे इस का अब पता नहीं चलता यास्कीय निरुक्त में वर्तमान-श्रौत तथा गृह्य-सूत्रों का प्रमाण नहीं आता इस से अनुमान होता है कि वर्तमान श्रौत तथा ग्रह्य-सूत्र यास्कीय निरुक्त के पीछे बने हैं परन्तु वर्तमान षड्दर्शन सूत्र कब बने इस का निर्णय करना अत्यन्त कठिन है। महर्षि कपिल का सांख्य तो अति प्राचीन है। वैशेषिककार कणाद महर्षि भी बहुत पुराने हैं। महर्षि गौतम का न्याय सूत्र वात्स्यायन ऋषि के पूर्व था। महर्षि पतञ्जलि का योगदर्शन महर्षि व्यास के समय अर्थात् महाभारत-युद्ध के समय से (जिसे हम आगे चलकर सिद्ध करेंगे कि प्रायः ५००० पांच सहस्र वर्ष पूर्व हुआ था) पहले बना था क्योंकि उस पर महर्षि व्यास का भाष्य है। उत्तर-मीमांसा (वेदान्तसूत्र) के कर्त्ता महर्षि व्यास तथा पूर्व मीमांसा के कर्त्ता महर्षि जैमिनि समकालीन थे। पूर्व कथित प्रमाणों से सिद्ध होता है कि वेदों के अङ्ग तथा उपाङ्ग उपवेद तथा अन्यान्य विद्याएं बहुत प्राचीन काल से चली आती हैं परन्तु उन का अति-प्राचीन रूप अब प्रायः दृष्टि गोचर नहीं होता वह सब विद्याएं अब प्रायः परिवर्तित शब्दों में वर्णित दिखाई देती हैं। कतिपय विद्याएं (यथा धनुर्वेद, शिल्प वेदादि) तो अब नाम मात्र रह गई हैं। अंगिरा, और भारद्वाज की शस्त्रास्त्र-विद्या अब कहीं भी नहीं मिलती। विश्वकर्म्मा, त्वष्टा, देवज्ञ तथा "मय" कृत शिल्प-शास्त्र का कहीं भी पता नहीं है। तात्पर्य्य यह है कि अनेक घोर विप्लवों ने विद्या सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों को विनष्ट कर दिया है मानों संसार के शुभ चिन्तक सैकड़ों ऋषियों के सैकड़ों वर्षों के परिश्रमों से बने सहस्रों ग्रन्थ छार हो गए हैं, शोक ! *

अब हम इस ग्रन्थ में ब्राह्मणों के समय के इतिहास के पीछे सूत्रों के समय का इतिहास लिखेंगे तदनन्तर क्रमशः अन्यान्य समयों के इतिहास लिखे जांयगे।

---

* तबक़ाते नासरी में लिखा है कि कुतुबुद्दीन ऐबक पादशाह के ज़माने में जब शहर बिहार फ़तह हुआ तो एक लाख के क़रीब तो सिर्फ ब्राह्मण ही क़तल किए गये थे और हिन्दुओं का एक कदीमी कुतुबख़ाना जिस में बहुत पुरानी २ किताबें मौजूद थीं दिया गया।

अब विचारना चाहिये कि ब्राह्मणों में किन २ विषयों का वर्णन है। ब्राह्मणों में सम्वाद रूप से जीवों को सद्गति देने वाली ब्रह्म-विद्यादि का वर्णन है यथा महर्षि याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का सम्वाद। वहां महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी स्त्री मैत्रेयी से कहते हैं कि हे मैत्रेयी! "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोन्तरोयमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम् आत्मनोन्तरोयमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः" (शतपथ-ब्राह्मण) जो परमेश्वर आत्मा अर्थात् जीव में स्थित और जीवात्मा से भिन्न है जिस को मूढ़ जीवात्मा नहीं जानता कि वह परमात्मा मेरे में व्यापक है, जिस परमात्मा का जीवात्मा शरीर अर्थात् जैसे शरीर में जीव रहता है वैसे ही जीव में परमेश्वर व्यापक है, जीवात्मा से भिन्न रह कर जीव के पाप पुण्यों का साक्षी हो कर उन के फल जीवों को देकर नियम में रखता है, वही अविनाशी स्वरूप तेरा भी अन्तर्यामी आत्मा है अर्थात् तेरे भीतर व्यापक है उस को तू जान। इस प्रकार के सम्वाद गाथा नाम से प्रसिद्ध हैं। ब्राह्मणों में इतिहास हैं यथा देवासुरसंग्रामादि का वर्णन। ब्राह्मणों में जगत की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय का वर्णन है जिसे पुराण कहते हैं। ब्राह्मणों में अनेक वेद-मन्त्रों के अर्थ लिखे हैं, अनेक द्रव्यों के गुणों का वर्णन है जिसे कल्प कहते हैं। ब्राह्मणों में यज्ञों का विस्तार पूर्वक वर्णन है। गोपथ ब्राह्मण में लिखा है कि अग्न्याधेय, पूर्णाहुति, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास्य, पशुबन्ध, अग्निष्टोम, राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध पुरुषमेध, सर्वमेध, दक्षिणावन्त, तथा सहस्रदक्षिणा नामक यज्ञ क्रमशः किए जाते हैं, "स य एवमेतान् यज्ञ क्रमान्वेद यज्ञेन स आत्मा स लोको भूत्वा देवानप्योति" (गोपथ पूर्व भाग, प्रपाठक ५) जो कोई क्रमशः कहे हुए इन यज्ञों की विधी को जानता है वह पुरुष यज्ञ द्वारा सुप्रसिद्ध होता हुआ दिव्य गुणों को प्राप्त हो जाता है। वेदों में जिन धर्म्मों का उपदेश है तथा जिन पदार्थों का वर्णन है उन को जान कर कौन २ मनुष्य उत्तम वना तथा धर्म्म विरुद्ध चल कर वा पदार्थ विज्ञान रहित होकर कौन २ दुखी हुआ ब्राह्मणों के इस वर्णन को नाराशंसी कहते हैं। इसी नाराशंसी में कतिपय मनुष्यों की संक्षिप्त जीवनी भी है।

अनेक विद्वानों का मत है कि ब्राह्मण-ग्रन्थ और आरण्यक-ग्रन्थ भिन्न २ हैं परन्तु वहुतों की सम्मति यह है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों के अन्तिम भागों को ही आरण्यक कहते हैं, यथा शतपथ-ब्राह्मण के अन्त में वृहदारण्यक रक्खा हुआ है।

जितनी प्रामाणिक उपनिषदें हैं उन में से ईशोपनिषद तो यजुर्वेद का चालिसवां

अध्याय है । शेष उपनिषदों में से कतिपय उपनिषद् तो आरण्यकों से निकली हैं और कतिपय वेदों की जो ११२७) ग्यारहसौ सत्ताईस शाखाएं प्रचरित थीं उन में से निकली हुई हैं ।

प्रामाणिक उपनिषद् दश हैं जिन के नाम हैं "ईश, केन कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक । "

इन में से (१) "ईश वा ईशावास्य वा वाजसनेय संहितोपनिषद् यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय है । (२) केन वा तलवकारोपनिषद् सामवेद की किसी प्राचीन शाखा से निकली है, साम-ब्राह्मण के आरण्यक में यह विद्यमान नहीं है क्यों कि सामब्राह्मण का आरण्यक छान्दोग्योपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध है (३) कठ, कठ-वल्ली वा काठकोपनिषद् यजुर्वेद की कठशाखा से निकली है (४) प्रश्नोपनिषद् अथर्ववेद की किसी प्राचीन शाखा से निकली है क्योंकि अथर्ववेद का जो गोपथ-ब्राह्मण है उस में प्रश्नोपनिषद् वर्तमान नहीं है । हां यदि प्रश्नोपनिषद् गोपथ का आरण्यक सिद्ध हो जाय और गोपथ से सदा पृथक् वर्तमान मानी जाय तो इस अथ-र्ववेदीय-ब्राह्मण को आरण्यक कह सकेंगे । (५) मुण्डकोपनिषद् भी अथर्ववेद की किसी प्राचीन शाखा से निकली है। गोपथब्राह्मण में इस का भी कहीं पता नहीं है । (६) माण्डूक्योपनिषद् अथर्ववेद की माण्डूक्य शाखा से निकली है । (७) ऐतरेय उपनिषद् ऐतरेय ब्राह्मण का आरण्यक भाग माना जाता है परन्तु ऐतरेय ब्राह्मण के नाम से जो ग्रन्थ छपा हुआ है उस में यह आरण्यक भाग नहीं मिलता प्रत्युत यह आरण्यक, उपनिषद् नाम से ही प्रसिद्ध पृथक मिलता है । (८) तैत्तिरीय उपनिषद् यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से निकली है । (९) छान्दोग्यो-पनिषद् सामवेद के साम ब्राह्मण (जिस का नाम ताण्ड्य-महाब्राह्मण भी है) का आरण्यक भाग है परन्तु २५ प्रपाठकों का जो ताण्ड्य ब्राह्मण है उस का भाग यह नहीं है प्रत्युत २५ प्रपाठक ताण्ड्य तथा ८ प्रपाठक छान्दोग्य कुल ३३ प्रपाठकों का जो ताण्ड्य महाब्राह्मण है उस का यह अन्तिम भाग है । (१०) बृहदारण्य-कोपनिषद् यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण का आरण्यक भाग है ।

इन दश उपनिषदों के अतिरिक्त कौषीतकी ब्रह्मणोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद् तथा मैत्र्युपनिषद् भी कुछ प्राचीन हैं एवं कुछ २ मान्य की दृष्टि से देखी जाती हैं क्यों-कि स्वामी शङ्कराचार्य्य ने वेदान्तदर्शन के अपने भाष्य में उक्त दश अति प्राचीन तथा उक्त तीन कुछ प्राचीन अर्थात् तेरहों उपनिषदों से प्रमाण उद्धृत किए हैं परन्तु

आप ने भाष्य केवल ईशादि दशोपनिषदों पर ही किया है । महर्षि दयानन्द ने भी अपने सत्यार्थप्रकाश तथा ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में मैत्र्युपनिषद् तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् के प्रमाण दिए हैं जिस से ज्ञात होता है कि वे दोनों उपनिषदें भी कुछ २ प्रामाणिक हैं परन्तु महर्षि ने भी जहां ग्रन्थ प्रामाण्याप्रामाण्य विषय लिखा है वहां केवल ईशादि दशोपनिषदों को ही प्रमाण-कोटि में रक्खा है ।

उक्त उपनिषदों के अतिरिक्त ऋग्वेदीय उपनिषदों के नाम से प्रसिद्ध आत्म-प्रबोध निर्वाण नादविन्दु आदि, यजुर्वेदीय उपनिषदों के नाम से प्रसिद्ध पैङ्गल तुरीय, निरालम्बादि, सामवेदीय उपनिषदों के नाम से प्रसिद्ध मैत्रायणी, कुण्डिका आरुणि आदि तथा अथर्ववेदीय उपनिषदों के नाम से प्रसिद्ध दत्तात्रेय, शरन, शाण्डिल्यादि जिन की संख्या लग भग डेढ़सौ होगी साम्प्रदायिक पक्षपातों तथा असम्भव गाथाओं से भरी पड़ी हैं जिस कारण वेद-विरुद्ध नवीन और अमान्य हैं ।

द्वितीय परिच्छेद ।

यज्ञ शब्द के अर्थ ।

पाश्चात्य विद्वानों और उनके भारतीय शिष्यों का सम्भ्रम-यज्ञ के धात्वर्थ—सृष्टि से शिक्षा—भारत के इतिहास और सामाजिक संगठन में यज्ञ शब्द का प्रयोग ।

ब्राह्मण ग्रन्थों के विषय में प्रसिद्ध योरोपीय विद्वान् वीबर लिखते हैं:—

"उनका (ब्राह्मण ग्रन्थों का) उद्देश्य पशुबध सम्बन्धी रीतियों और सूत्रों को रीति के साथ उनके परस्पर सम्बन्धों को जतला कर और उन के सांकेतिक सम्बन्ध बतलाकर, रीति के साथ जोड़ना है..........रीति को बतलाते समय यह बड़े विस्तार रूप से व्याख्या करते हैं..........इन में हम अधिक प्राचीन रीतियां, अधिक प्राचीन लोक कथाएं और अधिक प्राचीन दार्शनिक विचार पाते हैं ।"

पश्चिमीय विद्वान् जब कभी ब्राह्मण ग्रन्थों के विषय में अपनी सम्मति प्रकाशित करते हैं तो यही कहते हैं कि इन में पशुबध का विधान है अर्थात् विशेष २ पशुओं को मारकर उनके शरीर को नाना प्रकार से होम करने की विधि उक्त ग्रन्थों में लिखी हुई है । मैक्समूलर और वीबर का तो यह मत था ही, शोक है कि राजा-राजेन्द्रलाल मित्र तथा महाशय रमेशचन्द्रदत्त तथा अन्यान्य कतिपय भारतवासी भी इस विषय में उक्त यूरोपीय विद्वानों का अनुकरण कर लिख चुके हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थ में यज्ञों के निरर्थक विधियों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, कहीं तो यह लिखा है कि अमुक देवता को प्रसन्न करने के लिये अमुक पशु को अमुक प्रकार से हनन करके उसका हवन करना चाहिये, कहीं लिखा है कि अमुक इच्छा की पूर्ति के लिए अमुक ऋतु में वेदों के अमुक अध्याय का पाठ कर अमुक इष्ट देवता की आराधना करनी चाहिए इत्यादि ।

यदि भारतवर्ष के प्राचीन और नवीन सब विद्वानों की ब्राह्मणों के विषय में एकही सम्मति होती और बड़े २ दार्शनिक तथा विज्ञानी भी ब्राह्मण ग्रन्थों को तुच्छ दृष्टि से देखते तो हम भी उक्त ग्रन्थों को वैसा ही मानलेते । परन्तु हम देखते हैं कि भारतवर्ष के बड़े २ ऋषि इन ग्रन्थों को गहरी पूजा की दृष्टि से देख चुके हैं, छः दर्शनों में से एक मीमांसा दर्शन उनकी कठिनाइयों की व्याख्या के लिये लिखा गया, इस युग के सब से अधिक संस्कृत के विद्वान् महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती स्वतः-

प्रमाण वेदों के अनन्तर परतः प्रमाण जितने ग्रन्थ हैं उन में इन्हें प्रथम कोटि का बतला गए, आप लिखते हैं कि "धर्म्मात्मा योगी महर्षि लोग जब२जिस२के अर्थ की जानने की इच्छा करके ध्यानावस्थित हो परमेश्वर के स्वरूप में समाधिस्थ हुए तब तब परमात्मा ने अभीष्ट मन्त्रों के अर्थ जनाए, जब बहुतों के आत्मा में वेदार्थ प्रकाश हुआ तब ऋषि मुनियों ने वह अर्थ और ऋषि मुनियों के इतिहासपूर्वक ग्रन्थ बनाए उनका नाम ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्म जो वेद उस का व्याख्यान ग्रन्थ होने से ब्राह्मण नाम हुआ। अतः आवश्यक प्रतीत होता है कि हम दोनों पक्षों की परीक्षा करके निश्चय करें कि इन में से कौनसा पक्ष सत्य है। हमारा विश्वास है कि यदि यह निर्णय हो जावे कि "यज्ञ" शब्द के क्या अर्थ, हैं तो पुनः उक्त दोनों पक्षों के सत्यासत्य के समझने में बड़ी सुविधा हो जायगी।

* **यज्ञ**—बौद्धायन गृह्य परिभाषा सूत्र (१, १, २०—२३) में लिखा है:—

स चतुर्धा ज्ञेय उपास्यश्च—स्वाध्याय-यज्ञो जपयज्ञः कर्मयज्ञो मानसश्चेति। तेषां परस्पराद्दशगुणोत्तरो वीर्येण। ब्रह्मचारि-गृहस्थ-वनस्थ-यतीनाम् विशेषेण प्रत्येकशः। सर्व एवैते गृहस्थस्याप्रतिषिद्धाः क्रियात्मकत्वात्।

अर्थात् वह (यज्ञ) चार प्रकार का जानने तथा सेवन करने योग्य है। (वे चार प्रकार ये हैं) (१) स्वाध्याय-यज्ञ (अर्थात् अध्ययन, अध्यापनरूप यज्ञ) (२) जपयज्ञ (अर्थात् पढ़े पढ़ाए ग्रन्थों का बारम्बार पाठ अथवा परमात्मा के नामों का बारम्बार उच्चारण) (३) कर्म-यज्ञ (अर्थात् कर्मकाण्ड सम्बन्धी यज्ञ वा वे सब परोपकार सम्बन्धी कर्म जिन से प्राणियों को लाभ पहुंचे) (४) मानस-यज्ञ (मनवशी-करण, वा योग-साधन वा समाधि सम्पादन रूप यज्ञ)। इन (यज्ञों) में से प्रत्येक पिछला प्रत्येक पहले से दश गुण बलवान् है। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वान-प्रस्थ तथा संन्यासी के लिए प्रत्येक लाभकारी हैं। ये सब के सब निश्चय कर गृहस्थ के लिए अवर्जित हैं (अर्थात् इन में से प्रत्येक, गृहस्थ के करने योग्य हैं) यज्ञ सम्बन्धी इस वर्णन से तो यह सिद्ध नहीं होता कि यज्ञ उसे कहते हैं जिस में पशुओं के मांस से हवन किया जावे। क्योंकि गृहस्थ क्रियात्मक अर्थात् कर्मशूर है।

---

* "यज्ञ" विषयक विशेष लेख इस भाग के षष्ठ परिच्छेद में इस प्रश्न के उत्तर में कि "क्या प्राचीन आर्य्य गोमांस भक्षक थे?" देखिये, तथा नरमेध, अश्वमेध यज्ञ प्रकरण में भी देखिए।

"यज्ञ" शब्द " यज " धातु से निकला है जिस के विषय में महर्षि पाणिनि अपने धातु पाठ में लिखते हैं " यज देवपूजा संगतिकरण, दानेषु " अर्थात् यज धातु देव पूजा, संगतिकरण और दान अर्थ में प्रयुक्त होता है।

" देवपूजा " का अर्थ है देव का सत्कार करना अथवा देव से यथायोग्य उपकार लेना।

" संगतिकरण " का अर्थ है एकत्रित करना वा सम्मेलन करना।

" दान " का अर्थ है किसी वस्तु का देना अथवा दूसरों के उपयोग के लिये उपस्थित करना।

अतः " यज्ञ " शब्द का अर्थ हुआ "संगति और दान से देव पूजा करनी" अब यदि यह स्पष्ट हो जाय कि " देव " शब्द के क्या अर्थ हैं तो "यज्ञ" का अभिप्राय भी भली भांति समझ में आ जायगा।

" देव " शब्द दिवु धातु से निकला है। जिस के विषय में महर्षि पाणिनि अपने धातु पाठ में लिखते हैं " दिवु क्रीड़ा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न कान्ति, गतिषु" अर्थात दिवु (दिव) धातु क्रीड़ा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति और गति अर्थ में प्रयुक्त होता है।

क्रीड़ादि के अर्थ निम्नलिखित हैं:—

(१) क्रीड़ा—खेलना।

(२) विजिगीषा—विजय की इच्छा।

(३) व्यवहार—सामाजिक बर्ताव।

(४) द्युति—प्रकाश।

(५) स्तुति—प्रशंसा।

(६) मोद—आनन्द।

(७) मद—अपनी सत्ता का गर्व।

(८) स्वप्न—स्थूल गति वा बाह्य गति के अभाव में अन्तः विचार व अन्तः-कार्य्य।

(९) कान्ति—शोभा।

(१०) गति—ज्ञान, गमन, प्राप्ति।

अतः यज्ञ का भावार्थ हुआ मनुष्यों की सङ्गति वा शक्तियों के सम्मेलन से

सामाजिक आनन्द वृद्धि के लिए यत्न, प्राकृतिक शक्तियों तथा उन शत्रुओं पर जो आत्मा को गिराने वाले अर्थात् उन्हें नीच गति को लेजाने वाले हैं उन पर विजय प्राप्ति का उद्योग, परस्पर सुव्यवहार, प्रकाश की विस्तृति, प्रशंसनीय कार्य्यों की सिद्धि के लिए व्यवसाय, सच्चे हर्षों की प्राप्ति, आत्मगौरव वा स्वाभिमान की रक्षा का यत्न, स्वप्न वा अन्तः विचार द्वारा कार्य्यों का विवेचन, सब प्रकार की शोभाएं और सब प्रकार के ज्ञानों की प्राप्ति के लिए मिल कर (गमन करना) काम करना अर्थात् प्रत्यक प्रकार की उन्नति के लिए सामूहिक शक्तियों और द्रव्यों का व्यय करना ।

इस से सिद्ध हुआ कि जो पुरुष प्राणीमात्र के कल्याण के लिए अथवा मनुष्य-मात्र के उपकार के लिए अथवा अपने देश में वसने वाले मनुष्यसमाजों की उन्नति के लिए कोई महान्‌कार्य्य करता है जिस से सुखों और शोभाओं की वृद्धि होती है वह पुरुष यज्ञकर्त्ता कहला सकता है ।

अब पञ्च महायज्ञों पर यदि विचार किया जाय तो उन में भी कहीं पशुवध का पता नहीं चलता ।

पञ्च महायज्ञों के ये नाम हैं, ब्रह्मयज्ञ देवयज्ञ वा होम, पितृयज्ञ वा तर्पण, भूतयज्ञ वा बलिदान, अतिथि यज्ञ वा नृयज्ञ । ब्रह्मयज्ञ इस लिए किया जाता है कि जीवात्मा, शक्तियों के भण्डार परमात्मा के संयोग से अपने भीतर, विशेष शक्तियों का सञ्चार करके जगत् की सेवा के लिए अधिकतर शक्तिमान् हो जाने । वैसे तो ब्रह्मचारी सद्‌गृहस्थ और वानप्रस्थ सभी प्रतिदिन ब्रह्मयज्ञ करके परमात्मा से यथा-सम्भव बल धारण करने का यत्न करते हैं परन्तु परमात्मा के योग से अन्य सभी आश्रमियों से अधिकतर बल धारण करने वाला संन्यासी होता है इसी कारण वह सब से बड़ा ब्रह्मज्ञानी कहलाता और जगत् का सब से अधिक उपकार भी कर सक्ता है। ऋग्वेद में संन्यासी को "दिशां पतिः" शब्द से इस कारण सम्बोधित किया है कि वह सब दिशाओं में स्थित मनुष्यों को सच्चा ज्ञान देकर उन का पालन करता है, संन्यासी का कोई एक विशेष देश नहीं प्रत्युत सारी पृथिवी उस का देश है, पृ-थिवी के मनुष्यमात्र के ही लिए नहीं प्रत्युत प्राणीमात्र के कल्याण के लिए वह यत्न करता है, यदि प्रत्येक मनुष्य जाति (नेशन) के स्वदेश-भक्त (पेट्रियट्स) अपने अपने देशों के शुभचिन्तक हैं तो संन्यासी सब देशों के पेट्रियटों के बीच प्रीति संस्थापन करने वाला महापुरुष है, वह किसी देश वा मनुष्य जाति का पक्ष न करता

हुआ निर्भयता से सब को उपदेश करता है मानो मनुष्य जाति के पारस्परिक नियम (इंटर नेशनल ला) का व्यवस्थापक * सन्यासी है। अतः सब से बड़ा यज्ञ करने वाला भी वही है परन्तु उस के लिए लिखा है कि वह "अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते" अर्थात् सब प्राणियों के साथ निर्वैर वर्तता हुआ मोक्ष के लिए सामर्थ्य बढ़ाया करे † अतः सिद्ध हुआ कि ब्रह्मयज्ञ में भी पशु बध का विधान नहीं है।

---

* जिस समय इंगलिस्तान के प्रसिद्ध विद्वान् हर्बर्ट स्पेंसर जीवित थे उस समय जापान के राजनीतिज्ञ "मार्कुईस इटो" ने उनसे प्रार्थना की थी कि वह जापान की रक्षा तथा वृद्धि के विषय में उन्हें सदुपदेश दें। हर्बर्ट स्पेंसर ने जापान की रक्षा तथा वृद्धि के लिए अनेक उपदेश दिए यह उपदेश लिख कर पत्र के अन्त में सूचित कर दिया था कि मेरा यह उपदेश मेरे जीवन काल तक छपने न देना। इस में सन्देह नहीं कि हर्बर्ट-स्पेंसर ने अपनी निष्पक्ष सम्मति दे कर एक संन्यासी के कर्त्तव्यों का पालन करने का यत्न किया था परन्तु वह संन्यासी के धर्म्म को पूर्ण नहीं कर सके। ब्राह्मण की पदवी सन्यासी से छोटी है परन्तु ब्राह्मण के विषय में मनुस्मृति में लिखा है कि "सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव, अमृतस्यैव चाकांक्षेदवमानस्य सर्वदा" अर्थात् ब्राह्मण धर्म्म करता हुआ सम्मान से विष की तरह डरे और अपमान की अमृत की तरह आकांक्षा करे। जिस तरह हर्बर्ट स्पेंसर ने एक सत्य बात बतलाते हुए योरोप वासियों के द्वारा होने वाले अपमान से भयभीत होकर इस लेख को स्वजीवन काल में छपने न दिया वैसा काम एक सच्चा सन्यासी नहीं करता, प्रत्युत वह अपने प्राणों पर भी संकट उपस्थित होते हुए सत्य को छिपाने का यत्न नहीं करता। इसी कारण पक्षपात रहित सन्यासी मनुष्य मात्र का मान्यास्पद होता है।

† सन्यासी पक्षपात रहित और सब का कल्याण कर्त्ता है इस विषय के कतिपय प्रमाण यहां उद्धृत किये जाते हैं:—

शर्य्यणावति सोममिन्द्रः पिबतु वृत्रहा। बलन्दधान आत्मनि करिष्यन् वीर्यं महदिन्द्रायेन्दो परिस्रव। ऋग्वेद मण्डल ९, सूक्त ११३, मन्त्र १।

मैं ईश्वर सन्यास लेने हारे तुझ मनुष्य को उपदेश करता हूं कि जैसे मेघ का नाश करने हारा सूर्य्य (सूर्य-किरण) हवनीय पदार्थों से युक्त भूमितल में स्थित रस को पीता है वैसे सन्यास लेने वाला पुरुष उत्तम मूल फलों के रस को पीवे और अपने आत्मा में बड़े सामर्थ्य को करूंगा ऐसी इच्छा करता हुआ दिव्य-बल को धारण करता हुआ परमैश्वर्य्य के लिए चन्द्रमा के तुल्य सब को आनन्द करने हारे पूर्ण विद्वान् तू संन्यास लेके सब पर सत्योपदेश की वृष्टि कर।

आपवस्व दिशांपत आर्जीकात्सोममीढ्वः ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुत इन्द्रायेन्दो परिस्रव। ऋग्वेद, मण्डल ९, सू० ११३, मं० २।

देवयज्ञ—देवयज्ञ का अर्थ अग्निहोत्र है। अग्निहोत्र से वायु, वृष्टि (जल), पृथिव्यादि अनेक जड़ देवताओं (दिव्यगुणविशिष्ट पदार्थों) की शुद्धि होती है तथा शुद्ध वाय्वादि से विद्वानों वा चेतन देवताओं को भी लाभ पहुंचता है इस कारण अग्निहोत्र को देवयज्ञ कहते हैं। अग्निहोत्र से भारी परोपकार होता है और अग्निहोत्र करने वाले को समझना पड़ता है कि सर्व के लाभ में ही उस का लाभ है।

पितृयज्ञ—पितृयज्ञ का अर्थ माता, पिता, पितामहादि अपने पूज्य सम्बन्धी तथा सोमसद, अग्निष्वात्ता, वर्हिषद, सोमपाः, हविर्भुज, आज्यपाः, सुकालिन, यमराजादि विद्वज्जन जो पितर नाम से प्रसिद्ध हैं उनकी सेवा शुश्रूषा, तथा श्रद्धापूर्वक अन्न, जलादि से उन को तृप्त करना है। कोई भी मनुष्यजाति उन्नति नहीं कर सक्ती

हे सोम्यगुण-सम्पन्न! सत्यसे सबके अन्तःकरण को सींचने हारे सब दिशाओं में स्थित मनुष्यों को सच्चा ज्ञान देके पालन करने हारे शमादि गुण युक्त संन्यासिन्! तू यथार्थ बोलने सत्यभाषण करने से सत्य के धारण में सच्ची प्रीति और प्राणायाम योगाभ्यास से सरलता से निष्पन्न होता हुआ तू अपने शरीर इन्द्रिय (मन बुद्धि को पवित्र कर परमैश्वर्य्य युक्त परमात्मा के लिए सब ओर से गमन कर।)

ऋतं वदन्नृत द्युम्न सत्यं वदन्तसत्य कर्मन्। श्रद्धां वदन्तसोम राजन्धात्रा सोमपरिष्कृत इन्द्रायेन्दो परिस्रव। ऋग्वेद, मण्डल ९, सू० ११३, मं० ४।

हे सत्य धन और सत्य कीर्ति वाले यतिवर! पक्षपात छोड़ के यथार्थ बोलता हुआ, हे सत्य वेदोक्त कर्म्म वाले संन्यासिन्! सत्य बोलता हुआ सत्य धारण में प्रीति करने को उपदेश करता हुआ सौम्य-गुण सम्पन्न सब ओर से प्रकाश युक्त आत्मा वाले योगैश्वर्य युक्त सब को आनन्ददायक संन्यासिन्! तू सकलविश्व के धारण करने हारे परमात्मा से योगाभ्यास करके शुद्ध होता हुआ योग से उत्पन्न हुए परमैश्वर्य्य की सिद्धि के लिये पुरुषार्थ कर।

यत्र ब्रह्मापवमान छन्दस्यां वाचं वदन्। ग्राव्णा सोमे महीयते सोमेनानन्दं जनयन्निन्द्रायेन्दो परिस्रव। ऋ० मण्डल ९, सू० ११३, मं० ६।

हे स्वतन्त्रता युक्त वाणी को कहते हुए विद्या, योगाभ्यास और परमेश्वर की भक्ति से सब के लिए आनन्द को प्रकट करते हुए आनन्दप्रद पवित्रात्मन्! पवित्र करने हारे संन्यासिन्! जिस परमैश्वर्य युक्त परमात्मा में चारोंवेदों का जानने हारा विद्वान् महत्त्व को प्राप्त होकर सत्कार को प्राप्त होता है जैसे मेघ से सब जगत् को आनन्द होता है वैसे तू सब को परमैश्वर्य्य युक्त मोक्ष का आनन्द देने के लिए सब साधनों को सब प्रकार से प्राप्त करा।

यदि उस में विद्वान् वैद्य, वृद्ध तथा अन्य माननीय पुरुष पूजित न होते हों एवम् वे निश्चिन्त हो कर अपने देश की दशा के दर्शक तथा उस की उन्नतियों के लिए विचार करने वाले न बन सक्ते हों ।

भूतयज्ञ—भूतयज्ञ का अर्थ पतित, श्वपचादि मनुष्य, कुष्ठी आदि पापरोगियों, मनुष्यों के आश्रित श्वानादि पशु तथा कौए, कृमि आदि छोटे जीवों के लिए बलि वा भोजन देना है । इस कर्म्म से मनुष्य दुखियों तथा निस्सहायों के साथ सहानुभूति प्रकट करता और क्षुद्र जीवों पर दया करता है । निस्सहाय लोग इस भूतयज्ञ के कारण ही प्राचीन आर्य्यावर्त में ऐश्वर्य्यवानों का जीवन कठिन बनाने के लिए यत्न नहीं करते थे जिस प्रकार कि आज कल योरोप के निस्सहाय लोग वहां के श्रीमानों का दम नाक में कर रहे हैं । योरोप वासी यदि भूतयज्ञ का अनुष्ठान करने लगें तो उन के देशों से भी असन्तोष का एक बड़ा भाग दूर हो सक्ता है ।

अतिथियज्ञ—अतिथि उन ज्ञानी महात्माओं (विशेष कर परिव्राजकाचार्य्यों) का नाम है जो परोपकारार्थ उपदेश करते हुए बिना किसी नियत तिथि के अकस्मात् गृहस्थियों के स्थान पर पहुंच जाते हैं, इन की भली भांति सेवा शुश्रूषा करनी अतिथियज्ञ कहलाता है । यदि धर्म्मात्मा संन्यासियों की आजीविका का प्रबन्ध गृहस्थ समाज न करे जिस कारण उन्हें अपने पोषणादि के लिए भी श्रम करना पड़े तो वह निश्चिन्त और निर्भय हो कर उपदेश नहीं कर सकेंगे जिस का परिणाम यह होगा कि मनुष्य जाति के अन्तर स्वार्थ, आलस्य, प्रमाद, दुष्टाचारादि दुर्गुण फैल जावेंगे और वह नाश को प्राप्त हो जावेगी अतःयह यज्ञ भी परोपकारार्थ ही किया जाता है । ये तो हुए संक्षेपतः दैनिकयज्ञ ।

प्राचीन शास्त्रों में दर्श पौर्णमास जो पाक्षिक यज्ञ हैं वे भी अमावस्या और पूर्णिमा को किए जाते हैं क्योंकि पक्ष २ के अनन्तर सृष्टि की शोभा बदलती रहती है, इन शोभाओं से आनन्द उठाने तथा इन शोभाओं के दाता सृष्टिकर्त्ता को धन्यवाद देने के लिए ही ये पाक्षिकयज्ञ किए जाते हैं ।

इसी प्रकार ऋतुओं के अन्त अथवा आरम्भ पर जो आग्रयण तथा चातुर्मास्यादि यज्ञ किए जाते हैं वे भी इसी निमित्त किए जाते हैं कि सृष्टि की अवस्था में जो परिवर्तन हुआ है उस की शोभा का आनन्द मिल कर उठाया जा सके और प्रकृति के परिवर्तन के साथ मनुष्य के भोजन वस्त्रादि में भी जिस प्रकार के परिवर्तनों की

आवश्यकता हो वे परिवर्तन भी किए जावें । यही तो कारण है कि विशेष ऋतुओं के यज्ञों के लिए विशेष प्रकार की सामग्री का विधान है ।

अब यदि राजसूय, वाजपेय, अश्वमेधादि वृहद्यज्ञों की ओर विचार किया जाय तो यही सिद्ध होगा कि ये यज्ञ भी परोपकारार्थ ही किए जाते थे ।

राजसूय-यज्ञ, यज्ञकर्त्ता राजा तथा उस की प्रजा की शक्तियों का प्रदर्शन था * यज्ञ करते समय राजा को उपदेश किया जाता था कि राज भी एक यज्ञ है अतः राजा को चाहिए कि स्वार्थ छोड़ कर निर्बलों की क्रूर बलवानों से रक्षा करे और प्रजा की वृद्धि एवं उस के उपकार के लिए सदा यत्न करता रहे । महाराज युधिष्ठिर जब भारतवर्ष के महाराजाधिराज बने थे तो उन्होंने भी धार्म्मिकशक्ति के प्रताप की विस्तृति के लिए एक महान् यज्ञ किया था जिस में देश देशान्तर के नृपतिगण सम्मिलित हुए थे मानों इस यज्ञ में इस विचार की महान्ता प्रकट की गई थी कि सार्वभौम नियमों के अनुसार यदि सार्वभौम-शासन हो तो उस से मनुष्य मात्र को लाभ पहुंचता है और छोटे २ राजाओं को परस्पर के झगड़ों के कारण प्रजा के नाश का कारण नहीं बनना पड़ता ।

सारांश यह है कि सर्वसाधारण के लाभ के लिए जो कुछ कार्य्य प्राचीन आर्य्यावर्त में किए जाते थे वे सब के सब यज्ञ कहलाते थे ।

मनुस्मृति में एक श्लोक आया है जिस का तात्पर्य्य यह है कि ब्राह्मण अभिमान त्याग से, क्षत्रिय यज्ञ से और वैश्य दान से शुद्ध होता है । यह श्लोक देश-प्रबन्ध की सौन्दर्यता बड़ी उत्तमता के साथ दर्शाता है । इस श्लोक से पता लगता है कि प्राचीनकाल में वैश्य लोग धन कमा कर (जो कुछ उन की वाणिज्यादि की आवश्यकताओं से अधिक होता था उसे) प्रभुमण्डलादि को देते थे, ब्राह्मणलोग निष्पक्षता से उपदेश करते थे और क्षत्रिय लोग भिन्न २ यज्ञों द्वारा प्रजा के उपकार के लिए नानाप्रकार के कार्य्य किया करते थे ।

---

* प्रसिद्ध देहली दर्बार भी विविध शक्तियों का प्रदर्शन ही है । यदि देहली दर्बार न हो तो भी हमारे पूज्य सम्राट अधिराज ही कहलावें परन्तु दर्बार इसलिए किया जाता है कि बड़े समारोह के साथ राज्य की शक्ति की पूर्ण प्रदर्शिनी हो जावे ताकि प्रजा और शत्रुओं की कल्पना-शक्ति इतनी जकड़ जावे कि राज-विद्रोह और आघात का कोई साहस ही न कर सके ।

ऐतरेय ब्राह्मण में स्पष्ट लिखा है "यज्ञोपि, तस्यै जनतायै कल्पति" अर्थात् "जनता" यानी मनुष्यों के समूहों के (सुख के) लिए ही यज्ञ होता है।

प्राचीन काल में विवाह को भी यज्ञ कहते थे कारण यह था कि प्राचीन आर्य्य विवाह विषयभोग के लिए नहीं करते थे प्रत्युत इस लिए कि उन की सन्तान तेजस्वी उत्पन्न हो और वह क्रमशः वर्चस्वी बन कर संसार का उपकार करें। विवाह के समय जो प्रतिज्ञा-मन्त्र पढ़े जाते हैं उन से स्पष्ट विदित होता है कि जो कोई उत्तम सन्तान उत्पन्न न कर सके उसे विवाह नहीं करना चाहिये।

उपनिषदों तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में अनेक प्रकार के यज्ञ बतलाए गए हैं और उन में कई स्थलों में लिखा है कि इन यज्ञों के कर्त्ता देवता होते हैं। देवता शब्द का अर्थ तो "विद्वांसोहि देवाः" विद्वान् है ही परन्तु इस से दिव्यगुण-विशिष्ट यावत् पदार्थ हैं यथा वायु, वृष्टि आदि उन सब का भी अर्थ-बोध होता है। प्रकरणानुसार इस देवता शब्द का अर्थ जहां जैसा अपेक्षित हो वहां वैसा लगाना चाहिए॥

यज्ञ का सम्मिलित व्यवहार विषय में हमें ईश्वर की सृष्टि से भी कई प्रकार की शिक्षाएं मिलती हैं। सम्मिलित वा सामाजिक-व्यवहार के लिये दो बातों की बड़ी आवश्यकता है एक स्वार्थ-त्याग और दूसरा मिल के काम करना। यदि ये दो बातें न हों तो सभ्य संसार का काम ही नहीं चल सक्ता यदि प्रत्येक धनी मनुष्य कहे कि मैं धनी हूं और मुझे पुलिस की सहायता की आवश्यकता नहीं होगी अतः मैं म्युनिसिपल कर नहीं देता तो सारे सामाजिक प्रबन्ध में गड़बड़ पड़ जाएगा क्योंकि यही बात और करों के विषय में भी कही जा सकती है। यदि प्रत्येक मनुष्य को मृत पशुओं का चर्म लेकर स्वयम् शुद्ध करना पड़े, स्वयम् ही जूता सीना पड़े, स्वयं ही खेती बोकर, नाज को स्वयं ही काट पीस कर रोटी बनानी पड़े, स्वयम् ही कपास का बीज बोकर उस के वृक्ष से कपास लेकर तथा उसे कात कर कपड़ा बनाना पड़े और इसी प्रकार अपनी सारी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिये स्वयं ही सब काम करने पड़ें तो प्रत्येक मनुष्य का जीवन क्लेशमय हो जावे और सभ्यता का विस्तार ही जगत में न हो। इसी कारण सभ्यता की विस्तृति के लिये मिलजुल कर काम करना पड़ता है। एक मनुष्य जूते अच्छे बना सकता है तो वह जूते ही बनाता है, दूसरा कपड़ा अच्छा सी सकता है तो वह कपड़े ही सीया करता है, तीसरा खेती अच्छी कर सकता है तो वह खेती ही करता है, अच्छे

बर्तन बनाने वाला बर्तन ही बनाता है । इस रीति से समाज के सारे कार्य्य होते जाते हैं । परमात्मा की सृष्टि में भी यही नियम कार्य्य करता हुआ दिखाई देता है॥

उदाहरण के लिये समझिये कि वृक्ष एक यज्ञ का नाम है इस यज्ञ फल से मनुष्यादि प्राणियों को लाभ पहुंचाना अभीष्ट है ॥

इस यज्ञ के आरम्भ में पृथिवी कुण्ड में बीज की आहुति होती है । जिस प्रकार हुतद्रव्य अपने को भस्म कर दूसरों को लाभ पहुंचाता है उसी प्रकार बीज अपने स्वार्थ को परित्याग कर दूसरों के लाभ के लिये अपने को सर्वथा धूलि में मिला देता है परन्तु वरुण (जल) सूर्य्य, चन्द्र, इन्द्र, (विद्युत), तथा मरुत् (पवन) आदि देवता मिल कर उस बीज की रक्षा करते हुए "वृक्षयज्ञ" करने लगते हैं क्रमशः अंकुर उत्पन्न होता है और वह वृक्षाकार हो जाता है और इस में जो फल लगते हैं उस से मनुष्य-समाज तथा पक्षी-समूह के उपकार होते हैं मानों उक्त देवता मिल कर प्राणियों के लिए "वृक्षयज्ञ" कर रहे हैं ॥

उक्त उदाहरण में बतलाया गया कि "वृक्ष यज्ञ" वरुण, सूर्य्य, चन्द्र, इन्द्र तथा मरुत् देवता मिलकर कर रहे हैं । इस से यह तात्पर्य्य नहीं निकलता कि वरुण सूर्य्यादि जड़-पदार्थ इस यज्ञ में किसी पशु का वध कर रहे हैं अथवा उक्त जड़ पदार्थों की उपासना मनुष्यों को करनी चाहिये ॥

दूसरा उदाहरण लीजिये, आकाश रूप यज्ञ स्थान से सूर्य्य रूप हवन-कुण्ड जल रहा है जिस प्रकार हवन कुण्ड से निकली हुई सुगन्धि दूर २ तक फैलती हुई प्राणियों को लाभ पहुंचाया करती है उसी प्रकार सूर्य्य-कुण्ड से निकलती हुई रश्मियां पृथिव्यादि ग्रहों पर के रहने वाले प्राणियों तथा वनस्पतियों को नाना प्रकार के लाभ पहुंचा रही हैं । यज्ञ-कुण्ड के प्रकाश से जिस प्रकार समीपवर्त्ती अन्धकार दूर होजाता है उसी प्रकार सूर्य्य के प्रकाश से घोर तिमिर नष्ट हो जाता है, सूर्य की रश्मियां वायु को चलाती, वायु अग्नि को प्रदीप्त करता और अग्नि सब प्राणियों के शरीर धारण का हेतु बन रहा है । मानो परमात्मा सृष्टि-रूप एक यज्ञ कर रहा है जिस से असंख्य प्राणियों का उपकार हो रहा है परमात्मा को " यज्ञस्य देवम् " अर्थात् सृष्टि-रूप यज्ञ का प्रकाशक इसी कारण तो कहते हैं ॥

छान्दोग्योपनिषद् में मनुष्य को भी एक यज्ञ बतलाया है । यथा "पुरुषो वाव-यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षाणि तत्प्रातः सवनम्.........." इत्यादि अर्थात्

पुरुष यानी मनुष्य का सजीव शरीर एक यज्ञ है इस पुरुष के जो पहले २४ चौवीस वर्ष हैं वे प्रातः सवन हैं इत्यादि ।

जिसे इस पुरुष-यज्ञ की व्याख्या देखनी हो वह छान्दोग्य प्रपाठक ३, खण्ड १६ को भली भांति अवलोकन करले ।

यज्ञ का विचार और यज्ञ का शब्द प्राचीन आर्यों की दृष्टि में इतना प्रिय और सुन्दर था कि उन्होंने प्राकृतिक-भूगोल तथा पदार्थ-विद्या के कई सिद्धान्तों को भी यज्ञ के अलङ्कार से वर्णन किया है ।

शोक है कि इन अलङ्कारों के गूढ़ अर्थों को न समझ कर कई विदेशी इतिहास वेत्ताओं ने यह अशुद्ध परिणाम निकाल लिया कि प्राचीन आर्य्य प्रकृति की शक्तियों को ही परमात्मा समझ कर पूजते थे यदि ये लोग शतपथ ब्राह्मण, काण्ड १४ अध्याय ५ को ध्यान पूर्वक पढ़ते तो इन्हें ज्ञात हो जाता कि प्राचीन आर्य उपास्यदेव किस को मानते थे । वहां स्पष्ट लिखा है कि आठ वसु, एकादश रुद्र द्वादश आदित्य तथा इन्द्र और प्रजापति तेंतीस देव अर्थात् दिव्यगुण विशिष्ट पदार्थ हैं परन्तु इन सब का स्वामी चौंतीसवां महादेव परमात्मा है जिस की उपासना करनी चाहिये ।

अतः मानना पड़ेगा कि यज्ञ के अर्थ पशु-बध अथवा निरर्थक विधियों के नहीं हैं, यज्ञ के अर्थ न समझने के कारण ही विदेशी विद्वानों ने ब्राह्मण-ग्रन्थों की निन्दा की है, यथार्थ में ये ग्रन्थ वैज्ञानिक सिद्धान्तों के भण्डार हैं । इन को यदि श्रद्धा से पढ़ा जाय तो बहुत से नवीन वैज्ञानिकों को भी अपने विज्ञान-शास्त्र की उन्नति में सहायता मिल सकती है तथा वैज्ञानिक ऐतिहासिकों को भी इतिहास सम्बन्धी अनेक प्रकार की शिक्षाएं प्राप्त हो सक्ती हैं ।

तृतीय परिच्छेद ।

ब्राह्मण-ग्रन्थों के समय में शिक्षा की रीति और विद्या का प्रचार ।

शिक्षा की रीति—सर्व साधारण को बिना मूल्य उच्च से उच्च शिक्षा—कौन २ से विषय गुरुकुलों और परिषदों में पढ़ाए जाते थे—ज्योतिष-शास्त्र की अवस्था—क्या आर्य्यों ने ज्योतिष-शास्त्र चीनियों अथवा बेबिलोनिया के लोगों से सीखा था? प्रोफ़ेसर वायट और प्रोफ़ेसर वीबर की सम्मति—राजनियम शास्त्र की अवस्था—अङ्कगणित, रेखागणित और बीजगणित की अवस्था-व्याकरण-शास्त्र और भाषा-विज्ञान की अवस्था ।

प्रायः योरोपीय विद्वान् और उन के कतिपय एतद्देशीय अनुयायी कहा करते हैं कि प्राचीन आर्य्यावर्त्त में शिक्षा का कोई क्रम विद्यमान नहीं था । वानप्रस्थी लोग ब्रह्मचारियों को अपने आश्रमों में रख लिया करते थे जो उनके पशुओं को चराया करते और समय मिलने पर कुछ उन से पढ़ भी लिया करते थे । ब्रह्मचारी जब एक विषय एक गुरु से पढ़ लेता था तो वह उस गुरु को छोड़ दूसरे गुरु की सेवा में उपस्थित होता था और उस के पशुओं को चराता तथा उस से विद्याग्रहण करने लगता था । इस प्रकार अपनी आयु का बहुतसा समय लगाकर वह ब्रह्मचारी प्रायः दो तीन विषयों का ज्ञाता बन सक्ता था । उस समय शिक्षा की उन्नत रीतियों का ज्ञान ही किसी को न था और न लोग यह जानते थे कि समय और शक्ति को समुचित रीतियों से किस प्रकार व्यय करना चाहिए । बहुत से विद्यार्थियों को एक स्थान में एकत्रित कर के एक साथ शिक्षा देने से क्या लाभ होता है तथा विद्यार्थी-गण एक साथ पढ़ने के कारण परस्पर के परामर्श, तथा प्रश्नोत्तरादि से एक दूसरे की उन्नति में कितनी सहायता दे सक्ते हैं अथवा यों कहिये कि वर्तमान युनिवर्सिटी (विश्वविद्यालय) प्रणाली से विद्यार्थियों को कितना लाभ हो सक्ता है इस विषय को प्राचीनकाल के आर्य्य नहीं जानते थे ।

परन्तु यह कथन समूलक नहीं है । ब्राह्मण ग्रन्थों की आलोचना यदि भली-भांति की जाय तो पता लगेगा कि तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली बहुत ही उन्नत थी । बृहदारण्यकोपनिषद् (६, २, १,) में लिखा है कि श्वेतकेतु पाञ्चालों की परिषद् में शिक्षा-ग्रहण करने गया था । इन परिषदों का प्रबन्ध किस प्रकार होता

था कदाचित् ब्राह्मण-ग्रन्थों ने इस का वर्णन साधारण समझ छोड़ दिया परन्तु अन्यान्य ग्रन्थों में इस का वर्णन पाया जाता है जिस के अवलोकन से स्पष्ट विदित होता है कि आज कल जिन अर्थों में युनिवर्सिटी शब्द का प्रयोग होता है उन अर्थों में तथा उन से कुछ अधिक अर्थों में भी परिषद् शब्द प्रयुक्त होता था । परिषद् उस विश्वविद्यालय (युनिवर्सिटी) का नाम था, जिस में २१ इक्कीस उपाध्याय (प्रोफ़ेसर) पढ़ाते थे । उन परिषदों वा युनिवर्सिटियों का सविस्तर वृत्तान्त हम आगे लिखेंगे । यहां इतना ही वक्तव्य है कि जो ऐतिहासिक यह कहा करते हैं कि परिषदों अर्थात् युनिवर्सिटियों की प्रणाली बौद्धों के समय से चली है वे सर्वथा भ्रम में हैं । यह प्रणाली बहुत प्राचीन है, ब्राह्मण-ग्रन्थों के समय में भी यह प्रथा चल रही थी ।

छान्दोग्योपनिषद् (५, ३, १) और शतपथ ब्राह्मण (११, ६, २) को मिला कर पढ़ा जाय तो पता लगता है कि श्वेतकेतु, सोमशुष्म सात्ययज्ञ और याज्ञवल्क्य, राजा जनक को मिले । राजा जनक ने उन से धर्म्म सम्बन्धी प्रश्न पूछा जिस का उत्तर याज्ञवल्क्य ने तो कुछ २ दे दिया परन्तु उन के दोनों साथियों ने सर्वथा अशुद्ध उत्तर दिया । फिर श्वेतकेतु पाञ्चालों की परिषद् में गया और वहां भी राजा जैवलिप्रवाहण के प्रश्नों का उत्तर न दे सका ।

इस में सन्देह नहीं कि परिषदों के अतिरिक्त उस समय ऐसे विद्यालय भी थे जिन्हें वानप्रस्थियों ने जङ्गलों में ब्रह्मचारियों की शिक्षा के लिये खोल रखा था । ये ब्रह्मचारी अपने गुरुओं से विद्या ग्रहण करते हुए उन की सेवा भी करते थे, विशेष विद्या ग्रहण कर लेने पर वैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक विषयों पर परस्पर में शास्त्रार्थ भी करते थे । परिषदों के विद्यार्थियों को भी अपने गुरुओं के साथ ही रहना पड़ता था, परिषदों में उपाध्यायों तथा विद्यार्थियों के लिये आश्रम तथा बड़े २ पुस्तकालय भी विद्यमान रहते थे । परिषदों के विद्यार्थियों को भोजनों के लिए मांगना नहीं पड़ता था क्योंकि परिषदों के चलाने के लिए राजा लोग बहुतसा धन दिया करते थे । हां वानप्रस्थी जो निज के विद्यालय चलाते थे उन के विद्यार्थी मांग २ कर भोजन लाते जिस में से अपने गुरु को खिलाते और आप भी खाते थे । परन्तु उस समय दारिद्रावस्था वर्तमान न थी जो इस समय विद्यमान है और न लोगों के आचार विचार भ्रष्ट थे अतः ब्रह्मचारियों को भिक्षा प्राप्त करने में कुछ भी कष्ट नहीं होता था । ब्रह्मचारियों का उस समय इतना मान्य था कि जब भिक्षा का समय

निकट आजाता था तो आर्य्य देवियां भोजन लिए हुए खड़ी हो जातीं और ब्रह्म-चारियों की प्रतीक्षा करने लगती थीं । ग्रामों के सर्व स्त्री पुरुष ब्रह्मचारियों के आचारों के लिए अपने को उत्तरदाता समझते थे । परिषदों तथा वानप्रस्थियों के स्थापित गुरुकुलों के ब्रह्मचारियों को विद्याध्ययन करते हुए तपस्वी बनना पड़ता था जिस स शरीर बलिष्ठ और आत्मा दृढ़ हो जाता था और ब्रह्मचर्य्य समाप्त करने पर विद्यार्थी जीवन-युद्ध के उपयुक्त बन जाता था । प्रत्येक ब्रह्मचारी को कम से कम२९ वर्ष की अवस्था तक गुरुकुल में रहना पड़ता था ॥

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उस समय की परिषदों तथा गुरुकुलों में पढ़ाया क्या जाता था ॥

अनेक पश्चिमी विद्वान् कहा करते हैं कि प्राचीन आर्य्य आध्यात्मिक स्वप्नों में अपना जीवन व्यतीत करते थे बारह वर्षों तक केवल व्याकरण पढ़ा करते थे तदनन्तर कुछ ज्योतिष भी पढ़ लेते थे ताकि यज्ञ का समय नियत करने की विधि ज्ञात हो जाय॥

परन्तु यदि अनुशीलन किया जाय तो ज्ञात हो जायगा कि प्राचीन आर्य्यों के विरुद्ध उक्त कथन सर्वथा ही निर्मूल है । प्राचीन आर्य्य आध्यात्मिक स्वप्न नहीं देखते थे प्रत्युत योग द्वारा अपने आत्मा से परमात्मा को साक्षात् करके ब्रह्मानन्द का सुख अनुभव करते थे । प्रायः प्रत्येक आर्य्य बालक ब्रह्मचारी बन साङ्गोपाङ्ग वेदों तथा उपवेदों की शिक्षा धारण करने का यत्न करता था जिन का वर्णन आर्ष-ग्रन्थों में अनेक जगह मिलता है । ब्राह्मणों में अनेक प्रकार की विद्याओं की बातें आती हैं । देखिए छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक ७ खण्ड १ वहां महर्षि सनत्कुमार के पूछने पर ऋषि नारद ने बतलाया है " सहोवाचर्ग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदꣳ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहास पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्म-विद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याꣳसर्पदेवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि *

हे भगवन् ! मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास पुराण, वेदों के अर्थ विधायक ग्रन्थ, पितृविद्या, राशिविद्या, दैवविद्या, निधिविद्या, वाकोवाक्य विद्या, एकायन-विद्या, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्राविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पदेवजन विद्याओं को अध्ययन किया है । यहां " अध्येमि " क्रिया स्पष्ट बतला रही है कि नारद ने इतनी विद्याएं गुरु से पढ़ी थीं । शतपथ के ग्यारहवें काण्ड में लिखा है कि

---

* इनकी व्याख्या इस पुस्तक के पृष्ठ ९३ तथा ९४ में देखिये

पढ़ने योग्य विषय ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, अनुशासन-विद्या, पदार्थविद्या, वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण नाराशंसी और गाथाएं हैं॥

कतिपय योरोपीय विद्वानों से यत्किञ्चित् अधिक आलोचना कर जब वीबर साहब ने यह पता लगाया कि शतपथ ब्राह्मण में कई विद्याओं के नाम हैं और कई विद्याओं की संक्षिप्त व्याख्याएं भी हैं तो लाचार होकर कहने लगे कि हां कतिपय भिन्न भिन्न विषय तो शतपथ में वर्णित हैं परन्तु वे शतपथ के भागमात्र हैं उन विषयों के स्वतन्त्र विस्तृत व्याख्यान कभी भी विद्यमान नहीं थे। परन्तु वीबर साहब का यह कथन कथन ही मात्र है तर्क के सन्मुख इसकी सत्यता सिद्ध नहीं हो सक्ती। यदि इन विषयों का परिज्ञान पहले उपस्थित न होता तो शतपथ ब्राह्मण के काण्डों में भी उन की व्याख्या कैसे हो सक्ती। यदि किसी पुस्तक का एक अध्याय गणित के विषय में हो तो इस से यह सिद्ध नहीं होता कि संसार में गणित पर और कोई पुस्तक ही नहीं है। यदि कुछ सिद्ध होता है तो यह कि इस पुस्तक के बनने से पूर्व गणित की विद्या उपस्थित थी। इस के अतिरिक्त जैसा कि हम छान्दोग्य से प्रमाण उद्धृत कर दिखला आए हैं उस से तो निस्सन्देह ज्ञात होता है कि ऋषि नारद ने उतनी विद्याएं पढ़ी थीं। तो क्या जिस समय छान्दोग्य बनने लगा था उस समय ऋषि नारद उन २ विद्याओं को पढ़ने लगे थे?।

ब्राह्मण-ग्रन्थों के पूर्व किन २ विद्याओं का प्रचार था इस विषय में जो लेख हम लिख आए हैं* उस से स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्राचीन आर्य्य केवल व्याकरण और ज्योतिष ही नहीं प्रत्युत अनेक ऐसी विद्याएं भी पढ़ते थे जिन का पुनः प्रचार अभी तक योरोपदेश में नहीं हुआ। आज कल योरोप वा अमेरिका में जितनी विद्याएं पढ़ाई जाती हैं वे सब की सब अपरा विद्याओं के अन्तर्गत हैं। जहां तक ज्ञात है परा विद्या का जानने वाला एक भी पुरुष उक्त देशों में विद्यमान नहीं है। परा उस साधन का नाम है जिस से जीवात्मा परमात्मा को साक्षात करलेता है।

अब हम संक्षेपतः यह दर्शाते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थोंके समय में ज्योतिर्विद्या की क्या अवस्था थी।

ज्योतिर्विद्या गोपथ (२, ४, १०) में सूर्य्य, पृथिवी, दिन तथा रात्रि के विषय में लिखा है:—

* देखिए ब्राह्मणग्रन्थों के समय का साहित्य विषय पृष्ठ ५१ से६८ तक।

"तद्यदेनं पुरस्तादुदयतीति मन्यन्ते रात्रेरेव तदन्तं गत्वाथात्मानं विपर्यस्यते रात्रिमेवाधस्तात् कृणुते अहः परस्तात् । स वा एष न कदाचनास्तमयति, नोदयति, नहवै कदाचन निम्लोचाति" ।

पुरस्ताद् अर्थात् सन्मुख रहने के कारण सूर्य्य उदय होता है ऐसा मानते हैं और उस उदय काल के अन्त होने पर अपन को अस्त करता है और रात्र होती है (ऐसा माना जाता है) (परन्तु वास्तविक बात यह है कि पृथिवी जो अपने व्यास पर घूमती है उस से पृथिवी का आधा भाग जब सूर्य्य की ओर से हट जाता है अर्थात् सूर्य्य ऊपर रह जाता और वह भूभाग नीचे आजाता है तब) अधस्तात् अर्थात पृथिवी के एक भाग के नीचे की ओर आने से उस भाग पर सूर्य्य रात्रि कर देता है और (पृथिवी की गति के कारण पुनः वही भाग जब सूर्य्य के सन्मुख आता है तब) परस्तात् अर्थात् पृथिवी के उसी भाग के सूर्य्य के सन्मुख आने पर उस भाग पर सूर्य्य दिन कर देता है । वास्तव में वह सूर्य्य न कभी अस्त होता और न उदय होता है और न वह कभी (निम्लोचति) चलता है ।

इसी प्रकार ऐतरेयब्राह्मण (३, ४, ६,) में सूर्य्य, पृथिवी दिन तथा रात्रि के विषय में लिखा है:—

"स वा एष न कदाचनास्तमेति नोदेति । तं यदस्तमेतीति मन्यन्ते अह्न एव तदन्तमित्वाथात्मानं विपर्यस्यते रात्रीमेवावस्तात् कुरुतेऽहः परस्तात् । अथयदेनं प्रातरुदेतीति मन्यन्ते रात्रेरेवतदन्तमित्वाथात्मानं विपर्यस्यते अहरेवावस्तात् कुरुते रात्रीं परस्तात् । सवा एष न कदाचन निम्रोचति नहवै कदाचन निम्रोचति"

वह (सूर्य्य) न कभी अस्त होता और न उदय होता है । (अह्नएव तदन्तमित्वा........) दिन की समाप्ति को प्राप्त होकर जब सूर्य्य अपने को अस्त करता है । तब वह सूर्य्य अस्त होता है ऐसा माना जाता है (परन्तु वास्तव में) अवस्तात् अर्थात् पृथिवी के एक भाग के नीचे की ओर आजाने से (पृथिवी जो अपने व्यास पर घूमती है उस से उस का एक भाग कभी सूर्य्य के सन्मुख और कभी वहीं भाग सूर्य्य से परे अर्थात् उलटी और वा नीचे की ओर आजाता है) वहां सूर्य्य रात्रि करता है और फिर पृथिवी की गति के कारण जो भाग सूर्य्य के सन्मुख आता है उस भाग पर (पुरस्तात) आगे वा सन्मुख आने के कारण दिन करता है । तब

उस भाग पर के लोग मानते हैं कि प्रातः हुआ रात्रि की समाप्ति हो जाने के कारण। फिर विपर्यय होता है। अवस्तात् अर्थात् नीचे रहने की दशा के पश्चात् (अर्थात् उसी भू-भाग के नीचे से ऊपर वा सूर्य्य के सन्मुख आने पर) वहां सूर्य्य दिन कर देता है और जो भू भाग सूर्य्य के आगे वा सन्मुख था उस भाग के पुरस्तात् अर्थात् सन्मुखावस्था की समाप्ति पर वहां रात्रि कर देता है (परन्तु वास्तविक बात यह है कि) वह (सूर्य्य) कभी भी नहीं (निम्रोचति) चलता, वह सूर्य्य निश्चय कभी भी नहीं (निम्रोचति) चलता है।

तैत्तिरीय आरण्यक के प्रथम प्रपाठक में जहां म्लाक्षि तथा वैशम्पायनादि ज्योतिषियों का मत अङ्कित है वहां आरोग और भ्राजादि भिन्न २ सूर्य्यों का विषय वर्णित है जिस से सिद्ध होता है कि उस प्राचीन काल में लोग ग्रहों और ताराओं के भेदों को भली भांत जान चुके थे।

शतपथ ब्राह्मण में कृतिका, रोहिणी, मृगशीर्ष फाल्गुणी, हस्त, चित्रादि नक्षत्रों का वर्णन है।

अनेक प्राचीन ग्रन्थों में वेद के " नक्षत्र-दर्श " और " गणक " शब्द आए हैं जो कि ज्योतिषी के बोधक हैं।

छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक ७ में जहां महर्षि सनत्कुमार और ऋषि नारद का सम्वाद है वहां उक्त महर्षि के पूछने पर कि नारद ने क्या क्या पढ़ा है, नारद ने बतलाया है कि उन्हों ने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद आदि आदि तथा नक्षत्र विद्या (ज्योतिष-शास्त्र) तथा अन्यान्य कई विद्याएं (जिन के नाम वहां छान्दोग्य में लिखे हुए हैं) पढ़ा है। इस से मालूम होता है कि छान्दोग्योपनिषद् के समय से पूर्व प्राचीन आर्य्यों ने ज्योतिष-शास्त्र में इतनी उन्नति करली थी कि वे इस शास्त्र को एक पृथक् विद्या अर्थात् नक्षत्र-विद्या के नाम से प्रचरित कर सके थे।

यद्यपि उक्त प्रकार ब्राह्मणों के कई स्थलों में ज्योतिर्विद्या सम्बन्धी वर्णन आए हैं और इस विद्या का उल्लेख वेदों में भी विद्यमान है जैसा कि हम इस ग्रन्थ के प्रथमाध्याय में लिख आए हैं तथापि पेरिस का ज्योतिषी बायट तथा जर्मन प्रोफ़ेसर लैसन लिखते हैं कि नक्षत्रों का विषय आर्यों ने चीनियों से सीखा था। परन्तु प्रोफ़ेसर ह्विटनी, बायट के लेखों का खण्डन करते हुए लिखता है कि चीनी " सीऊ " शब्द जिस का अर्थ बायट साहब " नक्षत्र " करते हैं सर्वथा अशुद्ध है क्योंकि " सीऊ "

का अर्थ single star अर्थात् एक तारामात्र है और नक्षत्र का अर्थ group of stars अर्थात् ताराओं का समूह है।

प्रोफ़ेसर वीबर कहते हैं कि प्राचीन आर्य्यों ने ज्योतिर्विद्या चीनियों से नहीं सीखी यह तो ठीक है परन्तु यह विद्या उन्होंने विदेशियों से और सम्भव है कि कदाचित् बेबिलोनिया वालों से सीखी थी। इस कथन की पुष्टि अमेरिका के प्रोफ़ेसर ह्विटनी करते और कहते हैं कि "सम्भव है कि प्राचीन आर्य्यों ने बेबिलोनिया वालों से ही ज्योतिर्विद्या सीखी हो क्योंकि आर्यों की मानसिक-प्रकृति ऐसी न थी कि वह आकाश का निरीक्षण कर सक्ते और उस राशिचक्र को बतला सक्ते जिन के सन्मुख चन्द्रमा भ्रमण करता है"। प्राचीन आर्यों की मानसिक-शक्ति कैसी थी अब इस बीसवीं शताब्दि में सिद्ध हो चुकी है और योरोपीय विद्वान् ज्यों २ प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थों को अवलोकन करेंगे त्यों २ प्राचीन आर्य्यों के लिए पूजनीय-भाव उन के हृदय में उत्पन्न होते जांयगे। हां प्रोफ़ेसर वीबर और प्रोफ़ेसर ह्विटनी के उक्त कथन से यह स्पष्ट सिद्ध करते हैं कि अधिकतर योरोपीय विद्वान् जब कभी प्राचीन आर्यावर्त के विषय में विचार करते हैं तो उन के मन में कुछ न कुछ पक्षपात अवश्य आजाता है जिस से प्रेरित होकर वे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि प्राचीन आर्य विदेशी जातियों के शिष्य थे अतः आधुनिक भारतीय पण्डित जो उत्साहपूर्वक यह कहते हैं कि प्राचीन आर्य्य जगद्गुरु थे मिथ्या है प्रोफ़ेसर मैक्समूलर लिखते हैं कि "चन्द्रमा के राशिचक्र में जो २७ नक्षत्र हैं इन के विषय में कहा जाता है कि इन नक्षत्रों का ज्ञान आर्य्यों ने बेबिलोनिया वालों से सीखा परन्तु बेबीलोनिया के "क्यूनईफ़ार्म" नामक अति प्राचीन लेख के देखने से विदित होता है कि बेबीलोनिया वालों का राशिचक्र चान्द्र नहीं प्रत्युत सौर्य्य था, बेबीलोनिया के किसी अन्य प्राचीन लेख से भी चन्द्रमा के राशिचक्र का पता नहीं लगता" * फिर कैसे माना जाय कि प्राचीन आर्य्यों ने चन्द्रमा के राशिचक्र का ज्ञान बेबी-लोनिया वालों से प्राप्त किया था?

डेविस नामक विद्वान् लिखता है कि पाराशर (व्यास के पिता नहीं प्रत्युत उस नाम के एक ज्योतिषी) के नाम से जो ज्योतिष का ग्रन्थ आजकल प्रचरित है उस की ज्योतिष सम्बन्धी घटनाओं की गणना से बोध होता है कि पाराशर नामक ज्योतिषी ईसा के जन्म से १३९१ वर्ष पूर्व वर्तमान था।

---

*"इण्डिया, वाट इट कैन टीच अस" नामक ग्रन्थ (१८८३ का मुद्रित) पृष्ठ १२६

बेली नामक ज्योतिषी अपने "प्राचीन ज्योतिष का इतिहास" नामक ग्रन्थ में लिखता है कि यद्यपि आर्य्यों का ज्योतिष-शास्त्र इस समय भी महोन्नत है परन्तु याद रखना चाहिए कि वर्तमान ज्योतिष उनके प्राचीन महोन्नत ज्योतिष का शेष भागमात्र है

कैसिनी, बेली, जंटील, प्लेफेयर नामक योरोपीय ज्योतिषी लिखते हैं कि हिन्दुओं (आर्य्यों) ने ज्योतिष सम्बन्धी ऐसी ऐसी घटनाएं बतलाई हैं जो ईसा के जन्म के ३००० तीन सहस्र वर्ष पहले की हैं और उन के वे आविष्कार उस समय की भी उन की ज्योतिष सम्बन्धी अत्युच्च-योग्यता बतलाते हैं *

फ्रांस के राजा चतुर्दश लूई का लावर नामक राजदूत १८८७ ई० में श्याम देश से सूर्य ग्रहणों के कई चित्र लाया था । और दक्षिण भारत के कर्नाटक देश के तिरवालोर स्थान से पाटोइलट तथा जंटील नामक योरोपियनों ने सूर्य्य ग्रहणों के कई चित्र योरोप में भेजे थे । योरोप के प्रसिद्ध ज्योतिषी बेली ने जब उन चित्रों में देखा कि एक सूर्य्य ग्रहण उन के समय से ४३८३ वर्ष पूर्व का है तो स्वयम् गणना करने लगे और गणना करने से पता लगा कि उक्त ग्रहण की गणना में आर्य्यों ने एक मिनट की भी भूल नहीं की है । *

बेली के मतानुसार ईसा के जन्म से ३००० तीन सहस्र वर्ष पहले जब कि आर्य्य ज्योतिषी इतने विद्वान् थे तो समझना चाहिए कि उस समय से कितने दिन पहले से आर्य्य पण्डित ज्योतिष और इस से सम्बन्ध रखने वाली रेखा-गणित विद्या को जानते होंगे।

कलियुग का समयारम्भ लिखते हुए आर्य्य ज्योतिषियों ने बतलाया है कि उस समय प्रायः सब ग्रह प्रायः एक सीध में आगए थे । बेली ने जब ग्रहों की गत्यनुसार उस समय की गणना की तो बतलाया कि कलियुग का आरम्भ ईसा के जन्म से पहले ३१०२ तीन सहस्र एक सौ दो वर्ष २० फ़रवरी को २ बज के २७ मिनट तथा ३० सेकंड पर हुआ था ।

सूर्य्य-सिद्धान्त का कर्त्ता अपने ग्रन्थ के निर्माण-काल को अपने ग्रन्थ के मध्याह्नाध्याय श्लोक २२ तथा २३ में इस प्रकार लिखता है:—

"कल्पादस्माच्च मनवः षड्व्यतीताःससन्धयः
वैवस्वतस्य च मनोर्युगानां त्रिघनोगतः
अष्टाविंशाद्युगादस्माद्यातमे तत्कृतं युगम्
अतः कालंप्रसंख्याथ संख्यामेकत्र पिण्डयेत्"

* थियोजोनी आफ दि हिन्दूज पृष्ठ ३२ † थियोजोनी आफ दि हिन्दूज पृष्ठ ३६, ३७

अर्थात् वर्तमान कल्प वा सृष्टि के सन्धि सहित छः मन्वन्तर बीत चुके हैं। ववैस्वतमन्वन्तर के त्रिघन (३+९) अर्थात् २७ चतुर्युगी भी बीत चुके हैं। अठाइसवीं चतुर्युगी का कृत युग (सतयुग) भी व्यतीत हो गया है।

वर्तमान विक्रम सम्वत १९६७ है और कल्यब्द ५०११ है और उक्त श्लोकानुसार सूर्य्यसिद्धान्त इस चतुर्युगी के त्रेता के आरम्भ में बना अतः सूर्य्यसिद्धान्त के बने त्रेता+द्वापर+कलियुग के ५०१० वर्ष अर्थात् १२९६०००+८६४००० ५०१० अर्थात् कुल २१६५०१० वर्ष व्यतीत हुए।

अतः सिद्ध हुआ कि जिस समय योरोप में एक भी ज्योतिष का ग्रन्थ नहीं बना था उस समय भी आर्य्यावर्त में बड़े बड़े ज्योतिषी वर्तमान थे।

राजनियम—योरोप में आज कल प्रायः राजनियम के रोमन क्रम का प्रचार है। रोमन-राजनियम क्रम का एक सूत्र यह है कि राजा राजनियम से उच्च है अर्थात उस के अन्याय को रोकने की शक्ति राजनियम में नहीं है, प्रजा राजनियम के आधीन है और राजनियम राजा के आधीन है।

परन्तु प्राचीन आर्य्यों का राज्यनियम विषयक आदर्श इस से बहुत उच्च था बृहदारण्यकोपनिषद् (२, ४, १४,) में लिखा है:—

"तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजतधर्म्मं तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्म्मस्तस्माद्धर्म्मात्पर नास्त्यथो अबलीयान् बलीयाꣳसमाशꣳसते धर्म्मेण यथा राज्ञैव यो वै सधर्म्मः सत्यं वै तत्तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्म्मंवदतीति धर्म्मं वा वदन्तꣳसत्यं वदतीत्येतद्ध्येवैतदुभयं भवति" अर्थात् उसने कल्याण रूप धर्म्म (वा नियमों) को बनाया, वही धर्म्म क्षत्र का भी क्षत्र है अर्थात् (शासन करने वाले राजपुरुष पर भी शासन करता है) क्योंकि क्षत्र धर्म्म है अतः धर्म से बढ़ कर (राजपुरुषादि) कोई भी नहीं है, धर्म्म के बल से निर्बल शरीर वाला भी बड़े २ बलवानों को वश में रखता है जिस प्रकार कि (शरीर से निर्बल होने पर भी धार्म्मिक होने से राजा के द्वारा बलवानों का शासन होता है। अतः जो राजा है वह धर्म्म है और वह धर्म सत्य है इसी कारण जो सत्यभाषण करता है उस के विषय में कहा जाता है कि वह धर्म कहता है (इसी प्रकार) जो धर्म बोलता है उस के विषय में कहा जाता है कि वह सत्य कह रहा है तात्पर्य्य यह है कि जो धर्म है वह सत्य है और जो सत्य है वह धर्म है, धर्म और सत्य दोनों पर्य्यायवाची शब्द हैं।

अतः सिद्ध हुआ कि यह धर्म ही है जो राजा और प्रजा सब को नियम में रखता है, इन में से जो कोई धर्म को तोड़ता है वह दुख का भागी बनता है।

राजनियमों के तोड़ने का साहस तो कोई राजा क्या कर सक्ता था, यदि कोई राजा अपनी प्रजा का पूर्ण धार्म्मिक और सुखी बनाने की योग्यता नहीं रखता था तो उस के यहां महर्षि गण ठहरना भी पाप समझते थे जिस कारण राजा की घोर निन्दा होती और वह पतित समझा जाता था । यही कारण हैं कि जब केकय देश के राजा अश्वपति (देखिए छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक ५, खण्ड ११, प्र० ५) के यहां प्राचीन शाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन, बुडिल तथा उद्दालक नामक महर्षि आए तो अश्वपति ने उन की यथोचित पूजा करवाई और फिर अपने यहां ठहरने के लिए प्रार्थना करते हुए कहा कि "नमेस्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतो यक्ष्यमाणोवै भगवन्तोऽहमस्मि यावदेकैकस्मा ऋत्विजे धनं दास्यामि तावद् भगवद्भ्यो दास्यामि वसन्तु मे भगवन्त इति" हे महात्मा पुरुषो ! मेरे राज्य में न चोर, न कायर, न मद्यपी, न अग्निहोत्र न करनेवाला, न अविद्वान्, न व्यभिचारी है, फिर व्यभिचारिणी तो कहां ? मैं नियम पूर्वक यज्ञ करता हूं, एक एक ऋत्विक् को जितना २ धन दूंगा उतना २ धन आप में से प्रत्येक महानुभावों को दूगा, अतः हे भगवन्त आप लोग कृपया मेरे यहां निवास करें ।

जिन राजनियमों की पालना करता हुआ राजा अपनी प्रजा को उक्त प्रकार का बना सक्ता है उन राजनियमों की प्रशंसा हम तो क्या, विद्वान् मात्र मुक्तकण्ठ से किया करेंगे। इस से बढ़कर भी राजानियमों का आदर्श हो सक्ता है ? इस विषय में पुनः एक पृथक् अध्याय ही लिखा जायगा ।

रेखा-गणित—रेखा गणित की विद्या भी अति प्राचीन काल से आर्य्यों को ज्ञात है । ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त १३०, मन्त्र ३ में "परिधिः, (Circumference) शब्द आया है । पूर्ण मन्त्र इस प्रकार है । "कासीत्प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत्परिधिः क आसीत । छन्दः किमासीत्प्रउगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे" इस मन्त्र के द्रष्टा यज्ञ प्रजापति ऋषि ने तथा इसी प्रकार के मन्त्रों के भावों के प्रचारक अन्यान्य ऋषियों तथा उन के शिष्य प्रशिष्यों ने जो पुरुषार्थ किया होगा उस से निश्चय है कि रेखागणित की विद्या प्राचीन में भली भांति प्रचरित हो गई होगी ।

यद्यपि ब्राह्मणग्रन्थों में वेदियों के विषय में उल्लेख हैं तथापि रेखागणित के साध्यों के विषय में कोई लेख अभी तक हमें नहीं मिला है । सम्भव है कि रेखाग-

णित का विषय ब्राह्मण ग्रन्थ का विषय न हो इस कारण उस विषय पर कोई विशेष सम्मति ब्राह्मण ग्रन्थों के बनाने वालों ने प्रकट न की हो । परन्तु जब कि साम-ब्राह्मण के छान्दोग्य भाग में महर्षि सनत्कुमार तथा ऋषि नारद के सम्वाद में स्पष्ट लिखा है कि ऋषि नारद ने " नक्षत्र–विद्या " अर्थात् ज्योतिषशास्त्र को पढ़ा है तो कैसे सम्भव है कि नक्षत्र-विद्या के ज्ञाता नारद ने रेखागणित को नहीं पढ़ा होगा । कोई भी पुरुष मङ्गल, बुध, बृहस्पति, पृथिव्यादि ग्रहों की गति, चान्द्रचक्र की परिधि, राशियों के उदय अस्त, सूर्य्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, धूमकेतुओं के उदय अस्त आदि ज्योतिष सम्बन्धी बातों को भली भांति समझ ही नहीं सक्ता जब तक कि वह यह न जानता हो कि एक वृत्त का सम्बन्ध दूसरे वृत्त के साथ कैसे निर्णय किया जाता है, केन्द्र और परिधि का क्या सम्बन्ध होता है इत्यादि अस्तु ।

तैत्तिरीय-संहिता नामक ग्रन्थ (५. ४. ११) में लिखा है कि वेदियों को किन २ आकारों का बनाना चाहिये । बौद्धायन और आपस्तम्ब-सूत्रों में उन चित्तियों तथा इष्टकाओं का सविस्तर वर्णन है जिन से भिन्न २ प्रकार के यज्ञकुण्ड बनाए जाते थे । उक्त पुस्तकों में यज्ञ कुण्डों के अनेक आकार लिखे हुए हैं जिन में कतिपय निम्नलिखित हैं:—

(१) चतुराश्रयश्येन (अर्थात् श्येन पक्षी के आकार का)
(२) वक्रपक्ष व्यस्तपुच्छ श्येन (अर्थात् श्येन पक्षी के टेढ़े पांख और फैले हुए पुच्छ के आकार का कुण्ड)
(३) कङ्कचित (कङ्कपक्षी के आकार का कुण्ड)
(४) अलजाचित (अलजा पक्षी के आकार का कुण्ड)
(५) प्रागचित (अर्थात् समभुज त्रिभुज का आकार)
(६) उभयतः प्रागचित (अर्थात् समभुज त्रिभुज के आधार पर दूसरा समभुज त्रिभुज बना हुआ ।
(७) रथचक्रचित (अर्थात् गोलाकार)
(८) चतुराश्रय द्रोणचित (चतुष्कोण पात्र के आकार का)
(९) परिमण्डल द्रोणचित (गोल बर्तन के आकार का)
(१०) कूर्म्मचित (कूर्म्म कछुए के आकार का कुण्ड) इत्यादि इत्यादि प्रायः १६ प्रकार के कुण्डों का वर्णन है ।

ऊपर लिखित (१) चतुराश्रय-श्येन कुण्ड का क्षेत्रफल ७॥ वर्ग पुरुष हुआ करता था। उन ७॥ वर्गों में से प्रत्येक वर्ग की एक भुजा की लम्बाई एक पुरुष हुआ करती थी। पुरुष का अर्थ उतनी लम्बाई से है जितनी लम्बाई कि एक पुरुष के हाथ उठाए हुए खड़े रहने पर उस के पैर से हाथ की अंगुलियों के अन्त तक हुआ करती है। जब कभी उस चतुराश्रयश्येन कुण्ड के स्थान में प्रागचित (समभुज त्रिभुज-कुण्ड) अथवा रथ चक्राचित (गोलकुण्ड) वा कूर्म्मचित (कछुए के आकार का कुण्ड) बनाना पड़ता या तो चतुराश्रयश्येन कुण्ड के स्थान को काट कूट कर घटाते वा बढ़ाते नहीं थे प्रत्युत उसी स्थान में अर्थात् उसी ७॥ वर्ग पुरुष-स्थान में दूसरे कुण्ड को बना देते थे। कभी २ ऐसा भी होता था कि किसी विशेषाकार कुण्ड के बनाने में उक्त ७॥ वर्ग पुरुष-क्षेत्र में एक वर्ग पुरुष वा दो वर्ग पुरुष जोड़ देते थे परन्तु ७॥ वर्ग पुरुष-क्षेत्र को किसी भी दशा में न्यून नहीं करते थे।

क्योंकि आकारों में उक्त प्रकार के परिवर्तन तब तक नहीं हो सक्ते जब तक कि त्रिभुज, वृत्त, चतुर्भुज तथा अर्द्ध वृत्तादि के परस्पर सम्बन्ध ज्यामिति के अनुसार ज्ञात न हों अतः स्पष्ट सिद्ध है कि आर्ययाज्ञिकों को ज्यामिति की विद्या अवश्य ही जाननी पड़ती थी। प्रसिद्ध डाक्टर थिबो लिखते हैं कि "याज्ञिकों को यज्ञ कुण्डों के निर्माण के लिए जानना पड़ता था कि एक वर्ग (Square) दो वा तीन निश्चित वर्गों के बराबर कैसे बनाया जाता है, अथवा दो नियत वर्गों के अन्तर से जो वर्ग बनेगा वह किस प्रकार बनाना चाहिये, नियत आयतों (Oblong) को वर्गों के आकार में और नियत वर्गों को आयतों के आकार में किस प्रकार परिणत करना पड़ता है, निर्मित त्रिकोणों (Triangles) के बराबर वर्ग वा आयत किस प्रकार बन सक्ते हैं, एक वृत्त (Circle) एक निश्चित वर्ग (Square) के लग भग बराबर कैसे बन सक्ता है"।

प्रचरित यूक्लिड की ज्यामिति (ज्यामेट्री) जो आज कल स्कूलों में पढ़ाई जाती है उस के प्रथमाध्याय के ४७ सैंतालीसवें साध्य के विषय में कहा जाता है कि इस साध्य को प्रकट करने वाला यूनान का पिथैगोरस नामक विद्वान् है परन्तु योरोपीय विद्वानों को और विशेष कर डाक्टर थिबो को बड़ा आश्चर्य हुआ जब कि उन्होंने उसी साध्य को सुल्वसूत्र के भीतर वर्णित पाया। डाक्टर थिबो कहते हैं कि पिथैगोरस के जन्म से कम से कम दो शताब्दि--पूर्व अर्थात् ईसा के जन्म से प्रायः ८०० वर्ष

पूर्व सुल्वसूत्र भारत में प्रचरित था । वी, श्रोडर नामक योरोपीय विद्वान् लिखता है कि पिथैगोरस ने ज्यामिति की अनेक बातें भारत से सीखी थीं, अस्तु ।

उक्त ४७ वां साध्य सुल्वसूत्र के निम्नलिखित दो सूत्रों में हैं:—

[१] किसी वर्ग (Square) के कर्ण (Diagonal) पर जो वर्ग बनाया जाता है वह उस वर्ग से द्विगुण होता है ।

[२] एक आयत (Oblong) के कर्ण (Diagonal) पर का वर्ग उस आयत के दो असमान बाहुओं (Sides) पर के वर्गों के बराबर होता है ।

इसी तरह रेखागणित की अनेक अन्यान्य बातें भी उक्त सुल्वसूत्र में पाई जाती हैं और यह बात प्रसिद्ध है कि सुल्वसूत्र कल्पसूत्र का भाग है और कल्पसूत्र यज्ञ कर्म्म से बहुत सम्बन्ध रखता है अतः डाक्टर थिबो का यह कथन कि जो जो भारतीय विद्याएं आर्यों के धर्म से सम्बन्ध रखती हैं वे अवश्य ही भारत में उत्पन्न हुईं, योरोपियनों को भी मानने के लिये बाध्य करता है कि भारत वासियों ने ज्यामिति की विद्या विदेशियों से नहीं सीखी थी ।

बीजगणित—बीज-गणित आर्य्यों ने यूनानी वा अन्यों से सीखा अथवा स्वयम् इस के मूल को वेद में देख कर इस के नियमों को प्रचरित किया इस विषय पर अब विवाद का स्थान नहीं है क्योंकि आर्य विद्याओं के समीक्षकों के एक मुखिया प्रोफ़ेसर मोनियर वीलियमस ने मुक्त-कण्ठ से स्वीकार कर लिया है कि "बीजगणित तथा रेखागणित का आविष्कार तथा ज्योतिष के साथ उन का प्रथम प्रयोग हिन्दुओं (आर्य्यों) के ही द्वारा हुआ" * बीजगणित के अनेक ग्रन्थ इस समय भी भारत में प्रचरित हैं । बीजगणित में आर्यों ने यहां तक उन्नति करली थी कि ज्यामिति के अनेक साध्य भी वह बीजगणित द्वारा ही सिद्ध कर लेते थे ।

अङ्कगणित—इस विद्या का भी मूल वेदों में देख कर आर्य्यों ने इस के नियम बनाए । यजुर्वेद अध्याय १८ मन्त्र २४ तथा २५ आदि में बीजगणित की विद्या के वर्णन के साथ अङ्कगणित की विद्या भी वर्णित है । रेखागणित तथा ज्योतिष के कठिन नियमों के बताने वाले प्राचीन आर्य्यों के लिए अङ्कगणित के नियमों का बतलाना कुछ कठिन नहीं था । अब वालों ने यह विद्या आर्यों से ही सीखी थी और इसी कारण इस विद्या को इलमहिन्दसा अर्थात् हिन्द या भारत की विद्या

* To the Hindus is due the invention of Algebra and Geometry and their application to Astronomy (Indian Wisdom. P. 185.)

कहते हैं। योरोप में अर्ब वालों की शिक्षा के पूर्व अङ्कगणित का प्रचार बहुत कम था अर्बों ने अङ्कगणित का योरोप में अच्छा प्रचार किया अतः योरोप के वर्तमान अङ्कगणित की माता भारतीय अङ्कगणित की विद्या ही है।

व्याकरण-शास्त्र और भाषा-विज्ञान—व्याकरण-शास्त्र और भाषा-विज्ञान में प्राचीन आर्यों ने आश्चर्यजनक उन्नति की थी ऋषि पाणिनी जिन्होंने अष्टाध्यायी बनाई है भाषा-विज्ञान और व्याकरण में संसार के विद्वानों में एक अपूर्व प्रतिष्ठा और गौरव रखते हैं। जिस वैज्ञानिक शैली पर अष्टाध्यायी लिखी हुई है उस शैली पर आज तक व्याकरण सम्बन्धी पुस्तक संसार के किसी भी अन्य भाग में नहीं लिखी गई। वास्तव में यह सच है कि प्राचीन आर्यों ने ही व्याकरण को एक विज्ञान बनाया था। योरोप में विद्या सम्बन्धी सब से बड़ा आविष्कार यह समझा जाता है कि एक भाषा के लाखों शब्द गिनती की धातुओं में परिवर्तित किए जावें। जो कोई पाणिनी का धातु पाठ पढ़ता है वह जानता है कि यह आविष्कार भारतवर्ष में आज से सहस्रों वर्ष पूर्व हो चुका था। वास्तव में यह आविष्कार पाणिनी के समय से भी पूर्व का है क्योंकि पाणिनी अपने उणादिकोषादि ग्रन्थों में कई प्राचीन वैय्याकरणों के भी प्रमाण देते हैं।

बोप और योरोप के अन्यान्य विद्वानों ने संस्कृत को पढ़कर ही अनेक शब्दों के वास्तविक धातुओं का पता लगाया है। परन्तु पाणिनी का धातुपाठ उस समय बना था जिस समय योरोप में सभ्यता और सुशिक्षा का चिन्ह भी प्रकट न था। हम पाणिनी की क्या प्रशंसा करें उन की प्रशंसा सारा संसार कर रहा है।

जर्मनी का प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् वीबर जो आर्य्यग्रन्थों की तीक्ष्ण समालोचना में भी संकोच नहीं करता विवश होकर पाणिनी की अष्टाध्यायी के विषय में निम्न-लिखित सम्मति प्रकट करता है:—

"हम एकाएक उस महान् भवन में प्रवेश करते हैं जिस का शिल्पी पाणिनी है और जो प्रत्येक प्रवेश करने वाले के हृदय में बलात्कार भक्ति और आश्चर्य्य के भाव न्यायतः उत्पन्न करता है, पाणिनी के व्याकरण में अन्य देशों की इसी प्रकार की पुस्तकों से यह विशेषता है कि यह व्याकरण भली भांति अन्वेषण कर भाषा की धातुओं तथा शब्दों की व्युत्पात्तियों को बतलाता है, इस के भावप्रकाश में एक सूक्ष्म याथार्थ्य है जो संक्षिप्त परन्तु गूढ़ रीति से दर्शा देता है कि विशेष २ प्रयोग किसी एक ही सूत्र से सिद्ध हो जाते हैं अथवा (इन की सिद्धि में) अन्यान्य

सूत्रों की भी अपेक्षा है । पाणिनी ऐसा इस कारण कर सका है कि उस ने बीज-गणित के नियमानुसार पारस्परिक घनिष्ट सम्बन्ध रखने वाली स्वपरिभाषाओं का सुप्रयोग किया है और क्योंकि उन सम्पूर्ण दृश्यों को जिन्हें भाषा प्रकट करती है उन के वर्णन में ये पर्याप्त हैं, ये अपने आविष्कर्त्ता (रचयिता) की आश्चर्य्यमय सूक्ष्मज्ञता तथा भाषा के सम्पूर्ण उपकरणों वा भण्डार में उस की गूढ़ व्याप्ति का परिचय दे रहे हैं ” *

---

* We pass at once into the magnificent edifice which bears the name of Panini as its architect and which justly commands the wonder and admiration of every one who enters. Panini's Grammar is distinguished above all similar works of other countries, partly by its thoroughly exhaustive investigation of the roots of the language, and the formation of words; partly by its sharp precision of expression, which indicates with an enigmatical succinctness whether forms come under the same or different rules. This in rendered possible by the employment of an algebraic terminolgy of arbitrary contrivance, the several parts, of which stand to each other in the closest harmony, and which by the very fact of its sufficing for all the phenomena which the language presents, bespeaks at once the marvellous ingenuity of its inventor, and his profound penetration of the entire Material of the language. (Weber's Indian literature p. 216.)

चतुर्थ परिच्छेद

राजा, उस का अधिकार और कर्तव्य

तथा राज व्यवस्था ।

राजपदाधिकारी कौन हो सक्ता था–प्राचीन समय में राजा निष्प्रतिबन्ध नहीं होता था प्रत्युत राज्य प्रजातन्त्र होता था, राजतिलक–संस्कार और उस से शिक्षा राजा भी दण्डनीय होता था—रोमन राजव्यवस्था के साथ प्राचीन आर्य्य राज-व्यवस्था का सम्मेलन–न्यायविभाग और प्रबन्ध विभाग पृथक् २ थे–राजनीतिज्ञ भिन्न २ आचार्य और ऋषि—दण्ड सम्बन्धी नियम, क्या वे कठोर थे—ब्राह्मणों और शूद्रों के साथ एक ही प्रकार के बर्ताव—मृत्युदण्ड की कई आचार्यों की सम्मति में अनावश्यकता, उस की स्थानापत्ति, राजनियम शास्त्र का आशय, प्रायश्चित्त पर विचार व्यावहारिक राजनियम–दायभाग सम्बन्धी राजनियम–स्वास्थ्य रक्षा सम्बन्धी राजनियम–सर्वसाधारण हित सम्बन्धी राजनियम–भूमि-कर सम्बन्धी राज नियम प्राचीन राजनियमों पर एक साधारण दृष्टि ।

राज पदाधिकारी कौन हो सक्ता था ?—

गौतम अपने धर्म्म सूत्र के अध्याय ८ सूत्र १, ४, ५, ६, ७ में लिखते हैं कि राजा (और ब्राह्मण) को वेदों का गम्भीर ज्ञानी बनना चाहिए क्यों कि संसार में धर्म्म की व्यवस्था इन्हें ही धारण करनी पड़ती है । गम्भीर ज्ञानी वह कहलाता है जो सांसारिक चक्रों से अभिज्ञ हो, वेदों को और उन के अङ्गो को अध्ययन किया हो, तर्कशास्त्र, इतिहास और पुराण (ब्राह्मण ग्रन्थ) में व्युत्पन्न एवं निपुण हो जो इन्हीं (उक्त वेदादि) को प्रामाणिक मानता हो और इन्हीं के आदेशानुसार अपना जीवन व्यतीत करता हो ।

शतपथ ब्राह्मण में लिखा है "राष्ट्रं वा अश्वमेधः" अर्थात् राज्य अश्वमेध यज्ञवत् है । प्राचीन याज्ञिक लोग विविध यज्ञों को जैसी श्रद्धा और भक्ति से करते थे वह प्रसिद्ध है । यज्ञ-कर्म्म में यदि कुछ भी व्यति-क्रम हो जाता था तो उस के लिए याज्ञिक अनेक प्रकार से पश्चात्ताप करते थे । याज्ञिक यज्ञ को अपनी सद्गति

वा स्वर्ग प्राप्ति का साधन मानते थे । ठीक इसी प्रकार प्राचीन आर्य्य राजा राष्ट्र अर्थात् अपने राज्य के शासन को यज्ञ-कर्म्म समझता था, और विश्वास रखता था कि यदि मैं राष्ट्र के सर्व नियमों को भली भांति पालन करूंगा तथा कराऊंगा तो निस्सन्देह मेरी सद्गति हो जायगी । राजा के उक्त विश्वास को धर्म्म सूत्रकार वशिष्ठ इस प्रकार वर्णन करते हैं :—

"राजा का प्रधान कर्म्म यह है कि वह सब प्राणियों की रक्षा करे । कर्तव्य पालन से उस का यह लोक तथा परलोक दोनों सफल हो जाते हैं (अर्थात् वह दोनों लोकों के सुखों का भागी बनता है) ।

यद्यपि प्रजा राजा को पूज्यदृष्टि से देखती थी परन्तु राजा पाप करने से बहुत डरता था । सभा में राजसिंहासन पर आरूढ़ रहता हुआ समझता था कि यदि मुझ से अन्याय हो गया तो मैं भी पापी बनूंगा और उस का फल दुःख मुझे भी भोगना पड़ेगा । राजा जितने प्रकारों से दोषी माना जाता था उन में से एक प्रकार निम्नलिखित भी है ।

(जब न्यायसभा में पक्षपात से अन्याय किया जाता है तब अधर्म्म के चार भाग हो जाते हैं) उस अधर्म्म में से एक भाग अधर्म्म के कर्ता, दूसरा साक्षी, तीसरा न्यायसभा के न्यायकर्ताओं और चौथा भाग राजा को प्राप्त होता है । (बौद्धायन सूत्र १, १०, ८)

गौतम-सूत्र (अध्याय ११ । सूत्र २, ३, ४, ५, ६) में लिखा है कि राजा का वचन और कर्म्म पवित्र होना चाहिए, उसे त्रयी-विद्या (वेद) तथा तर्क-शास्त्र में निपुण शुद्ध और जितेन्द्रिय होना चाहिए, उसे ऐसे साथियों (मन्त्रियों) से घिरा रहना चाहिए जिन में उत्तमोत्तम गुण तथा राज्य-शासन बनाए रखने की शक्तियां हों, उसे साधन सम्पन्न होना चाहिये तथा अपनी प्रजा के साथ निष्पक्ष वर्तना चाहिये और उन्हें लाभ पहुंचाना चाहिये ।

आपस्तम्बसूत्र (प्रश्न २, पटल ११, खण्ड २८, सूत्र १३) में लिखा है कि यदि राजा अपराधी को दण्ड नहीं देता तो वह स्वयं पाप का भागी बनता है ।

वासिष्ठसूत्र (अध्याय १९, । सूत्र ७) में लिखा है कि राजा को चाहिए कि अपने देश तथा उस में वसने वाली जातिओं तथा वंशों सम्बन्धी राजनियमों पर ध्यान देते हुए चारों वर्णों से उन के औचित्यपालन करावे ।

वसिष्ठ सूत्र अध्याय १९। सूत्र १०। में लिखा है कि राजा को प्राचीन राज-नियम सम्बन्धी लेख तथा पूर्व निदर्शनों से अभिज्ञ होना चाहिए क्योंकि उन्हीं के अनुसार उसे अपराधियों का दण्ड निर्णय करना होगा।

अतः सिद्ध हुआ कि राजा वही हो सकता था जिस ने त्रयी-विद्या के ज्ञाताओं से ज्ञान-काण्ड, कर्म्म-काण्ड और उपासना-काण्ड (अर्थात् चारों वेदों) की शिक्षा पाई हो, अर्थात् वेदों में जो प्राकृतिक और आत्मिक विद्याएं हैं उन का ज्ञाता हो जिस ने सनातनधर्म्म-व्यवस्था (राजनीति) आत्मविद्या और सत्यासत्य के निर्णय के लिए लोगों से वार्ता किस प्रकार करनी चाहिये उस तर्क विद्या को सीखा हो, जो विविध प्रकार की ऐतिहासिक घटनाओं से अभिज्ञ हो जो वेदानुकूल अपने आचरण करने के कारण पूर्ण जितेन्द्रिय एवं शरीर मन और आत्मा से पवित्र और बलिष्ठ हो जिस के आधीन बड़े बड़े न्यायकर्त्ता विद्वान् विविध विषयों पर अपनी निष्पत्तियां प्रकाशित करते हों आदि।

प्राचीन समय में राजा निष्प्रतिबन्ध नहीं होता था—साधारणतः यह कहा जाता है कि प्राचीन समय में राजा निष्प्रतिबन्ध होता था अर्थात् उस की शक्तियों पर अन्य कोई भी दबाव डाल नहीं सक्ता था, वह जो चाहता था कर लेता था जिस पर अति क्रुद्ध होता उसे मार डालता और जिस पर साधारण क्रुद्ध होता उसे बन्दीगृह में डाल देता था। परन्तु यह कथन सर्वथा अमूलक है। हम जो पूर्व लिख आए हैं उस से सिद्ध होता है कि राजा बन ही वह सक्ता था जो धार्मिक और बड़ा विद्वान् हो और विशेषकर राजनीति से पूर्ण अभिज्ञ हो अर्थात् जो पुरुष इन गुणों से रहित हो वह राजा नहीं बन सक्ता था। इस से स्पष्टतया यह परिणाम निकलता है कि राजा का पुत्र यदि गुण रहित हो तो पैतृक-सम्पत्ति की भांति वह राजसिंहासन को प्राप्त नहीं कर सकता था।

अभिषेक-विधि अर्थात् राजा बनाने की रीति—जो शतपथ ब्राह्मण के राजसूय-यज्ञ प्रकरण में लिखी है वह बड़ी ही मनोरञ्जक है उस का ध्यान पूर्वक अवलोकन करने से बहुत सी ऐतिहासिक शिक्षाएं प्राप्त हो सकती हैं। उक्त प्रकरण में लिखा है कि यज्ञशाला के बीच हविर्धान के सन्मुख तथा आहवनीयाग्नि के पीछे जब राजसिंहासन रख दिया जाय और उस पर यथोचित बिछावन हो जाय तब अध्वर्यु उस पुरुष को जो राजा बनाने के योग्य माना गया है इस प्रकार घोषणा करते हुए राजशासनाधिकार से युक्त करे:—

"इयं ते राडिति राज्यमेवास्मिन्नेतद्धात्यथैनमासादयति यन्तासि यमन इति यन्तारमेवैनमेतद्यमनमासां प्रजानां करोति ध्रुवोसि धरुण इति ध्रुवमेवैनमेतद्धरुणमस्मिँल्लोके करोति कृष्यैत्वा क्षेमायत्वा रय्यैत्वा पोषायत्वेति साधवेत्वेत्ये वै तदाह" (शतपथ, काण्ड ५, अध्याय ३, ब्राह्मण १, प्रवाक २९)

"इयं ते राडिति" यह राज्य तेरे लिए है अर्थात् यह राज्य तुझे दिया जाता है, अध्वर्यु अपने इस कथन से ही उस पुरुष को राज्याधिकारी बनाता है अर्थात् अध्वर्यु की इस घोषणा के अनन्तर ही वह राजा बनता है। पुनः अध्वर्यु उसे राज-सिंहासन पर बैठाता और उस से कहता है "यन्तासियमन इति" तू यन्ता अर्थात् शासनकर्त्ता और यम अर्थात् प्रजा को नियमपूर्वक चलाने योग्य है, अध्वर्यु अपने इस कथन से ही उस पुरुष को प्रजा का यन्ता अर्थात् शासनकर्त्ता बनाता है। पुनः अध्वर्यु उस पुरुष से कहता है "ध्रुवोऽसि धरुण इति" अर्थात् तू ध्रुव की भांति धर्म्म पर दृढ़ है, तू शासन भार को धारण कर सक्ता है, अध्वर्यु अपने इस कथन से ही उस पुरुष को इस लोक में ध्रुव और धरुण (प्रसिद्ध) करता है (अर्थात् अध्वर्यु की इस घोषणा ही से वह पुरुष ध्रुव और धरुण माना जाता है) पुनः अध्वर्यु उस पुरुष से कहता है "कृष्यैत्वा क्षेमायत्वा रय्यैत्वा पोषायत्वेति साधवेत्वेति" तुझे कृषि अर्थात् खेती की उन्नति के लिए, तुझे क्षेम अर्थात् प्रजा के कल्याण और सुख के लिए, तुझे रयि अर्थात् ऐश्वर्यों की वृद्धि के लिए, तुझे पोष अर्थात् प्रजा के पोषण पालन के लिए, तुझे साधु अर्थात् महात्माजनों की संख्या-वृद्धि के लिए अथवा साधु जनों की सेवा के लिए (राजा बनाते हैं)। (अध्वर्यु के ऐसे कथन के अनन्तर ही उक्त पुरुष उक्त प्रकार के कार्य्यों के सम्पादन योग्य माना जाता और तब प्रजा उसे अपना राजा स्वीकार करती थी)।

तदनन्तर अन्यान्य कई प्रकार की क्रियायें होती थीं पुनः इस यज्ञ में नियमानुसार आमन्त्रित और उपस्थित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के सन्मुख राजा के आवेदन और अभिषेचन इस प्रकार होते थे :—

आवित्तोऽग्निर्गृहपतिरिति । ब्रह्म वाऽग्निस्तदेनं ब्रह्मणऽआवेदयति तदस्मै सव मनुमन्यते तेनानुमतः सूयते ॥ ३२ ॥ आवित्तोऽइन्द्रो वृद्धश्रवा इति । क्षत्रं वाऽइन्द्रस्तदेनं क्षत्रायावेदयति तदस्मै सव मनुमन्यते तेनानुमतः सूयते ॥ ३३ ॥ आवित्तौ मित्रावरुणौ धृतव्रतावीति । प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ तदेनं प्राणोदानाभ्यामावेदयति तावस्मै सव मनुमन्येते ताभ्यामनुमतः सूयते ॥

आवित्त (विज्ञापित) होता है गृहपति अग्नि (अर्थात् पूर्व के अनेक संस्कारों के हो जाने के अनन्तर गृहपति अग्नि को अध्वर्यु द्वारा राजा के विषय में विशेष सूचना दी जाती है) ब्रह्म अर्थात् ब्राह्मण का (दूसरा नाम) अग्नि भी है इस कारण वह (अध्वर्यु) उस (राजा को) ब्राह्मण के (सन्मुख) आवेदन करता है (विज्ञापित करता है अर्थात् बतलाता है कि इस पुरुष को राजा बनाना है) और वह (ब्राह्मण समुदाय) उस (राजा को) अपने लिये स्वीकार करता है और उस ब्राह्मण समुदाय की स्वीकृति के अनन्तर (उस राजा का) अभिषेचन होता है॥३२॥

तदनन्तर आवित्त (विज्ञापित) होता है चिर प्रसिद्ध इन्द्र। क्षत्र अर्थात् क्षत्रिय का (दूसरा नाम) इन्द्र भी है इस कारण वह (अध्वर्यु) उस (राजा) को क्षत्रिय के (सन्मुख) आवेदन करता है (विज्ञापित करता है अर्थात् बतलाता है कि इस पुरुष को राजा बनाना है) और (वह क्षत्रियसमुदाय) उस (राजा को) अपने लिये स्वीकार करता है और उस (क्षत्रियसमुदाय) की स्वीकृति के अनन्तर (उस राजा का) अभिषेचन होता है ॥ ३३ ॥

तदनन्तर आवित्त (विज्ञापित) होते हैं व्रतों के धारण करने वाले मित्र और वरुण। प्राण को मित्र और उदान को वरुण कहते हैं (यहां वर्णों का प्रकरण है अग्नि शब्द से ब्राह्मण, इन्द्र शब्द से क्षत्रिय का वर्णन हो चुका अतः मित्र और वरुण इन दोनों शब्दों से प्रकरणानुसार वैश्य और शूद्रों का ही ग्रहण हो सक्ता है) इस कारण वह (अध्वर्यु) उस (राजा को) प्राणवत् पोषण करने वाले वैश्य और उदानवत् कार्य करने वाले शूद्र के (सन्मुख) आवेदन करता है (विज्ञापित करता है अर्थात् बतलाता है कि इस पुरुष को राजा बनाना है) और वे (वैश्य तथा शूद्र समुदाय) उस (राजा को) अपने लिये स्वीकार करते हैं और उन (वैश्य तथा शूद्रसमुदाय) की स्वीकृति के अनन्तर (उस राजा का) अभिषेचन होता है।

उक्त क्रियाओं से तात्पर्य यह निकलता है कि कोई भी पुरुष तब तक राजा नहीं बन सक्ता था जब तक कि राज्याभिषेक यज्ञ में नियमानुसार आमन्त्रित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रसमुदाय वा इन के प्रतिनिधि राजा बनने वाले पुरुष को अपना राजा स्वीकार नहीं कर लेते थे। इस के पश्चात् अन्यान्य भी कई क्रियायें होती थीं।

पुन: जब राजा का अभिषेक होने लगता था तो अध्वर्यु जल से उस के शरीर का मार्जन करता हुआ कहता था "इममसुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमिति तद्यदेवास्य जन्म तत एवै तदाहास्यै विशऽइति यस्यै विशो राजा भवति" (शतपथ, काण्ड ९, अ० ४, ब्राह्मण २, प्रवाक ३) यह अमुक पुरुष का पुत्र अमुक स्त्री का पुत्र है अर्थात् जिन से उस ने जन्म ग्रहण किया है उन को बताता है, यह अमुक विश् अर्थात् प्रजा का है अर्थात् उस प्रजा को बताता है जिस का राजा यह बनता है।

तदनन्तर कुछ और संस्कार होते थे फिर अध्वर्यु राजा की छाती को स्पर्श कर के कहता था "निषसाद धृतव्रत इति धृतव्रतो वै राजा न वाऽएष सर्वस्माऽइव वदनाय नसर्वस्माऽइव कर्म्मणे यदेव साधु वदेद्यतसाधु कुर्य्यात्तस्मै वाऽएष च श्रोत्रियश्चैतौ हवै द्वौ मनुष्येषु धृतव्रतौ तस्मादाह निषसाद धृतव्रत इति...." (शतपथ काण्ड ९, अ० ४, ब्राह्मण ४, प्रवाक ९) अर्थात् (प्रजा की रक्षा पोषण और वृद्धि के लिए धर्म्मपरायण बने रहने, पवित्र राजनियम की आज्ञा पालन करने कराने का व्रत जिस ने धारण किया है वह) धृतव्रत राजसिंहासन पर बैठ गया है, राजा का धर्म्म है कि वह अपने धारण किये हुए व्रतों की पालना अवश्य ही करे, अब यह न तो औरों की तरह मनमानी बातें बोल सक्ता और न मनमाना कार्य कर सक्ता है (अर्थात् इस की शक्तियां प्रतिबन्धित हैं) इसे उचित है कि अब यह उन्हीं बातों को बोले जो जो साधु अर्थात् (राज-नियमानुसार होने के कारण) श्रेष्ठ एवं कल्याण कारी हों तथा उन्हीं कार्यों को करे जो साधु अर्थात् श्रेष्ठ राजनियम-सङ्गत हों। क्योंकि मनुष्यों के बीच राजा और वेदों का ज्ञाता श्रोत्रिय ब्राह्मण ये ही दोनों धृत-व्रत अर्थात् प्रजा के कल्याणार्थ धारण किये हुए व्रतों वा राजनियमों की पालना भली भांति करते हैं अत: कहा गया कि यह धृतव्रत राजा राजसिंहासन पर बैठ गया है।

तदनन्तर कुछ और संस्कार हो कर अध्वर्यु तथा उस के साथी "एनं पृष्ठतस्तूष्णीमेव दण्डैर्घ्नन्ति। तदण्डैर्घ्नन्तो दण्डबधमतिनयन्ति तस्माद्राजा दण्ड्यो यदेनं दण्डबधमतिनयन्ति" (शतपथ, काण्ड ९, अ० ४, ब्राह्मण ४, अनुवाक ७) राजा के पीठ पर धीरे २ दण्ड से चोट लगाते हैं मानो उस दण्ड की चोट से (दण्डबध) अर्थात् (दण्ड-नाश) के पार राजा को ले जाते हैं (अर्थात्) सिद्ध करते हैं कि राजा के लिए दण्ड का बध वा नाश नहीं हुआ है अर्थात् वह दण्ड नाश के परे है एवं दण्ड के भीतर है) इसी कारण राजा भी (अपराध करने पर) दण्ड योग्य है क्योंकि उसे दण्डबध के पार उतारते हैं।

जो कुछ ऊपर लिखा गया है उस से साधारण बुद्धि के मनुष्य को भी ज्ञात हो सक्ता है कि राजा प्राचीन समय में निष्प्रतिबन्ध नहीं होता था प्रत्युत उसे राजनियमों के अनुसार ही कार्य करना पड़ता था। यदि वह राजनियम-विरुद्ध कार्य करता तो पापी एवं दण्डनीय समझा जाता था जिस के निम्नलिखित प्रमाण भी हैं:—

यदि राजा पवित्र राजनियमानुसार शासन करता है तो वह अपनी प्रजा के आयधन का छठा भाग ले सक्ता है (अन्यथा नहीं) (वाशिष्ठ १, ४२)

आपस्तम्ब सूत्र (प्र० २, पटल ११, खण्ड २८, सूत्र १३) में लिखा है कि "यदि राजा एक दण्डनीय अपराध के लिए दण्ड नहीं देता तो उस को अपराधी समझना चाहिए"।

गौतम सूत्र (अध्याय १२, सूत्र ४८) में लिखा है कि "जो राजा न्यायपूर्वक दण्ड देकर अपना कर्त्तव्य पालन नहीं करता उसे प्रायश्चित्त करना चाहिये" (नोटः—प्रायश्चित्त एक प्रकार का स्वीकृत दण्ड है)।

वाशिष्ठ सूत्र (अध्याय १९, सूत्र ४०, ४१, ४२, ४३, ४४, ४६) में लिखा है कि " यदि दण्ड के योग्य कोई अपराधी छूट जाय तो राजा को एक दिन और एक रात भूखा रहना चाहिए और राजा के पुरोहित को तीन दिन और तीन रात भूखा रहना चाहिए, यदि कोई निरपराध पुरुष को दण्ड मिल जाय तो राजपुरोहित को कृच्छ्रव्रत करना चाहिए और राजा को तीन दिन तथा तीन रात्रि भूखा रहना चाहिए ब्राह्मण के मारने वाले का पाप उस पर भी पड़ता है जो उस का अन्न खाता है, व्यभिचारिणी का पाप उस के असावधान पति पर भी, ब्रह्मचारी और यजमान के पाप असावधान गुरु और यज्ञ कराने वाले पर भी और चोर का पाप उस राजा पर भी पड़ता है जो चोर के अपराधों को क्षमा करता है, अपराधी के पापों का क्षमा करने वाला राजा पाप का भागी होता है"।

बौद्धायन सूत्र (प्र० २, अध्याय १, कण्डिका १, सूत्र १७) में लिखा है कि " यदि राजा चोर को दण्ड नहीं देता तो चोरी का पाप राजा को लगता है।

राजा को क्यों निष्प्रतिबन्ध न होना चाहिए इस का कारण शतपथ ब्राह्मण (काण्ड १३, प्र० २, ब्रा० ३, कं० ७ तथा ८) में इस प्रकार लिखा है:—

"राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशंघातुकः। विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति न पुष्टं पशुं मन्यत इति "

जो प्रजा से स्वतन्त्र स्वाधीनराजवर्ग रहे तो (राष्ट्रमेव विश्याहन्ति) राज में

प्रवेश कर के प्रजा का नाश किया करें, जिस लिए अकेला राजा स्वाधीन वा उन्मत्त होके (राष्ट्री विशं घातुकः) प्रजा का नाशक होता है अर्थात् (विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति) वह राजा प्रजा को खाए जाता है (अत्यन्त पीड़ित करता है) इस लिए किसी एक को राज्य में स्वाधीन न करना चाहिए, जैसे सिंह वा मांसाहारी रिष्ट पुष्ट पशु को मार कर खा लेते हैं वैसे (राष्ट्री विशमात्ति) स्वतन्त्र राजा प्रजा का नाश करता है अर्थात् किसी को अपने से अधिक न होने देता श्रीमान् को लूट खूंद अन्याय से दण्ड ले के अपना प्रयोजन पूरा करता है।

गौतम-सूत्र अध्याय ग्यारह सूत्र १९, २०, २१ तथा २२ के देखने से बोध होता है कि राजा अपनी न्याय व्यवस्था, वेद, धर्म्म-शास्त्र (पवित्र राजनियम) अङ्ग तथा पुराणों (ब्राह्मणग्रन्थों) के अनुसार ही चला सक्ता था, भिन्न २ प्रान्तों वर्णों तथा वंशों सम्बन्धी नियम जो पवित्र राजनियम के प्रतिकूल नहों उन्हें भी उसे प्रामाणिक मानना पड़ता था, कृपक, वणिक्, गड़रिए महाजन (ऋण देने वाले) और कारीगर अपने २ समूहों के विषय में यदि पवित्र राजनियम से अविरुद्ध विशेष नियम बना ते थे तो उन्हें भी राजा स्वीकार करता था। प्रत्येक वर्ण के प्रामाणिक प्रतिनिधियों की सम्मति ज्ञात कर ही वह किसी विषय में राजनियमोचित निष्पत्ति दे सक्ता था।

अतः सिद्ध हुआ कि प्राचीन समय में राजा निष्प्रतिबन्ध नहीं था। हम तो ऐसा भी समझते हैं कि प्राचीन समय में राजा की शक्तियां आज कल के व्यवस्था-बद्ध राजाओं की शक्तियों की अपेक्षा भी अधिकतर प्रतिबन्धित थीं क्योंकि इंगलैंड के राजा यदि चाहें तो किसी भी अपराधी का अपराध क्षमा कर सक्ते हैं परन्तु प्राचीन भारतीय राजा के सन्मुख जब किसी अपराधी के अपराध क्षमा करने की बात उपस्थित होती थी वह वेदज्ञ विद्वानों की सभा की सम्मति के बिना अपराध क्षमा नहीं कर सक्ते थे। इस विषय में गौतम सूत्र अध्याय १२, सूत्र ५१ तथा ५२ में लिखा है "अपराधी के शरीरिक बल, अपराध तथा यह ज्ञात कर कि इस ने अपराध बारम्बार तो नहीं किया है अपराधी को दण्ड देना चाहिए, अपराध क्षमा तभी किया जासक्ता है जब कि वेदज्ञ विद्वानों की सभा सम्मति दे कि अपराध क्षमा करने योग्य है"।

गौतम सूत्र के उक्त प्रमाण से यह भी बोध होता है कि राजा की सम्मति से वेदज्ञ ब्राह्मणों की सभा की सम्मति अधिकतर प्रतिष्ठित थी अर्थात् वेदज्ञ ब्राह्मणों की सभा की सम्मति को राजा उठा नहीं सक्ता था अतः ज्ञात होता है कि राजा

को नियमों में रखने वाली एवं उस पर दबाव डाल ने वाली भी यही वेदज्ञ ब्राह्मणों की सभा होगी।

प्राचीन राजसभा और वर्तमान पार्लिमेंट—आपस्तम्बसूत्र (२, १०। २५, ५) में लिखा है कि राजा को चाहिए कि नगर से दक्षिण की ओर एक सभा भवन (हाउसआफ़ पार्लिमेंट) बनवाए जिस के दक्षिण और उत्तर की ओर अनेक द्वार हों ताकि भीतर और बाहर जो कुछ हो रहा हो वह दृष्टिगोचर हो सके। आपस्तम्बसूत्र (२, १०, २५ सू० ६, ७, १२ तथा १३) में जो कुछ लिखा है उस का आशय यह है कि उक्त सभा भवन को अग्निहोत्र से सदा पवित्र रखना चाहिए तथा उस में मन बहलाव के सामान भी रखने चाहिए।

गौतम सूत्र (अध्याय ११, सूत्र १९, २०, २१, २२, २३ २४ २५) में लिखा है कि राजा को चाहिए कि अपनी न्याय व्यवस्था, वेद, धर्म्मशास्त्र, अङ्गों तथा पुराणों (ब्राह्मण ग्रन्थों) के अनुसार चलावे, भिन्न भिन्न प्रान्तों, वर्णों तथा वंशों सम्बन्धी नियमों को भी यदि वे धर्म्मशास्त्र (पवित्र सनातन राजानियम) से विरुद्ध न हों तो उन्हें भी प्रामाणिक मानें, एवं कृषक, वणिक्, गडरिए महाजन (रुपए के लेन देन करने वाले) और कारीगर जो अपने अपने समूहों के विषय में नियम बनावें उन्हें भी प्रामाणिक माने, प्रत्येक वर्ण के **प्रामाणिक प्रतिनिधियों** की सम्मति भली भांति ज्ञात कर (वह किसी विषय में) राजानियमोचित निष्पत्ति देवे, सत्यासत्य के निर्णय के लिए (उक्त प्रतिनिधि आदि से) भली भांति तर्क वितर्क करे ताकि सत्य परिणाम पर पहुंच जाय, क्योंकि तर्क वितर्क के पश्चात जो कुछ वह अन्तिम सम्मति देगा वह ठीक होगी, यदि तर्क वितर्क के अनन्तर भी उसे (प्रतिनिधियों के तथा अन्यों के कथन) उलझे हुए ज्ञात हों तो वह उन ब्राह्मणों (ब्राह्मण सभा) से सम्मति ले जो पवित्र त्रयी-विद्या (ज्ञान कर्म्म, उपासनामय वेदों) के गम्भीर ज्ञाता हों और उन की सम्मत्यनुसार अपना अन्तिम निर्णय देवे।

वेदों का गम्भीर ज्ञाता कौन कहलाता है इस विषय में इसी गौतम सूत्र के अध्याय ८, सूत्र ४, ५, ६, ७ में लिखा है "वेदों का गम्भीर ज्ञाता वह है जो सांसारिक चक्रों (संसार की रीति भांति चलन व्यवहार, भिन्न २ प्रकार के मनुष्यों की शिष्टता का तथा कुटिलता इत्यादि इत्यादि) से अभिज्ञ हो, वेदों और वेदाङ्गो का ज्ञाता हो जो तर्क वितर्क तथा इतिहास और पुराणों (ब्राह्मण ग्रन्थों) में निपुण

हो जो उक्त वेदादि को ही प्रामाणिक मानता हो और जो अपना जीवन उक्त वेदादि की शिक्षानुसार ही (अति पवित्र) व्यतीत करता हो ।

ऐसे अनेक ब्राह्मण जिस सभा में हों उसे ब्राह्मणसभा वा ब्राह्मण-परिषद् कहते थे ।

उक्त लेखों से स्पष्ट विदित होता है कि राजा की राजधानी में सभाभवन बना रहता था । प्रजा के प्रतिनिधियों से सम्मति लेकर राजा वेद तथा धर्म्म शास्त्रादि अनुसार निर्णय करता था । जिस विषय में प्रतिनिधियों तथा अन्यों की सम्मति उलझी हुई रहती थी उस विषय में राजा ब्राह्मण-सभा की सम्मति लेता और तब निर्णय कर सक्ता था ।

जो कोई ऐतिहासिक बुद्धि का मनुष्य उक्त प्रमाणों को ध्यान-पूर्वक पढ़ेगा वह हमारे इस कथन के साथ अवश्य सम्मत होगा कि प्राचीन समय में भारतवर्ष का राज्य प्रजातन्त्र था । शोक है अभी तक हमें वे इतिहास नहीं मिल सके जिन से यह पता लगता कि उस समय प्रतिनिधियों का निर्वाचन किस प्रकार होता था जिस से हम यह निर्णय कर सक्के कि उस समय की राजसभाओं तथा वर्तमान पार्लिमेंटों के निर्वाचन में क्या अन्तर है। तथापि धर्म सूत्रों के देखने से निम्नलिखित भेद अवश्य प्रतीत होते हैं:—

आज कल सभ्यताभिमानी देशों की राज्य सभाओं में सब विषयों का निर्णय बहुपक्षानुसार होता है और विद्वान् से विद्वान् राजनीतिज्ञ तथा मूर्ख से मूर्ख कृषक की सम्मतियां पार्लिमेंट के सभ्यों के निर्वाचन में समान ही समझी जाती हैं । और पार्लिमेंट में भी सम्मति देते हुए एक साधारण सभासद् और एक विशालबुद्धि राजनीतिज्ञ की सम्मति भी समान ही मानी जाती है । इस रीति में बड़ा दोष यह है कि जब कभी कोई ऐसा राजनियम सभा के सन्मुख स्वीकृत होने को आता है जिस पर विचार करने के लिए सूक्ष्मबुद्धि और अनुभवी मस्तिष्क की आवश्यकता हो अर्थात् जिसे साधारण बुद्धि के सभासद् न समझ सक्के हों तो बहुवार बहुपक्षानुसार राज्य-सभाएं ऊट पटाङ्ग राजनियम पास कर देती हैं जिस से देश और जाति को बड़ी हानि पहुंचती है । साधारण बुद्धि के सभासदों की इस अन्धाधुन्ध कार्य्यवाही पर किसी प्रकार का व्यवस्थापक प्रतिबन्ध नहीं है और यदि किसी देश में कोई प्रतिबन्ध है भी तो वह उस अन्धाधुन्ध के रोकने में असमर्थ है ।

उदाहरण के लिए इङ्गलिस्तान की व्यवस्था पर ही विचार कीजिए । वहां कोई राजनियम तब तक स्वीकृत नहीं समझा जाता जब तक कि वह सर्वसाधारण प्रतिनिधि सभा (House of Commons) तथा भूमि-स्वामियों की सभा (House of-Lords) में स्वीकृत न हो जावे (पास न होले) । कोई बुद्धिमान् पुरुष यह नहीं कह सक्ता कि लार्डों की सभा, कामंस की सभा के विचार सम्बन्धी दोषों का प्रतिकार कर सक्ती है । क्योंकि यह तो सम्भव है कि कामंस की सभा में विद्या और बुद्धि की बातें मान्य की दृष्टि से देखी जावें क्योंकि उस के सभासद् सर्वसाधारण के द्वारा चुने जाते हैं और उन को यह भी भय रहता है कि यदि उन से कोई मूर्खता हुई और उस का परिणाम देश की साधारण अवस्था पर प्रत्यक्ष रूप से हानिकारक सिद्ध हुआ तो वह पदच्युत किए जावेंगे परन्तु लार्ड सभा के सभ्यों को इस प्रकार का कोई भय नहीं है क्योंकि वह लार्ड घराने में जन्मधारण करने के कारण ही लार्ड सभा के सभासद् बने हुए हैं । आश्चर्य्य है कि एक लार्ड का पुत्र चाहे वह निर्बुद्धि निरक्षरभट्टाचार्य्य और दुराचारी ही क्यों न हो तो भी देश के राजनियमों का निर्णय करने में सम्मति देने का अधिकार रखता है ।

प्राचीन आर्य्यावर्त में जहां साधारण विषयों के सम्बन्ध में वही लोग राजनियम बनाते थे जिन पर उन नियमों का विशेष प्रभाव पड़ता था, विशेषावस्थाओं में अन्तिम-निर्णय का अधिकार ब्राह्मणों (ब्राह्मण-सभा) को था । ब्राह्मण किसी जाति विशेष का नाम न था प्रत्युत ब्राह्मण और विद्वान् धर्म्मात्मा पर्य्यायवाची शब्द थे । जिस काल का हम इतिहास लिख रहे हैं उस काल के साहित्य में स्पष्टतः उपदेश है कि ब्राह्मण को पवित्र तथा साधारण जीवन व्यतीत करना चाहिए और उसे धनी बनने का यत्न करना कभी भी उचित नहीं है । वाशिष्ठसूत्र (अध्याय ६ सूत्र २३ तथा २५) में लिखा है कि वे सब गुण जिन से एक ब्राह्मण पहचाना जाता है ये हैं "योगसाधन, तपस्या, इन्द्रियदमन, उदारभाव, सत्यशीलता, (मन, वचन, कर्म्म की) पवित्रता, पवित्र (वेदों का ज्ञान, दयालुता, सांसारिक विद्याओं और व्यवहारों का ज्ञान, प्रज्ञाशालिता वा तीक्ष्णबुद्धिमत्ता, परमात्मा और परलोक में विश्वास (अर्थात् ये सब गुण जिन में होते थे वे ही ब्राह्मण माने जाते थे) । ऐसे ही ब्राह्मण जो मनोविकारों से रहित होते हैं, तप में निश्चल होते हैं, जिन के कान वेदमन्त्रों से भरे हुए हैं, जिन की ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां वश में आचुकी हैं, जो किसी भी प्राणी से द्रोह नहीं करते और जो दान मिलते समय भी अपने हाथ बन्द कर लेते हैं अर्थात् किसी से भी दान नहीं लेते, सब की रक्षा कर सक्ते हैं । "

अतः सिद्ध हुआ कि अन्तिम निश्चय ऐसे लोगों के हाथ में था जो धर्मात्मा, विद्वान्, निष्पक्ष और स्वार्थरहित थे ।

बौद्धायन सूत्र (१, १, १, सूत्र ९) में लिखा है कि सहस्र मूर्खों की सम्मति की अपेक्षा एक भी धर्मात्मा ब्राह्मण की सम्मति अधिक आदरणीय है । परन्तु बौद्धायन सूत्र (१, १, १, सूत्र १६) में लिखा है कि कई सहस्र (नाम मात्र के ब्राह्मणों का समूह भी राज्यनियम-निर्णायक-परिषद् नहीं कहला सक्ता, यदि वे अपने पवित्र कर्तव्यों (महायज्ञों और यज्ञों के अनुष्ठानादि का पालन नहीं करते हों, वेद न जानते हों, और केवल ब्राह्मणवंश में जन्मे हों ।

आहा ! राज्यप्रबन्ध की यह कैसी आदर्श रीति है ! राज्यनियम-व्यवस्था सर्व-साधारण के प्रतिनिधियों के हाथ में तो थी परन्तु उन की बुद्धि के दोषों के निवारणार्थ तथा अल्पपक्ष की रक्षा के लिए उक्त व्यवस्थाओं की प्रत्याख्या वा संशोधन का अधिकार देश के बड़े २ धर्म्मात्मा विद्वानों की परिषद् को था ।

शोक है कि इस राज्यप्रबन्ध के विषय में इस समय हमें अधिक ज्ञान नहीं है परन्तु इस में सन्देह नहीं कि इस का मौलिक सिद्धान्त स्वर्णीय है और यदि सभ्य संसार में इस का आभ्यासिक प्रचार हो जावे तो राजनियम-व्यवस्था सम्बन्धी अनेक प्रश्नों का अन्तिम निर्णय भी हो सक्ता है ।

प्रबन्ध (Executive) विभाग तथा न्याय (judicial) विभाग

आज कल कई सभ्य देशों में और विशेष कर इंगलैण्ड में न्यायविभाग प्रबन्धविभाग से बिलकुल भिन्न है और ऐसा होना अति उत्तम है ।

क्योंकि यदि उभयाधिकारप्राप्त विचाराधिपति बड़ा ज्ञानी और धर्मात्मा भी हो तो भी अपने मन के आवेशों के आधीन होने के कारण हर समय पूर्ण निष्पक्षता से न्यायव्यवस्थानुसार अभियोगों का निर्णय उस के लिये कुछ कठिन हो जाता है । जब एक मनुष्य पुलिस के मुखिया की स्थिति में एक दोषी को पकड़वाता है और उस के विरुद्ध साक्षी एकत्रित करता वा कराता है और फिर न्यायकर्त्ता की स्थिति में अपने ही उपस्थित किए हुए अभियोग का निर्णय करने बैठता है तो ठीक परिणाम पर पहुंचने में उसे कुछ कठिनाई अवश्य होती है इस लिये आदर्श व्यवस्था वही है जो इङ्गलिस्तान में प्रचलित है और जो इङ्गलिश जाति की उच्च सभ्यता का एक बड़ा प्रमाण है ।

प्राचीनभारतवर्ष में दोनों विभाग पृथक् २ थे। आपस्तम्ब सूत्र के २ प्रश्न के १० पटल के २६ खण्ड में प्रबन्धविभाग के राज-पुरुषों का वर्णन है जिन के कई कर्तव्यों के साथ निम्नलिखित कर्तव्य भी बतलाए गए हैं:—

(१) चोरों से नगर की रक्षा करनी ।

(२) शुल्क अर्थात् टैक्सों का इकट्ठा करना ।

उक्त २६ खण्ड में यह भी लिखा है कि प्रबन्ध विभाग के पदों पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्णों के पुरुष नियत हो सक्ते हैं । परन्तु यह नियम साधारणतः प्रचरित नहीं था प्रत्युत विशेष २ अवस्थाओं में प्रयुक्त होता था । क्योंकि क्षत्रिय का कर्तव्य है कि वह वेदाध्ययन करे, यज्ञ करे, उदार हो, शस्त्रों को चलाए और शासन की उन्नति के लिए अपने बल को व्यय करे और एक प्रबन्धकर्त्ता के लिए आवश्यक है कि वह शस्त्रों को धारण करे और ब्राह्मण तथा वैश्य आपत्काल को छोड़ अन्य समयों में शस्त्र धारण नहीं करते थे (जैसा कि बौद्धायन सूत्र २, २, ४, १६, १७, १८ से ज्ञात होता है) अतः सिद्ध होता है कि प्रबन्धविभाग के पदों पर प्रायः क्षत्रिय ही नियुक्त हुआ करते थे ।

न्यायाधीशों का वर्णन सूत्रग्रन्थों के अनेक स्थलों में आया है । आपस्तम्बसूत्र के दूसरे प्रश्न के ग्यारहवें पटल के २९ उनतीसवें खण्ड में न्यायाधीशों के जो गुण बतलाए गए हैं उन में प्रबन्ध एवं रक्षा का नाम नहीं है । वहां लिखा है कि "पूर्ण विद्वान्, पवित्र-कुलोत्पन्न, वृद्ध, तर्क में निपुण और अपने कर्तव्यों के पालन में जो सावधान हों उन्हीं को अभियोगों के निर्णय के लिए न्यायाधीश बनाना चाहिए" (आपस्तम्ब २, ११, २९, ५) । और क्योंकि उक्तगुण प्रायः ब्राह्मणों में ही पाए जाते थे इस कारण न्यायाधीशों के पदों को ब्राह्मण ही सुशोभित किया करते थे।

जिन राज्यनियम व्यवस्थाओं का निश्चय पूर्णविचार के पश्चात् ब्राह्मणों की महती परिषदों में होता था उन के अर्थों में शङ्का उपस्थित होने पर अथवा उन के परस्पर सम्बन्ध ज्ञात न होने पर अथवा उन के अन्यान्य प्रकारों से विवादास्पद होने पर इन का यथार्थार्थ दशावरा-सभा बतलाती थी । इस दशावरा सभा में जो दशसभासद् होते थे उन में से चार सभासद् तो चारों वेदों के ज्ञाता होते थे, एक मीमांसक, एक वेदाङ्गों का ज्ञाता, एक धर्म्मशास्त्रों अर्थात् राजनियमों का जानने वाला और तीन आश्रमों के तीन पूर्ण विद्वान् ब्राह्मण सभासद् होते थे (बौद्धायन १, १, १, ८) ।

वाशिष्ठ अध्याय १६ सूत्र २ में लिखा है कि राजमन्त्री वा स्वयम् राजा भी अभियोगों का निर्णय किया करे । इस से ज्ञात होता है कि बड़े २ अभियोग राजा के द्वारा भी निर्णित होते थे ।

वाशिष्ठ अध्याय १ सूत्र ४० तथा ४१ में लिखा है कि ब्राह्मण (धार्मिक विद्वान् लोग) सब के कर्तव्य बतलाएंगे और राजा तदनुसार ही सब का शासन करेगा ।

अतः न्यायाधीश चाहे कोई ब्राह्मण हो वा राज-मन्त्री वा स्वयम् राजा सब को ब्राह्मणों अर्थात् (धार्मिक विद्वानों) की महती सभा द्वारा निर्धारित राज्यव्यवस्था-ओं के अनुसार (जो राजव्यवस्थाएं कि सदा वेदानुकूल होती थीं) निष्पत्ति देनी पड़ती थी ॥

भिन्न २ आचार्य्यों के मत—यद्यपि राजनियम सम्बन्धी मूल सिद्धान्तों में सब आचार्य्य सहमत थे तदपि विशेप २ बातों में जिन का मूल सिद्धान्तों के साथ साक्षात् सम्बन्ध न होता था वे भिन्न २ सम्मतियां रखते थे और यह न्यायाधीश के अधिकार में होता था कि किसी विशेप अभियोग के निर्णय करने में दोषी विशेप के स्वभाव, मानसिक और शारीरिक वैचित्र्य का ध्यान रखता हुआ किसी आचार्य्य की सम्मति के अनुसार दण्ड देवे । धर्म्म-व्यवस्थाओं के ज्ञाता आपस्तम्ब गौतम, वशिष्ठ और बौद्धायन नाम के चार जो बड़े २ आचार्य्य थे वे मूल सिद्धान्तों में किस प्रकार सहमत थे और गौण बातों में किस प्रकार उन का मत भेद था यह हम नीचे दर्शाते हैं:—

आपस्तम्ब सूत्र अध्याय १, पटल १, खं० १, सूत्र २ तथा ३ में लिखा है "यह धर्म्म व्यवस्थाएं प्रामाणिक इस कारण हैं कि धर्म्म-व्यवस्थाओं के जानने वालों की इन के विषय में एक सम्मति है । और धर्म्म-व्यवस्थाओं के जानने वालों की प्रामाणिक सम्मति का आधार वेद है ।"

गौतम सूत्र अध्याय १, सूत्र १ तथा २ में लिखा है "धर्म-व्याख्याओं का मूल स्थान वेद है तथा वेदज्ञों के इतिहास वा (स्मृति) तथा आचार से भी (अ-र्थात् वेदज्ञों के इतिहास वा स्मृति तथा आचार से भी धर्म्म व्यवस्थाएं निकली हैं)"

वाशिष्ठ सूत्र अध्याय १ सूत्र ४ तथा ५ में लिखा है "धर्म्म-व्यव-स्थाओं का निश्चय, ईश्वरीय-ज्ञान (वेद) तथा ज्ञानियों के इतिहास वा स्मृतियों से होता है । यदि इन से निश्चय न हो सके तो शिष्टों का आचार ही प्रामाणिक (एवं अनुकरणीय है ।"

वाशिष्ठ सूत्र अध्याय १ सूत्र १७ में लिखा है "मनु की आज्ञा है कि देशों, जातियों तथा वंशों की विशेष रीतियों का अनुसरण करना चाहिए (यदि वे वेद विरुद्ध न हों) यदि किसी विशेष सम्बन्ध में ईश्वरीय-ज्ञान (वेद) की आज्ञा प्रत्यक्ष ज्ञात न होती हो।"

गौतम सूत्र अध्याय १ सूत्र ४ में लिखा है "यदि समान योग्यता रखने वाले आचार्य्यों में मत-भेद हो तो (न्यायाधीश को अधिकार है कि) जिस सम्मति को चाहे स्वीकार कर लेवे।"

बौद्धायन सूत्र के प्रथम प्रश्न के प्रथमाध्याय की प्रथम कण्डिका के सूत्र १, २, ३, ४ में लिखा है "धर्म्म व्यवस्था प्रत्येक वेद में बतलाई गई है। हम धर्म्म-व्यवस्था की व्याख्या वेदानुकूल ही करेंगे। स्मृतियों की धर्म्मव्यवस्था की प्रामाणिकता द्वितीय कोटि की है। शिष्टों के आचार की प्रामाणिकता तृतीय कोटि की है।"

इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि सब आचार्य्य वेदों को सर्वोपरि प्रमाण मानते थे अर्थात् जिन मूल सिद्धान्तों का वर्णन वेद करता है उन के विषय में वे एक मत थे केवल गौण विषयों में यथा किसी साधारण अपराध के दण्डादि विषयों में (अपराधी की अवस्थादि भेदों के कारण) मत-भेद रखते थे।

ब्राह्मणों तथा शूद्रों के साथ निष्पक्ष बर्ताव—प्राचीन राजनियम-व्यवस्था के निर्माताओं पर विदेशी ऐतिहासिकों का एक बड़ा आक्षेप यह है कि क्योंकि राजनियम-व्यवस्थापक ब्राह्मण थे अतः वे पक्षपात से अन्ध होकर ऐसे नियम बना गए हैं जिन से ब्राह्मणों के ऊपर अनुचित कृपा तथा शूद्रों के ऊपर अनुचित कठोरता टपकती है। इस में सन्देह नहीं कि मनुस्मृति में कुछ ऐसे प्रक्षिप्त श्लोक हैं जिन से पक्षपात सिद्ध होता है (जिन की पूरी समीक्षा मनुस्मृति के परिच्छेद में की जायगी) परन्तु सूत्र ग्रन्थों के अवलोकन से विदेशी ऐतिहासिकों के आक्षेप सर्वथा ही निर्मूल सिद्ध होते हैं। सूत्र ग्रन्थों में लिखा है:—

वे (ब्राह्मण नाम धारी) जो वेदों का पठनपाठन नहीं करते और न यज्ञ करते हैं शूद्रों के समान हैं (वासिष्ठ अध्याय ३, सूत्र १)

यदि कोई मनुष्य उस आततायी को मार डाले जो किसी को बध करने को आता हो तो ब्रह्महत्या का पाप नहीं लगता चाहे वह आततायी वेद और उपनिषदों को भी क्यों न पढ़ा हो (वासिष्ठ अध्याय ३ सूत्र १७)

न तप, न वेदाध्ययन, न अग्निहोत्र, न दान उस मनुष्य को बचा सक्ते हैं जो

दुष्ट है और जो धर्म्म-पथ से विचल गया है (वाशिष्ठ, अध्याय ६, सूत्र २)

वेद उस मनुष्य को पवित्र नहीं करते जो आचार हीन है चाहे उस ने सब वेदों को अङ्गों सहित पढ़ लिया हो । मृत्यु समय वेद के मन्त्र उस मनुष्य से उस प्रकार भाग जाते हैं जिस प्रकार कि वे पक्षी जिन्हें पूरे पंख आजाते हैं और अपने घोंसलों से उड़ जाते हैं (वाशिष्ठ अध्याय ६, सूत्र ३)

यदि कोई ब्राह्मण किसी ब्राह्मण का वध करे अथवा अपनी गुरुपत्नी की शय्या की मर्यादा तोड़े अथवा किसी ब्राह्मण का धन चोरावे, अथवा सुरापान करे तो राजा को चाहिये कि उस अपराधी के ललाट पर तप्त लोहे से "शीर्षरहित-शरीर" (धड़) का चिन्ह, अथवा—स्त्री के······का चिन्ह, अथवा एक शृगाल का चिन्ह अथवा मदिरा की दूकान का चिन्ह अङ्कित करादे और उसे अपने देश से बहिष्कृत कर दे (बौद्धायन १, १०, १८, १८)

यदि ब्राह्मण किसी क्षत्रिय को गाली दे तो उसे ५० पचास कार्षापण का दण्ड होना चाहिए (गौतम १२, १०, ११)

यदि कोई शूद्र अधर्म्म से अर्थात् चोरी से किसी की वस्तु लेले तो उस शूद्र को उस वस्तु का अष्टगुण मूल्य देना पड़ेगा परन्तु चोरी की हुई वस्तु का मूल्य ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य चोर को शूद्र चोर से द्विगुण (अर्थात् अष्टगुण का द्विगुण अर्थात् सोलह गुण) देना पड़ेगा । यदि कोई महाविद्वान् अपराध करे तो उस के लिए दण्ड (औरों की अपेक्षा) बहुत अधिक बढ़ाया जाय (गौतम अध्याय १२, सूत्र १५, १६, १७)

क्या इन प्रमाणों को पढ़ कर कोई विचारशील यह कह सकता है कि ब्राह्मणों (धार्म्मिक विद्वानों ने जो राजनियम बनाए थे उन से ब्राह्मणों को अनुचित लाभ तथा अन्य वर्णों के लोगों को अनुचित हानि पहुंचती थी ? प्रत्युत इन के पढ़ने से तो यह ज्ञात होता है कि चोरी आदि अतिनीच अपराधों के लिए ब्राह्मणों को शूद्रों की अपेक्षा द्विगुण दण्ड भोगना पड़ता था । हां यह अवश्य ठीक है कि यदि ब्राह्मण शूद्र को कभी कटुवचन से भी बोलाता था तो ब्राह्मण को कोई दण्ड नहीं मिलता था परन्तु यदि शूद्र ब्राह्मण का अपमान करता था तो शूद्र को कठिन दण्ड मिलता था, परन्तु मानुषीप्रकृति का ज्ञाता कोई भी पुरुष इस से पक्षपात का गन्ध नहीं निकाल सकता क्योंकि शूद्र वा मूढ़ पुरुष में आत्मसन्मान का भाव प्रायः विलुप्तसा ही होता है अतः यदि वह कोई कटुवचन सुनता है तो उस की मानसिक अवस्था में कोई

विशेष परिवर्त्तन नहीं होता परन्तु यदि किसी विद्वान् पुरुष पर जब कि वह किसी दार्शनिक विचार में संलग्न हो कोई मूढ़ निर्बुद्धि अर्थात् शूद्र कटुवचनों का प्रहार करने लगे तो उस विद्वान के सब विचार मिट्टी में मिल जाते हैं और उस की मानसिक अवस्था उस समय तथा कुछ काल पीछे तक ऐसी डांवाडोल हो जाती है कि वह कुछ देर तक कोई भी विचार सम्बन्धी कार्य नहीं कर सकता । सारांश यह है कि निर्बुद्धि और मूढ़ पुरुषों का जीवन प्रायः पशुजीवन जैसा होता है और इस कारण उन में मनके सूक्ष्म आवेशों का अभाव होता है और विद्वानों का जीवन प्रायः मस्तिष्क-क्रिया सम्बन्धी जीवन होता है जिस कारण वे उक्त प्रकार के अपमानों को अधिक अनुभव करते हैं ।

मृत्युदण्ड तथा प्रायश्चित्त—योरोप में कुछ दिनों से इस विषय पर मनोरञ्जक विचार चल रहा है कि नर-घातक पापियों को मृत्युदण्ड देना चाहिये वा नहीं । इस विषय में कई प्राचीन आर्य विद्वानों की सम्मति है कि यथासम्भव मृत्युदण्ड देना ठीक नहीं है क्योंकि राजनियम-व्यवस्था का उद्देश्य यह कदापि नहीं है कि अपराधी से बदला लिया जावे प्रत्युत उसका उद्देश्य यह है कि अपराधी को समुचितदण्ड से ऐसा सुधारा जावे कि अपराधी के आत्मा के नीचसंस्कार दूर हों और वह देश तथा समाज के लिए एक विशेषोपयोगी व्यक्ति बन जावे और क्योंकि यह अभीष्ट समुचित प्रायश्चित्तों से पूरा हो सकता है अतः प्रायश्चित्तों के द्वारा यदि अपराधियों के कुसंस्कार दूर किए जावें तो परिणाम अति उत्तम निकले । मृत्युदण्ड के समर्थक कहते हैं कि मृत्युदण्ड भी अपराधी से बदला लेने के अभिप्राय से नहीं दिया जाता प्रत्युत इस लिए कि अन्यान्य मनुष्य इस कठोर दण्ड से शिक्षा ग्रहण करें अर्थात् ऐसे पाप करने से डरें और संसार में पाप का ह्रास और उत्तम कर्मों की वृद्धि होवे । हमारी सम्मति में "अमुक पुरुष फांसी पर चढ़ा दिया गया" यह समाचार मनुष्यों के मन में पाप से उतनी घृणा उत्पन्न नहीं करता जितनी घृणा कि अपराधी को प्रायश्चित्तरूपी अतिघृणित और अपमान-युक्त जीवन व्यतीत करते हुए देख कर लोगों के हृदय में उत्पन्न होती है । प्राचीन समय में कई आचार्य्य मृत्यु-दण्ड को अनावश्यक समझते थे और नर-घातक अपराधी से अतिकठोर प्रायश्चित्त कराने की विधि बतलाते थे । आपस्तम्बसूत्र में उस पुरुष की अभिशस्त संज्ञा मानी गई है जिस ने ब्रह्महत्या की हो वा जो भ्रूणघाती हो अथवा जिस ने

किसी ऋतुमती स्त्री का बध किया हो, और उक्त पुस्तक के प्रथम प्रश्न के, ९ पटल के, २४ खण्ड में अभिशस्त के लिये निम्नलिखित प्रायश्चित्त बतलाया गया है:—

अभिशस्त को चाहिये कि वह स्वयम् जङ्गल में एक झोंपड़ी (अपने रहने के के लिये) बनावे, मितभाषणव्रत धारण करे, (एक लष्टिका पर) उस मनुष्य की खोपड़ी रक्खे जिसे उस ने बध किया हो और उसे झंडी की तरह धारण करे, और नाभि से घुटनों तक एक टुकड़ा सणवस्त्र का पहने, जब वह ग्राम को जावे तो गाड़ी के पहियों के चिन्हों के बीच बीच चले और रास्ते में यदि कोई आर्य्य मिल जावे तो दो गज़ परे हट जावे, ग्राम में जाते हुए एक निकृष्ट धात का टूटा हुआ पात्र अपने हाथ में लेले और क्रमशः सात घरों में यह कहता हुआ कि "अभिशस्त को भिक्षा कौन देगा?" भिक्षा मांगे उस भिक्षा से अपना जीवन रक्खे, यदि सात घरों से भी भिक्षा न मिले तो उपवास करे और इस प्रकार प्रायश्चित्त करता हुआ गायों को चरावे, (सन्ध्या समय जङ्गल छोड़) जब गायें ग्राम में प्रवेश करें तो (गायों को गांव में पहुंचाने मात्र के लिए) अभिशस्त भी गांव में जा सक्ता है (अर्थात् अभिशस्त केवल दो वार गांव में जा सक्ता है. एक तो भिक्षा मांगने के समय और द्वितीय गायों को गांव में पहुंचाते समय), बारह वर्षों तक इस प्रकार प्रायश्चित्त करता हुआ अन्त में उस संस्कार को करे जिस के द्वारा वह पुनः आर्य्यों की पंक्ति में प्रवेश कर सक्ता है अथवा बारह वर्षों तक प्रायश्चित्त कर के वह अपनी झोंपड़ी वहां बनावे जहां से डाकू लोग आते जाते हों और उस झोंपड़ी में रहता हुआ डाकुओं से ब्राह्मणों की गायें छुड़ाने का यत्न करे, यदि वह उक्त डाकुओं से लड़ता हुआ तीन वार पराजित हो जावे अथवा जब कि वह डाकुओं को दमन कर दे तो उस के पाप छूट जाते हैं परन्तु यदि अभिशस्त ऐसा है जिसने गुरु अथवा उस ब्राह्मण का बध किया है जिस ने वेदों का अध्ययन किया हो तथा सोमयाग की क्रियाओं को पूर्ण किया हो तो वह उक्त प्रकार का प्रायश्चित्त अपने अन्तिम श्वास तक करता रहे क्योंकि वह इस जन्म में शुद्ध नहीं हो सक्ता हां मरे पश्चात् उस के पापों की निवृत्ति हो जाती है (आपस्तम्बसूत्र, प्रश्न १ पटल ९ खण्ड २४ सूत्र ११, १२, १३, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २०, २१, २४, २५)

जिस ने भ्रूणहत्या की हो उसे कुत्ते वा गधे का चर्म ओढ़ना चाहिये (चमड़े के बाल बाहर की ओर रहें) और मरे हुए मनुष्य की खोपड़ी को अपना जलपात्र बनाना चाहिए (आपस्तम्ब, १, १०, २८, २१)

और उस भ्रूणहत्या करने वाले को दण्ड के स्थान में चारपाई का एक पाया हाथ में लेकर अपने कुकर्मकी घोषणा करते हुए और यह कहते हुए कि "भ्रूणहत्या करने वाले को कौन भिक्षा देगा?" भिक्षा मांगनी चाहिए और ग्राम से भिक्षा प्राप्त कर उसे (ग्राम से दूर) किसी वृक्ष के नीचे अथवा किसी रिक्त (खाली) घर में निवास करना चाहिए और उसे आर्य्यों के साथ किसी प्रकार का व्यवहार करना नहीं चाहिए, और अपने अन्तिमश्वास तक उसे इसी प्रकार आचरण करना चाहिए। उसकी शुद्धि इस जन्म में तो हो नहीं सक्ती परन्तु मृत्यु के पश्चात् उस का पाप उस से छूट जाता है (आपस्तम्ब, १, १०, २९, १)।

परन्तु अभिशस्त (महापातकी) लोग ग्राम से बाहर झोपड़ियां बना कर एक साथ रह सक्ते हैं यह समझते हुए कि इस प्रकार रहना न्यायानुकूल है। ये एक दूसरे के लिए यज्ञ भी कर सक्ते हैं, एक दूसरे को पढ़ा भी सक्ते हैं और परस्पर में विवाह भी कर सक्ते हैं। यदि उन के पुत्र उत्पन्न हों तो वे अपने पुत्रों से कहें कि तुम हमारे यहां से चले जावो क्योंकि आर्य्य तुम को अपने में प्राविष्ट कर लेंगे। क्योंकि मनुष्य के साथ उस के अङ्ग अशुद्ध नहीं हो जाते जिस प्रकार कि अङ्ग-हीन मनुष्य ऐसा पुत्र उत्पन्न कर सक्ता है कि जिस के सब अङ्ग पूर्ण हों (आपस्तम्ब, १, १०, २९, ८, ९, १०, ११)

उपरोक्त प्रमाणों से स्पष्टतः सिद्ध है कि प्राचीन समय में सब अवस्थाओं में मृत्यु दण्ड नहीं दिया जाता था किन्तु कई अवस्थाओं में उस का स्थानापन्न प्रायश्चित्त था। अर्थापत्ति से यह भी सिद्ध होता है कि प्राचीन-काल में पिता के अपराधों के लिए पुत्र को दण्ड नहीं दिया जाता था। आज कल पौराणिक भ्राताओं में देखा जाता है कि यदि किसी मनुष्य को बिरादरी से पृथक् कर दिया जावे तो उस के पुत्र और पौत्र भी दण्ड के भागी समझे जाते हैं। यह घोर अन्याय है। आर्य्यों के वंशजों की वर्तमान गिरी हुई अवस्था को देख कर कतिपय योरोपीय विद्वानों ने यह वृथा कल्पना करली है कि जात पांत की वर्त्तमान कुव्यवस्था आर्य्यों में प्राचीन काल से चली आती है और कम से कम सूत्रग्रन्थों के समय से यह अवश्य ही प्रचलित हुई है। शोक है कि पञ्जाब के एक नैतिक और धार्मिक नेता ने भी "प्राचीन आर्य्यावर्त की तहज़ीब" नाम से जो एक पुस्तक प्रकाशित की है उस में यह लिखा है कि सूत्र-ग्रन्थों के समय में जन्म से वर्ण-व्यवस्था की कुरीति आरम्भ हुई। यह देश बड़ा अभागी है जिस के नेता अपने प्राचीन

इतिहास के विषय में स्वयं अन्वेषण (खोज) करने के स्थान में विदेशियों की बतलाई हुई बातों पर बिना भली भांति विचार किए हुए विश्वास कर लेते हैं। क्या संसार में कोई और भी सभ्य देश है जिस के सुशिक्षितवासी अपने प्राचीन काल के गौरव को विदेशी-बुद्धि नेत्र से देखना अपने लिए अभिमान का कारण समझते हों? क्या कोई बुद्धिमान् पुरुष कह सक्ता है कि जिस जाति में अभिशस्त तक के पुत्र आर्य्य बन सक्ते थे उस में जन्म से जात पांत की व्यवस्था वर्तमान हो अथवा शूद्र कुलोत्पन्न पुरुषों पर अत्याचार किया जाता हो?

आज कल मनुष्य-बध के लिए जो मृत्यु-दण्ड दिया जाता है यदि उस के इतिहास पर विचार किया जाय तो पता लगेगा कि यह असभ्य देशों के उस समय की रीतियों का शेष है जब कि लोग "दांत तोड़नेका प्रतिकार (बदला आंख फोड़ना" समझते थे। उन दिनों जब कोई किसी को मार डालता था तो समझा जाता था कि यदि प्राण के बदले प्राण न लिया जाय तो राजनियमों का आशय पूरा नहीं हो सक्ता। असभ्य जातियों में अब भी दण्ड का आशय यही समझा जाता है कि अपराधी पुरुष से बदला लिया जाय। कई असभ्य जातियों में यह रीति प्रचरित है कि यदि कोई मनुष्य किसी को मार डालता है तो मृतपुरुष का परिवार या तो घातक को मार डालता है अथवा उस से कुछ धन ले लेता है। योरोप में जब सभ्यता बढ़ी तो वहां के विद्वान् राज-व्यवस्थापकों ने मृत्यु-दण्ड के औचित्य विषय पर विचार करना आरम्भ किया और तर्क करने लगे कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का घात इस कारण करता है कि उस के विचार में जीवन से बढ़ कर अन्य कोई भी वस्तु मनुष्य को प्रिय नहीं है अतः जब तक घातक का भी जीवन नहीं लिया जाता तब तक लोग मनुष्य-बध से पूर्ण भय नहीं कर सक्ते।

परन्तु यह तर्क ठीक नहीं है क्योंकि संसार में ऐसे भी मनुष्य बहुत हैं जो अपमान से मृत्यु को अच्छा समझते हैं और बहुत से घातक ऐसे भी होते हैं जो किसी मनुष्य का बध कर के स्वयम् पुलिस के निकट उपस्थित हो जाते हैं। यथा भारत की पश्चिमी सीमा के सरहद्दी ग़ाज़ी जो विशेष २ समयों में अपने मत-विरोधी काफ़िरों) को मार बध-दण्ड पाने के लिये स्वयम् पुलिस के निकट आ जाते और अपने अपराध के लिए फाँसी पाते समय समझते हैं कि मर कर वह ज़रूर ही बहिश्त में जायंगे।

ऐसे घातकों को (जो अपमान से मृत्यु को अच्छा समझते अथवा जो मरने के लिए स्वयम् उद्यत हैं) मृत्यु-दण्ड देने से न तो उन घातकों को पश्चात्ताप होता है और न उन की तरह भाव रखने वाले अन्य पुरुषों को मृत्यु-दण्ड से भय होता है। ऐसे पुरुषों को दमन करने के लिए हमारी बृटिश गवर्नमेंट यदि ऋषि प्रणाली को अनुसरण करे अर्थात् ऐसे घातकों को यदि अभिशस्तों जैसा अपमानमय जीवन व्यतीत करने पर बाध्य करे तो आशा है कि विशेष उत्तम फल निकलेगा।

जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं वास्तविक बात यह है कि योरोप के लोग पहले दण्ड के वास्तविक अभिप्राय को नहीं समझते थे परन्तु हमारे प्राचीन-ऋषि दण्ड के वास्तविक आशय जानते थे इसी कारण उन्हों ने जहां विशेष २ अवस्थाओं में मृत्यु-दण्ड बतलाया है वहां दूसरी अवस्थाओं में उस का स्थानापन्न भी बतला दिया है।

"दण्ड" शब्द की व्युत्पत्ति "दण्ड" दमने धातु से हुई है। गौतम सूत्र अध्याय ११ सूत्र २८ में जो कुछ लिखा है उस का तात्पर्य यह है कि "दण्ड" उसे कहते हैं "यो दमयति" अर्थात् जो दमन करता है अतः जो लोग स्वयम् अपने को (कुकर्मों से) रोक नहीं सक्त उन्हें दण्ड (कुकर्म्मों से) रोकता है। "

अतः दण्ड शब्द ही यह बतलाता है कि प्राचीन आर्य्य दण्ड के उस उच्च आशय को समझते थे जिस का कई शताब्दियों तक सभ्य योरोपवासियों को ज्ञान भी न था। दण्ड के विषय में जो उन का (आर्य्यों का) विचार था उस में क्योंकि प्रतिद्रोह (बदला लेने) का भाव सर्वथा अविद्यमान था इस कारण स्वभावतः वे मृत्यु-दण्ड को प्रत्येक घातक वा घातक के सदृश अपराधी के लिए आवश्यक नहीं समझते थे। और इसी लिए प्राचीन समय में यह नियम था कि दण्ड का निश्चय करते समय अपराधी की सामाजिक-स्थिति, उस के शारीरिक बल, अपराध के प्रकार, और अपराध के प्रथम द्वितीय-वार किए जाने पर विचार किया जाय। भिन्न २ स्थिति और विशेष २ शारीरिक बल रखने वाले मनुष्यों के लिए भिन्न २ प्रकार का दण्ड उचित ही है। एक ब्राह्मण (धार्मिक विद्वान्) के अपराधी बनने पर तथा एक शूद्र के अपराध करने पर विशेष २ अवस्थाओं में एक ही प्रकार का दंड उचित नहीं हो सकता। यथा यदि कोई निर्वाद का अभियोग हो तो जहां एक धार्मिक विद्वान् (ब्राह्मण) को कतिपय मासों के

लिए बहिष्कृत करना पर्याप्त दंड होगा वहां उसी अपराध के लिए शूद्र को कदाचित् बेंत लगाना आवश्यक होगा । इसी प्रकार यदि कोई ग़ाज़ी किसी काफ़िर को मार डाले और अपने आप पुलिस में सूचना दे देवे और प्रसन्नता पूर्वक मृत्यु दंड स्वीकार करने के लिये उद्यत हो तो समझना चाहिए कि उस को मृत्यु का भय नहीं है, और जब कि वह फांसी पर चढ़ाया जायगा तो उस के मुख की प्रसन्न आकृति उस के सदृशभाव रखने वाले अन्य मनुष्यों के हृदय में प्रसिद्ध ग़ाज़ी बन कर प्राण-परित्याग करने की उत्कण्ठा उत्पन्न कर देगी । ऐसे मनुष्य को मृत्यु दंड देने से प्रभुमण्डल (शासकों) को लाभ की अपेक्षा हानि अधिक उठानी पड़ेगी और राज प्रबन्ध के संचालन में कई प्रकार की कठिनाइयां उपस्थित होंगी । ऐसे मनुष्य को मृत्यु की अपेक्षा अपमान का अधिक भय होगा अतः ऐसे मनुष्य को यदि अभिशस्त का जीवन भोगने के लिए मजबूर किया जाय तो लाभकर होगा । इन सब बातों से सिद्ध होता है कि राजव्यवस्थाशास्त्र सम्बन्धी अन्वेषणों से जो नए आविष्कार इन दिनों सभ्ययोरोप में हो रहे हैं उन का शुद्ध भाव सहस्त्रों वर्ष पूर्व प्राचीन आर्यों को ज्ञात था ।

प्राचीन आर्य्यों की राजनियमव्यवस्था में प्रायश्चित्त की जो विशेषता थी वह सभ्य-संसार के किसी भी अन्य देश की राजव्यवस्था में नहीं मिलती । जैसा कि हम ऊपर दर्शा चुके हैं प्राचीन आर्य दण्ड का आशय अपराधी का सुधार समझते थे न कि प्रति-हिंसा, अतः वे लोग जहां तक सम्भव होता था अपराधी की मानासिक कुवृत्तियां को तपश्चर्य्यादि द्वारा सुधारने की चेष्टा करते थे ताकि पाप का मूल जो कुवृत्तियों हैं वे नष्ट हो जावें और अपराधी मनुष्य शुद्ध होकर समाज और देश के उपयोगी बन सकें यह प्रायश्चित्त की विधि ऐसी अच्छी थी कि अपराधियों को दण्ड देने के लिए राज-पुरुषों को विशेष श्रम करना नहीं पड़ता था क्योंकि समाज तथा धर्म्माचार्य्य लोग अपराधियों के लिए प्रायश्चित्त नियत कर दण्ड देनेवाले राज-पुरुषों का इस सम्बन्ध में हाथ बटा लेते थे ।

उदाहरण रूप से कतिपय प्रायश्चित्तों को हम यहां उद्धृत करते हैंः—

जो आर्य, अनार्य्य स्त्री से सम्भोग करता है, जो सूद पर रुपया चलाता है, जो मदिरापान करता है, जो ब्राह्मण होकर चापलूसी करता है, उसे चाहिए कि घास पर बैठे और अपनी पीठ सूर्य की ओर करदे ताकि पीठ उस की जलती रहे । (आपस्तम्ब प्र० १, पटल ९, खण्ड २७, सूत्र १०]

जो पुरुष अपनी निरपराध स्त्री को त्याग देता है उसे चाहिए कि गधे का चर्म्म (चमड़े के बालों को ऊपर की ओर रखता हुआ) ओढ़े हुए (प्रतिदिन) सात घरों से यह कहता हुआ कि " उस पुरुष को भिक्षा दो जिस ने अपनी स्त्री को त्याग दिया है " भिक्षा मांगे और छः मासों तक इसी प्रकार (भिक्षा से) निर्वाह करे । (आपस्तम्ब, प्र० १, पटल १०, खण्ड २८, सूत्र १९)

यदि कोई मनुष्य किसी गाय को मार डाले तो उसे चाहिए कि उस गाय के कच्चे चमड़े को ओढ़े हुए छः मासों तक कृच्छ्र अथवा तप्त-कृच्छ्र व्रत करे । कृच्छ्र और तप्त-कृच्छ्र की विधि यह है " तीन दिनों तक केवल दिन के समय ही भोजन करे, पुनः (द्वितीय), तीन दिनों तक केवल रात्रि के समय ही भोजन करे, पुनः (तृतीय) तीन दिनों तक केवल उस भोजन पर ही निर्वाह करे जो उसे बिना मांगे मिल जाय, पुनः (चतुर्थ) तीन दिनों तक सर्वथा उपवास करे, इस प्रकार के (बारह दिनों के) व्रत को कृच्छ्र कहते हैं " । " तीन दिनों तक गर्म जल पीवे, (द्वितीय) तीन दिनों तक गर्म दूध पीवे, (तृतीय) तीन दिनों तक गर्म घी पीकर (चतुर्थ) तीन दिनों तक वायु पीकर रहे, इस प्रकार के (बारह दिनों के) व्रत को तप्त-कृच्छ्र कहते हैं " वाशिष्ठ, अध्याय २१, सूत्र १८, १९, २०, २१)

यदि कोई आत्म-हत्या का विचार करे तो इस पाप का प्रायश्चित्त यह है कि वह तीन दिनों तक उपवास करे (वासिष्ठ अध्याय २३, सूत्र १८)

अब मैं उन की शुद्धि के लिये वर्णन करता हूं जिन के अपराध सर्वसाधारण पर प्रकट नहीं हुए, चाहे वे अपराध बहुत बड़े हों अथवा छोटे । हाथ में कुशा लिए हुए आसन लगा कर (उक्त प्रकार के अपराधी को) बारम्बार प्राणायाम करना चाहिए योग के साधन में तत्पर रह कर उसे बारम्बार प्राणों का अवरोध करना चाहिए, नखाग्र से शिखाग्र तक को इस सर्वोच्च तपश्चरण में लगा देना चाहिए । प्राणों के अवरोध से (शरीर में अधिक) वायु की प्रकटता होती है उस (वायु) से अग्नि (गर्मी) पैदा होती और उस गर्मी से जलोत्पन्न होता है अतः इन तीनों के द्वारा उस के शरीर का अन्तःभाग शुद्ध हो जाता है । और साथ ही शुद्ध करने वाले मन्त्रों व्याहृतियों तथा " ओ३म् " का जप करना चाहिए, दैनिक-वेदपाठ भी । न कठिन तपश्चर्य्यों से, न प्रतिदिन के वेद पाठ से, और न अग्निहोत्रों से द्विज उस अवस्था को पहुंच सक्ता है जिस अवस्था को कि (द्विज) योग-साधन से पहुंचता है । योग-साधन से सत्यज्ञान की प्राप्ति होती है ।

धर्म्मव्यवस्था का सारांश योगसाधन ही है । योगसाधन सब कालों की सब से बड़ी तपश्चर्य्या है । अतः उस (अपराधी) को चाहिए कि योग साधन में लीन हो जावे (वासिष्ठ, अध्याय २९, सूत्र १, ४, ५, ६, ७, ८)

उक्त सूत्रों पर विचार करने से पता लगता है कि उस समय के आर्य्य लोग अन्तः और बहिः दोनों प्रकार के प्रायश्चित्तों को समझते थे और उन की सदा यह चेष्टा रहती थी कि यदि अपराधी प्रायश्चित्तों द्वारा अपनी मनोवृत्तियों को शुद्ध कर सके तो वह राजपुरुषों के न्यायालयों में न भेजा जाय । यदि प्राचीन आर्य्य, मनोविज्ञानशास्त्र और राजव्यवस्था के साथ उस का क्या सम्बन्ध है इस विषय को न जानते तो प्रायश्चित्त जैसे सर्वाङ्ग-पूर्ण शोधन विधि को बतला नहीं सक्ते ।

दण्ड सम्बन्धी राजनियम—अब हम दृष्टान्त रूप से उस समय के कुछ दण्ड सम्बन्धी राजनियमों को यहां लिखते हैं जिन के अवलोकन से उस समय के राजव्यवस्थापकों की बुद्धि का पता लगेगा:—

जो कोई अपने वर्ण वा आश्रमधर्म को तोड़े अथवा कोई अन्य पाप करे उसे तब तक एकान्त कारावास का दण्ड दिया जाय जब तक कि वह शुद्ध न हो जाय, यदि वह शुद्ध न हो सके तो उसे देश से निकाल देना चाहिए (आपस्तम्ब, प्रश्न २, पटल १०, खण्ड २७, सूत्र १८, १९)

यदि वह मनुष्य जिस ने खेती करने के लिए भूमि उस के स्वामी से ली हो परिश्रम न करे और इस कारण (उस खेत में) फल (अन्न) उत्पन्न न हो तो उस मनुष्य को यदि वह धनी हो तो कृषिफल (अन्न) का मूल्य देना पड़ेगा, और यदि भृत्य कृषक के काम को छोड़कर भाग जाय तो उस (भृत्य) पर कोड़े पड़ेंगे (आपस्तम्ब प्र० २, पटल ११, खण्ड ४८, सूत्र १, २)

प्रतिबन्ध, अपराध की घोषणा, निर्वासन (देश से निकाल देना) और तप्त लोहेन अङ्क, ये दण्ड हैं जो ब्राह्मण को दिये जा सक्ते हैं (गौतम, अध्याय १२, सूत्र ४७)

यदि कोई अपने को बध करने के लिए आता हो तो उस भावी बधिक को (अपनी रक्षा के लिए) मार डालने में पाप नहीं होता (वासिष्ठ, अध्याय ३, सूत्र १९)

यदि कोई अपने को बध करने के लिए आता हो चाहे वह सम्पूर्ण वेद और उपनिषदों का भी ज्ञाता हो तो भी उस भावी बधिक को (अपनी रक्षा के लिए) मार सक्ते

हैं, इस मारने से ब्रह्म-हत्या का दोष नहीं लग सक्ता (वासिष्ठ, अध्याय ३, सूत्र १८)

यदि (किसी मनुष्य के) पशु अपने थान (पशु बांधने का स्थान) को छोड़ कर कृषिफल को खांय तो कृषि का स्वामी उन्हें पकड़ कर कुछ देर अपने पास रख सक्ता है (आपस्तम्ब, २, ११, २८, ५)

यदि जङ्गलों का अधिपति (राजपुरुष) यह देखे कि किसी ग्राम के पशु भूल से राजकीय जङ्गल में आ गए हैं तो वह उन को ग्राम में लौटा देवे और उन्हें उन के स्वामियों को सुपुर्द करदे परन्तु यदि पुनः भूल हो (अर्थात्) वही पशु पुनः राजकीय जङ्गल में आजावें तो राजपुरुष उन्हें पकड़ कर कुछ देर के लिए रख सक्ता है (आपस्तम्ब २, ११, २८, ७ तथा ८)

व्यावहारिक राजनियम—सूत्र ग्रन्थों के समय के व्यावहारिक राजनियमों में से, उदाहरण रूप कतिपय नियम यहां उद्धृत किए जाते हैं:—

पैतृक-सम्पत्ति, क्रय की हुई वस्तु, गिरवी रखी हुई वस्तु, स्त्री-धन, दान की हुई वस्तु, यज्ञ करने के लिए मिली हुई वस्तु, बटी हुई पैतृक-सम्पत्ति जो पुनः एक साथ हो गई, और मज़दूरी यदि अन्यों के हाथ में दश वर्ष तक रह गई हो तो वास्तविक अधिकारी का अधिकार उन पर से उठ जाता है। परन्तु इस के कुछ विरुद्ध अन्यों की सम्मति है कि उपनिधि (गिरवी रखी हुई वस्तु), सीमा, अप्राप्तवयस्क (नाबालिग़ का धन, प्रकट वा गुप्त निक्षेप, स्त्री, राजधन, श्रोत्रिय का धन यदि अन्यों के पास रहे तो वह इन का स्वामी नहीं बन सक्ता (वासिष्ठ, अध्याय १६, सूत्र, १६, १७, १८)

किसी पुरुष की सम्पत्ति, जो न तो मन्दबुद्धि और न अप्राप्तवयस्क (नाबालिग़) हो, यदि उस के सन्मुख ही दूसरे लोग दश वर्षों तक भोगते रहें तो उस सम्पत्ति पर उक्त भोगने वालों का ही अधिकार जम जाता है परन्तु यदि किसी अन्य की सम्पत्ति को श्रोत्रिय लोग, संन्यासी लोग वा राज कर्म्मचारी भोगते हों तो उस पर से वास्तविक स्वामी का अधिकार नहीं हटता (गौतम अध्याय १२, सूत्र ३७, ३८)

उन लोगों की सम्पत्ति का प्रबन्ध जो स्वयम् राजव्यवस्थानुसार अपनी सम्पत्ति के प्रबन्ध करने में अयोग्य हों (यथा विधवा, अप्राप्तवयस्कादि) प्रभुमंडल को करना चाहिए और जब अप्राप्तवयस्क अपनी प्रौढ-आयु को प्राप्त करले तब उस की सम्पत्ति उसे सौंप देनी चाहिए (वासिष्ठ अध्याय १६, सूत्र ८९)

व्याज का दर २० कार्षापण पर पांच माषक प्रतिमास के हिसाब से होना

चाहिये (अर्थात् १५ पन्द्रह रुपये प्रति सैकड़ा प्रतिवर्ष के हिसाब से होना चाहिये और यदि ऋण अधिक दिनों तक चुकाया न जासके तो मूलधन द्विगुण हो सक्ता है और तदनन्तर सूद का चढ़ना बन्द हो जायगा (गौतम अध्याय १२, सूत्र २९ तथा ३१)

पशुओं से उत्पन्न होने वाले पदार्थों, ऊन, कृपिफल और लादू पशुओं पर इतना व्याज लेना चाहिये कि वस्तु के वास्तविक मूल्य से पांच गुणा से अधिक न बढ़ सके (गौतम अध्याय १२, ३६)

व्याज छः प्रकार के होते हैं, चक्रव्याज, सामायिक-व्याज, प्रतिज्ञात व्याज, शारीरिक व्याज, दैनिक व्याज और निक्षेप का सेवन (गौतम अध्याय १२, सूत्र ३४ तथा ३५)

मृतपुरुष के उत्तराधिकारियों को मृतपुरुष के ऋण चुकाने होंगे परन्तु मृतपुरुष के उन ऋणों का चुकाना उत्तराधिकारियों का कर्तव्य नहीं होगा जिन का सम्बन्ध प्रतिभू, वाणिज्य व्योपार, बधू के पिता के लिए शुल्क, मदिरा वा द्यूत वा राजदण्ड से सम्बन्ध रखता हो (गौतम अध्याय १२, सूत्र ४० तथा ४१)

दायभाग सम्बन्धी नियम—प्राचीन आर्य्य लोग विवाह का उद्देश्य केवल उत्तम सन्तान की उत्पत्ति और मनुष्यजाति की वृद्धि समझते थे इसी कारण वे विवाह को भी एक यज्ञ कहा करते थे । यज्ञ इसका नाम इस कारण था कि स्त्री पुरुष मिल कर मनुष्य जाति के उपकारार्थ उत्तम सन्तान प्रदान करते थे । स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध को अटूट और आत्मिक समझा जाता था और इसी कारण विवाह बन्धन विच्छेद [तलाक़ वा डाइवोर्स] की रीति प्रचरित न थी । यदि सन्तान उत्पन्न न होती थी अथवा पति वा पत्नी मर जाती थी और सन्तान के बिना विशेष हानि की सम्भावना होती थी तो नियोग द्वारा सन्तान उत्पन्न करने की आज्ञा थी । द्विजों में केवल उस स्त्री वा पुरुष का विवाह हो सकता था जो अक्षत-योनि तथा अक्षतवीर्य्य हों । व्यभिचार महापाप समझा जाता था और व्यभिचारी को बड़े कठोर दण्ड मिलते थे । यदि कोई द्विज शूद्रा स्त्री से व्यभिचार करता था तो उस व्यभिचारी को देशवाह्य कर दिया जाता था और यदि कोई शूद्र किसी द्विज स्त्री से व्यभिचार करता था तो उस को मृत्युदण्ड मिला करता था । उस समय के आर्य्यों में न्याय का भाव बहुत था और वे एक मनुष्य के अपराध के लिये दूसरों को दण्ड देना किसी भी अवस्था में उचित नहीं समझते थे । यही कारण है

जैसा कि हम पहले लिख आए हैं कि अभिशस्तों के पुत्र भी आर्य्यों में सम्मिलित कर लिए जाते थे । अभिशस्तों के अपराध के कारण उन के पुत्रों को पतित होना नहीं पड़ता था एवं कोई भी मनुष्य इस कारण घृणित नहीं समझा जाता था कि वह किन्हीं विशेष पतित माता पिता का पुत्र है ।

बौद्धायन सूत्र प्रश्न २, अध्याय २, काण्डिका ३, सूत्र ३१ से ज्ञात होता है कि दाय-भाग के अधिकारी सात प्रकार के पुत्र समझे जाते थे जिन की संज्ञा, औरस, क्षेत्रज, दत्त, कृत्रिम, गूढ़ज, अपविद्ध तथा "पुत्रिका-पुत्र" है ॥

औरस—जब पुरुष सम जाति की अर्थात् अपने गुण कर्म स्वभाव जैसी विधिवत् विवाहित स्वभार्या से पुत्रोत्पन्न करता है तो उस पुत्र को औरस पुत्र कहते हैं (बौद्धायन प्रश्न २, अध्याय २, काण्डिका ३, सूत्र १४)

क्षेत्रज—यदि किसी स्त्री का पति मर जाय अथवा वह नपुंसक हो अथवा सदा रुग्न रहता हो और वह अपनी स्त्री को पर पुरुष से पुत्रोत्पन्न करने की आज्ञा दे चुका हो तो उस स्त्री में पर पुरुष से उत्पन्न हुआ पुत्र क्षेत्रज कहलाता है (बौद्धायन प्र० २, अ० २, क० ३, सू० १७)

दत्त—जब कोई माता पिता अथवा पिता वा माता अपने पुत्र को विना किसी दबाव के प्रेम पूर्वक वा विपत्ति-ग्रस्त रहने के कारण स्वेच्छा से किसी अन्य पुरुष को देदे और वह अन्य पुरुष उस पुत्र को अपना पुत्र बनाले तो वह पुत्र "दत्त" कहलाता है (बौद्धायन, प्र० २, अ० २, कं० ३, सूत्र २०)

कृत्रिम—जब कोई पुरुष किसी अन्य सजातीय पुरुष वा स्त्री से वा पुरुष स्त्री दोनों से उन का पुत्र अपना पुत्र बनाने के लिए लेता है तो वह पुत्र "कृत्रिम पुत्र" कहलाता है (बौद्धायन प्र० २, अ० २, कं० ३, सूत्र २१)

गूढ़ज—जब किसी गृहस्थ के घर में कोई ऐसा पुत्र उत्पन्न हो जिस के उत्पन्न करने वाले पुरुष का पता बालक की उत्पत्ति के पूर्व ज्ञात न हो तो वह पुत्र गूढ़ज कहलाता है (बौद्धायन प्र० २, अ० २, कं० ३, सूत्र २२)

अपविद्ध—जिस पुत्र को माता पिता ने अथवा पिता वा माता ने (विपत्तिग्रस्त होने के कारण वा किसी अन्य कारण) छोड़ दिया हो और उस छोड़े हुए पुत्र को यदि कोई अन्य पुरुष अपना पुत्र बनाले तो वह पुत्र अपविद्ध कहलाता है । (बौद्धायन प्र० २, अ० २, कं० ३, सू० २३)

पुत्रिका-पुत्र—प्रतिज्ञा हो जाने पर पुत्री में उत्पन्न हुआ पुत्र "पुत्रिका-पुत्र" कहलाता था (अर्थात् जब कि पिता अपनी कन्या का विवाह किसी पुरुष से यह प्रतिज्ञा लेकर कराता था कि इस कन्या से जो पहला पुत्रोत्पन्न होगा उसे अपना पुत्र बनाने के लिए कन्या का पिता लेगा और उस उत्पन्न हुए पुत्र को वह लेकर अपना पुत्र बना लेता था तो उस पुत्र को "पुत्रिका-पुत्र" कहते थे)। (बौद्धायन प्र० २, अ० २, कं० ३ सूत्र १८)

उक्त सात प्रकार के पुत्रों के अतिरिक्त अन्यान्य छ प्रकार के और भी पुत्र होते थे जिन्हें "कानीन", "सहोढ", "क्रीत", "पौनर्भव", "स्वयंदत्त" तथा "निषाद" कहते थे।

कानीन—यदि किसी कन्या से उस के पिता वा संरक्षक की आज्ञा बिना लिए हुए कोई पुरुष सहवास करे और उस कन्या को पुत्रोत्पन्न होवे तो वह पुत्र "कानीन" संज्ञक होगा। (बौद्धायन प्र० २, अ० २, कं० ३, सूत्र २४)

सहोढ—यदि कोई पुरुष जान बूझ कर वा अज्ञान से किसी ऐसी वधू से विवाह करे जो गर्भवती हो तो विवाहितपति के घर में उत्पन्न हुआ यह पुत्र "सहोढ" कहलाएगा। (बौद्धायन प्र० २, अ २, कं० ३, सूत्र २५)

क्रीत—यदि किसी पुत्र के पिता माता से अथवा पिता वा माता से उस पुत्र को कोई अन्य पुरुष मोल ले ले और उसे अपना पुत्र बनाले तो वह पुत्र क्रीत कहलाएगा। (बौद्धायन, प्र० २, अ० २, कं० ३, सूत्र २६)

पौनर्भव—यदि कोई स्त्री अपने नपुंसकपति को छोड़कर परपुरुष से पुत्रोत्पन्न करे तो वह पुत्र पौनर्भव कहलाएगा। बौद्धायन प्र० २, अ० २, कं० ३, सूत्र२७)

स्वयंदत्त—वह पुत्र जो अपने पिता माता से छोड़ दिए जाने पर अपने को किसी अन्य के सुपुर्द करता है स्वयंदत्त कहलाता है। (बौद्धायन प्र० २, अ० २, कं० ३, सूत्र २८)

निषाद—वह पुत्र जो ब्राह्मण पुरुष से तथा शूद्रा स्त्री से उत्पन्न होता है निषाद कहलाता है। (बौद्धायन प्र० २, अ० २, कं० ३, सूत्र २९)

बौद्धायन सूत्र प्र० २, अ० २, कं ३, सूत्र ३२ से ज्ञात होता है कि औरसादि सात प्रकार के पुत्रों के अतिरिक्त कानीनादि जो छः प्रकार के पुत्र होते थे इन का दाय भाग से कुछ सम्बन्ध नहीं था ये केवल अपने पिता के वंश के व्यक्तिमात्र समझे जाते थे अर्थात् इन का समुचित भरण पोषण होता था परन्तु वासिष्ठ

अध्याय १७ सूत्र ३९ से ज्ञात होता है कि औरसादि पूर्व सात प्रकार के पुत्रों में से एक के भी जीवित न रहने पर कानीनादि पिछले छः प्रकार के पुत्र पिता की सम्पत्ति के दाय भागी भी समझे जाते थे । एवं गौतमसूत्र अध्याय २८ सूत्र ३४ से ज्ञात होता है कि प्रथमप्रकार के औरसादि पुत्रों के न होने पर द्वितीयप्रकार के कानीनादि पुत्रों को पैतृक सम्पत्ति का चौथा भाग मिलना चाहिए ।

ऐसा प्रतीत होता है कि नियोग की आज्ञा केवल बड़े धर्म्मात्मा और पवित्र मनुष्यों के लिए थी क्यों कि आपस्तम्ब सूत्रों में लिखा है कि गिरे हुए समयों में नियोग वर्जित है ।

पिता की मृत्यु के पश्चात् सब भाइयों का इकट्ठा रहना जो आजकल अच्छा माना जाता है उसे सूत्रकार आवश्यक नहीं बतलाते । गौतम सूत्र अध्याय २८ में लिखा है:—

"पिता के मृत्यु के पश्चात् अथवा पिता के जीते हुए भी जब कि माता के पुत्र जनने का समय व्यतीत हो जाय और पिता चाहे तब पुत्रों को चाहिये कि पिता की सम्पत्ति को बांट लें अथवा सब सम्पत्ति का प्रबन्धकर्त्ता ज्येष्ठ पुत्र बन जाय और वह अन्यों की पितावत् पालना करता रहे परन्तु सम्पत्ति के बंट जाने में आत्मिक-योग्यता की वृद्धि की सम्भावना है । सम्पत्ति के विभाजन समय बड़े पुत्र को (ज्येष्ठांश) सारी सम्पत्ति का बीसवां भाग अधिक मिलना चाहिए तथा एक जोड़ा गाय बैल, एक छकड़ा गाड़ी खींचने वाले पशुओं के साथ तथा एक सांड़ भी उसे अधिक मिलना चाहिये । बीच के पुत्र को अपने हिस्से से अधिक काने, पुराने, सींग रहित तथा पुच्छ रहित यदि अनेक पशु हों तो उन में से कतिपय उसे मिलने चाहिए । सब से छोटे पुत्र को अपने हिस्से से अधिक कुछ भेड़, अन्न, लोहे के पात्र एक घर, बैलों की जोड़ी सहित एक छकड़ा तथा जितने प्रकार के पशु घर में हों उन में से एक एक मिलना चाहिए और शेष सारी सम्पत्ति को सब पुत्रों को बराबर बराबर बांट लेना चाहिए" । (गौतम अध्याय २८, सूत्र १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८) ।

उक्त विभाजन में बड़े पुत्र तथा छोटे पुत्र को जो कुछ अधिक वस्तुएं देने की आज्ञा है इस से अन्याय सिद्ध नहीं होता । बड़े पुत्र को कुछ अधिक सम्पत्ति इस कारण दिलाई जाती थी कि बड़ा होने के कारण उस की सन्तति की संख्या अधिक हो गई होगी जिस से उस का व्यय बढ़ गया होगा तथा छोटे पुत्र को गृहादि

अधिक वस्तु इस कारण दिलाई जाती होगी कि वह छोटा होने के कारण अपनी जीविका के उपार्जन में दक्ष नहीं बन सका होगा। परन्तु ज्येष्ठांश और कनिष्ठांश का नियम सब अवस्थाओं में एक ही प्रकार का नहीं था इन में परिवर्तन भी होते थे यथा गौतम सूत्र अध्याय २८ सूत्र ९ तथा १० में लिखा है "अथवा (जितने भाई हों उतने हिस्से तथा एक हिस्सा और, बराबर बराबर सारी सम्पत्ति के लग जाने चाहिए, जिन में से) दो हिस्से बड़े भाई को और एक एक हिस्सा एक एक भाई को मिलना चाहिए"।

पुनः इसी अध्याय में गौतमाचार्य्य ने लिखा है:—

"पैतृक-सम्पत्ति की बांट हो जाने पर यदि भाई पृथक् २ ही रहते हों और उन में से कोई सन्तान हीन मर जावे तो उस की सम्पत्ति बड़े भाई को मिलती थी परन्तु बाकी सम्पत्ति की बांट हो जाने के पश्चात् भी यदि कोई दो भाई पुनः इकट्ठे रहने लगें और उन में से एक सन्तान विहीन हो जावे तो उस की सम्पत्ति साथ रहने वाले भाई की होगी। यदि पैतृक-सम्पत्ति बंट जाने पर पुनः दो भाई इकट्ठे हो जांय और उन में से एक विद्वान् और दूसरा अविद्वान् हो और विद्वान् अपनी योग्यता के कारण अधिक कमावे तो विद्वान् भाई को अधिकार है कि वह अपनी अधिक कमाई में से अपने अविद्वान् भाई को हिस्सा न दे। परन्तु यदि पैतृक-सम्पत्ति बंट जाने पर पुनः दो अविद्वान् भाई इकट्ठे हो जांय तो वे अपनी कमाई को बराबर २ बांट सकेंगे"। (गौतम अध्याय २८ सूत्र २७, २८, ३०, ३१)

एक वर्ण के पति और दूसरे वर्ण की पत्नी से उत्पन्न हुए पुत्रों के विषय में गौतमाचार्य लिखते हैं:—

" यदि किसी ब्राह्मण पति और उस की क्षत्रिया पत्नी से पुत्रोत्पन्न हो और वह ज्येष्ठ तथा गुणवान् हो तो उस को भी पैतृक-सम्पत्ति का उतना ही भाग मिलेगा जितना भाग कि उस ब्राह्मण पति तथा उस की ब्राह्मणी पत्नी से उत्पन्न हुए पुत्र को मिलेगा, ज्येष्ठ पुत्र को ज्येष्ठांश जो अधिक मिला करता है केवल वह अधिकांश उस क्षत्रिया पत्नी से उत्पन्न हुए पुत्र को नहीं मिलेगा। यदि एक ब्राह्मण पति से उस की क्षत्रिया पत्नी तथा उस की वैश्यापत्नी में पुत्रोत्पन्न होंगे तो इन में भी पैतृक-सम्पत्ति उसी प्रकार बांटी जायगी जिस प्रकार कि एक ब्राह्मण पति तथा उस की ब्राह्मणी पत्नी के पुत्र तथा उसी ब्राह्मण पति और उस की क्षत्रिया पत्नी के पुत्र के बीच बांटी जाती है। क्षत्रिय पति तथा क्षत्रिया पत्नी से जो पुत्रोत्पन्न होगा तथा

उसी क्षत्रिय पति तथा उसी की वैश्यापत्नी से जो पुत्रोत्पन्न होगा इन दोनों का दायभाग भी उक्त ही प्रकार बराबर बराबर होगा (केवल विशेषता यह रहेगी कि यदि क्षत्रिया से ज्येष्ठ पुत्रोत्पन्न होगा तो उसे कुछ ज्येष्ठांश अधिक मिलेगा और वैश्या से यदि ज्येष्ठ पुत्रोत्पन्न होगा तो उसे वह अधिकांश नहीं मिलेगा)। यदि किसी ब्राह्मण के शूद्र पत्नी से पुत्रोत्पन्न होवे और उस ब्राह्मण के कोई अन्य पुत्र न हो तो उस ब्राह्मण के मरने पर उस पुत्र को केवल भरण पोषण योग्य धन पैतृक-सम्पत्ति से मिलेगा और यही दशा उन पुत्रों की होगी जो नीच वर्ण के पुरुषों तथा उच्च वर्ण की स्त्रियों से उत्पन्न होंगे (गौतम अध्याय २८, सूत्र ३९, ३६, ३७, ३८, ३९, ४९)

यदि सवर्णा स्त्री से भी पुत्रोत्पन्न होवे और वह दुराचारी हो तो उसे पैतृक-सम्पत्ति नहीं मिल सकती। यदि ब्राह्मण सन्तान रहित मरजाय तो उस की सम्पत्ति श्रोत्रियों को बांट लेना चाहिये परन्तु यदि अन्यान्य वर्ण के लोग सन्तान रहित मरें तो उन की सम्पत्ति राजा लेवे। बुद्धि विहीनों तथा नपुंसकों (जिन्हें दाय भाग नहीं मिलता) का भरण पोषण होना चाहिए और यदि किसी बुद्धि-विहीन के पुत्रोत्पन्न हो जावे तो उस पुत्र को पैतृकसम्पत्ति का वह भाग मिलना चाहिए जो उस के पिता को यदि वह अच्छा होता तो मिल सकता था। (गौतम अध्याय २८, सूत्र ४०, ४१, ४२, ४३, ४४)।

आपस्तम्ब प्रश्न २, पटल ६, खण्ड १४, सूत्र २, ३ तथा ४ से ज्ञात होता है कि पुत्र के न रहने पर सपिण्डी वा गुरु वा शिष्य दाय-भागी होते थे अथवा पुत्री दाय-भागिनी होती थी।

बौद्धायन प्रश्न १, अध्याय २, खण्ड ३, सूत्र ३६, ३७, ३८ से ज्ञात होता है कि अप्राप्तवयस्कों (नाबालिगों) के भाग तथा उस भाग से जो कुछ वृद्धि धन की) हो उन सब की सावधानतापूर्वक रक्षा होनी चाहिए, जो राजव्यवस्थानुसार अपनी सम्पत्ति की रक्षा न कर सकते हों यथा अन्ध, निर्बुद्धि, दुराचारी, स्थायी रोगी आदि उन का भरण पोषण भी होना चाहिए।

गौतमाचार्य्य अपने सूत्रग्रन्थ के २८ अध्याय के ४८ सूत्र में लिखते हैं कि किसी विशेष दशा सम्बन्धी दाय-भाग का नियम बतलाया न गया हो तो उस सम्बन्ध में उस व्यवस्थानुसार चलना चाहिए जिस का समर्थन दश पूर्ण विद्वान्, तर्क में कुशल लोभ रहित धार्मिक ब्राह्मण करें।

यह संक्षेप से दाय भाग सम्बन्धी नियम अङ्कित किए गए।

स्वास्थ्यरक्षा सम्बन्धी राजनियम—निम्नलिखित स्थानों पर शौच करना वर्जित था:—

(१) मिट्टी के ढेर पर (२) गोबर पर (३) ऐसे खेत में जिस में हल चला हो (४) वृक्ष की छाया में (५) घंटापथ अर्थात् राजकीय सड़क पर (६) सुन्दर स्थानों पर जो भ्रमणादि के लिये बने हों।

युद्ध सम्बन्धी राजनियम—आर्य्यों के युद्ध सम्बन्धी राजानियम भी बड़े दयायुक्त थे। गौतमाचार्य्य अपने सूत्र-ग्रन्थ के अध्याय १० सूत्र १६, १७ तथा १९ में जहां यह लिखते हैं कि राजा और उन के अनुयायी क्षत्रियों को रण से कभी भी मुख मोड़ना नहीं चाहिए प्रत्युत उन्हें युद्ध में अचल एवं निर्भय रहना चाहिए, युद्ध में शत्रु को घायल करना वा मार डालना पाप नहीं है वहां उसी अध्याय के सूत्र १८ में लिखते हैं:—

(युद्ध में भी उन को मत मारो) जिन के घोड़े मारे गए हों वा खोगए हों, जो रथ वा शस्त्रविहीन हो गए हों, जो तुम्हारे सन्मुख हाथ जोड़ कर खड़े हो जांय, जो अपने शिर के बाल खोले हुए भागते जाते हों, जो मुख मोड़ कर अर्थात् पीठ दिखा कर बैठ जांय, जो भाग कर पर्वतों वा वृक्षों पर चढ़ जांय, दूतों (अर्थात् उन पुरुषों को जो शत्रु-सैन्य की ओर से समाचार लाते हों) तथा उन पुरुषों को जो यह कहें कि हम ब्राह्मण वा गाय हैं।

इसी प्रकार आपस्तम्ब सूत्र प्रश्न २, पटल ५, खण्ड १० सूत्र ११ में लिखा है कि आर्य्यों की सम्मति है कि जो शस्त्र विहीन हो गए हों अथवा शिर के बाल खोले हुए वा हाथ जोड़े हुए दया की प्रार्थना करते हों अथवा भागते जाते हों उन्हें युद्ध में नहीं मारना चाहिए।

इसी प्रकार बौद्धायन सूत्र प्रश्न १ अध्याय १० खण्ड १८ सूत्र १० तथा ११ में लिखा है कि राजा को चाहिये कि अंकुश रखने वाले अथवा विष में बुझे हुए शस्त्रों से शत्रु पर प्रहार न करे और उन से युद्ध न करे जो भय भीत हों, मद (नशे) में हों, पागल हों वा जिन का ध्यान युद्ध से भिन्न अन्य ओर लगा हुआ हो, जिन का कवच नष्ट हो गया हो जो स्त्री हों, बच्चे हों बूढ़े हों वा ब्राह्मण हों।

युद्ध में विजयी होने पर विजयी योद्धाओं को परास्त हुओं का रणक्षेत्र में पड़ा हुआ जो धन मिलेगा, वह उन का होगा परन्तु रथ तथा सवारी के पशु राजा

के होंगे, यदि एक ही युद्ध में योद्धा विजयी न हुए होंगे (अर्थात् यदि कई युद्धों के बाद विजय प्राप्त होगा) तो परास्त हुओं के धन में से राजा भी विशेष भाग लेगा और शेष धन को राजा सब योद्धाओं के बीच बराबर २ बांट देगा। (गौतम अध्याय १०, सूत्र २०, २१, २२, २३)

जो युद्ध में मारे जायंगे उन की विधवाओं की रक्षा (राजा को) करनी होगी। (वाशिष्ठ' अध्याय १९ सूत्र २०)

न्यायालय सम्बन्धी राजनियम—गौतम सूत्र अध्याय १३ में लिखा है कि जब किसी को किसी प्रकार की पुकार (फ़र्याद) करनी हो तो उसे चाहिए कि न्यायाधीश की सेवा में उपस्थित हो (सूत्र २७), अभियोग में सचाई का निर्णय साक्षियों के द्वारा हो (सूत्र १). स्वयं राजा वा न्यायाधिपति वा शास्त्रों का विद्वान् ब्राह्मण साक्षियों की परीक्षा करें (सूत्र २६), ऐसे साक्षी होने चाहिएं कि जो अपने कर्तव्यों के पालन करने वाले हों राजा जिन का विश्वास कर सकता हो और जो उभय पक्ष के विवादियों में से किसी के लिए पक्षपात न कर सक्ते हों,(सूत्र २), शूद्र भी साक्षी के योग्य हो सक्ते हैं (सूत्र ३), ब्राह्मण अब्राह्मणों के अभियोग में साक्षी देने के लिए मजबूर नहीं किया जा सक्ता जब तक कि उस ब्राह्मण का नाम प्रार्थी (फ़रियादी) ने अपने प्रार्थना-पत्र में न लिखा हो (सूत्र ४), परन्तु ब्राह्मणों से भिन्न अन्य प्रकार के साक्षियों का नाम यदि प्रार्थना पत्र में न भी लिखा हो तो भी उन्हें (आवश्यकता पड़ने पर) साक्षी देनी पड़ेगी (सूत्र ८), साक्षियों को अकेले बोलना नहीं चाहिए वा जब तक पूछा न जाय तब तक नहीं बोलना चाहिए (सूत्र ९), ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य साक्षियों को देवताओं राजा तथा ब्राह्मणों के सन्मुख शपथ खाना चाहिए (सूत्र १२), यदि पूछने पर साक्षी उत्तर न दें तो वे अपराधी समझे जायंगे (सूत्र ६), सच्चे साक्षियों को स्वर्ग अर्थात् सुख और झूठों को उस के विपरीत नरक वा दुःख मिलेगा (सूत्र ७), जो साक्षी झूठ बोले उसे दण्ड अवश्य दिया जाय (सूत्र २३), यदि न्याय करते समय राजनियमव्यवस्था अथवा लौकिकनियम भङ्ग होंगे तो इस का अपराध साक्षियों अभियोग देखने के लिए नियुक्त न्यायसभा के सभ्यों राजा तथा अपराधी पर पड़ेगा (सूत्र ११),

उक्त संक्षिप्त लेख से भी ज्ञात होता है कि अभियोगों की छानबीन बड़ा सा-

वधानता से की जाती थी जिस से अन्याय होने की सम्भावना बहुत ही कम थी। इस विषय के विस्तृत लेख सूत्र ग्रन्थों में विद्यमान हैं।

सर्व हितैषी राज-नियम—कोई २ नियम ऐसे भी मिलते हैं जिन से पता लगता है कि उस समय पोत (जहाज़) भली भांति चलते थे और उन के विषय में नियम भी थे। एक नियम यह था कि कोई यात्री ऐसे जहाज़ में न चढ़े जो निर्बल हो (देखिए बौद्धायन १३ । ४४)।

कर सम्बन्धी राज-नियम—निम्नलिखित व्यक्तियों से राज कर नहीं लिया जाता था:—

विद्वान् ब्राह्मण सब वर्णों की स्त्रियां, कुमार, विद्यार्थी जो अपने गुरु के साथ पढ़ने के लिए रहते हों, पवित्र नियम पूर्ण करने को जो तप करता हो, शूद्र जो चरण धोकर आजीविका प्राप्त करता हो, जो अन्धे' गूंगे बहरे हों रुग्ण पुरुष (जब तक रुग्णावस्था बनी रहे) तथा वह लोग जिन के लिए सम्पत्ति संग्रह वर्जित है यथा सन्यासी (आपस्तम्ब प्रश्न २ पटल १०, खण्ड २६, सूत्र १०, ११, १२ १३, १४, १५, १६, १७)

निम्नलिखित व्यक्तियों को कर देना पड़ता था:—कृषिकों को अपनी उपज का दशांश, अष्टांश, वा षष्ठांश (२) पशु रखने वाले वा सुवर्ण वाले (सोना खान से निकालने वाले वा सोने का व्यापार करने वाले) को अपनी ढेरी का पचासवां अंश ३)सौदागरी के माल बेचने वालों को आय का बीसवां भाग(४) मूल, फल, फूल, औषधी सम्बन्धी बूटियां, मधु, मिठाई, घास, जलाने की लकड़ी बेचने वालों को अपनी २ वस्तु का साठवां भाग (गौतम अध्याय १० सूत्र २४' २५, २६, २७,)

गौतम सूत्र अध्याय १०, सूत्र ३३ से ज्ञात होता है कि वह लोग जो पोत (जहाज़) और गाड़ियां रखते हों उन्हें भी कर देना चाहिए।

प्रत्येक कारीगर को मास में एक दिन राजकीय कार्य्य करना चाहिए परन्तु राजा को चाहिए कि काम करने वालों को भोजन दे (गौतम अध्याय १० सूत्र ३१, ३४,)

प्रत्येक सौदागर को चाहिए कि प्रतिमास सौदागरी का एक माल (यदि राजा को उस की आवश्यकता हो तो) राजा को हाट दर से कम मूल्य पर देवे (गौतम अध्याय १० सूत्र ३५)

यदि किसी गुम हुए पदार्थ को (जिस का स्वामी ज्ञात न हो) कोई पावे तो उसे चाहिए कि उस की सूचना राजा को दे। राजा उस वस्तु की घोषणा सर्व साधारण में कराए तो भी यदि उस वस्तु का मालिक न मिले तो उसे एक वर्ष तक अपनी संरक्षा में रखे तौ भी यदि असल स्वामी का पता न लगे तो उस वस्तु का जो मूल्य हो उस का चतुर्थांश उस वस्तु पाने वाले को मिले और शेष भाग राजा का होवे (गौतम अध्याय १० सूत्र ३६, ३७, ३८)।

यदि कोई (रुपये पैसे वा बहु मूल्य रत्नों का कोष कहीं मिले तो वह राजा का है परन्तु कोई कोष यदि नैष्ठिक ब्राह्मण को मिले तो वह उसका है, किसी २ की सम्मति है कि अब्राह्मण को भी यदि कोई कोष मिले तो उस का षष्ठांश उसे भी मिलना चाहिये (गौतम अध्याय १० सूत्र ४३, ४४, ४५)

चोरी का माल जब कि मिल जावे तो वह असल मालिक को दिया जाय (उस में से राजा कर रूप से कुछ भी न ले) और यदि चोरी के माल का पता न लगे तो राजा उस माल का मूल्य अपने राजकोष से देवे (गौतम अध्याय १० सूत्र ४६, ४७)

नदियों, शुष्क घास, जङ्गलों, और पर्वतों से उपयोग लेने पर कोई कर न लिया जाय (वाशिष्ठ अध्याय १९, सूत्र २६)

जो वस्तुएं देश में पोतों (जहाजों) द्वारा बिकने के लिए आवें उन में से एक विशेष वस्तु तथा दशांश कर रूप लेना चाहिये एवं अन्यान्य विक्रय वस्तुओं पर भी उन के वास्तविक मूल्य के अनुसार कर लगाना चाहिए। परन्तु इतना कर कभी भी नहीं लेना चाहिए जो वणिकों को अत्याचार प्रतीत हो (बौद्धायन प्रश्न १, अध्याय १० कण्डिका १८, सूत्र १४, १५)

पञ्चम परिच्छेद

वर्णाश्रम अवस्था, स्त्रियों की दशा

साधारण अवस्था ।

वर्णाश्रम-ब्रह्मचारियों तथा उन के अध्यापकों के कर्त्तव्य—गृहस्थाश्रम, विवाह की रीति, स्त्रीपुरुष के कर्त्तव्य और अधिकार, सामाजिक रचना में स्त्रीजाति की स्थिति, वानप्रस्थ और संन्यास, वर्णाश्रमव्यवस्था और जातपांत, शिष्टाचारादि विविध प्रकार की बातें ।

प्राचीन काल में विद्यार्थियों का बड़ा मान्य था, समाज का प्रत्येक सभासद उन्हें गहरे मान्य और बड़े प्रेम की दृष्टि से देखता था । सब गृहस्थ इस बात के लिए बड़े इच्छुक रहते थे कि वे अपनी सन्तान को सुशिक्षा दिलाएं क्योंकि उन्हें ज्ञात था कि अपनी सन्तान को सुशिक्षित बनाना अपने एक बड़े कर्त्तव्य का पालन करना है जिस से उन का यह लोक और परलोक दोनों उत्तम होता है । आपस्तम्ब सूत्र प्रश्न १, पटल १, खण्ड १, २ तथा ३ के सूत्रों से ज्ञात होता है कि " शूद्रों (निर्बुद्धियों) तथा दुष्टों के अतिरिक्त शेष सब को यज्ञोपवीत धारण, वेदाध्ययन तथा अग्निहोत्र करने का अधिकार है और यह सब कर्म्म इस लोक और परलोक दोनों में शुभफलप्रद हैं, ब्राह्मण के पुत्र का यज्ञोपवीत आठवें वर्ष, क्षत्रिय पुत्र का ग्यारहवें वर्ष, तथा वैश्य पुत्र का यज्ञोपवीत बारहवें वर्ष होना चाहिए । यज्ञोपवीत तथा वेदारम्भसंस्कार कराने वाला गुरू ऐसा होना चाहिए जिस के वंश में वेदाध्ययन की रीति चली आती हो और जो स्वयं वेद पढ़ा हुआ हो तथा वेदमार्ग पर चलने वाला हो ऐसे गुरू को आचार्य्य कहते हैं, जिस को सदा प्रसन्न रखना ब्रह्मचारी का धर्म्म है क्योंकि उसी से ब्रह्मचारी को सब कर्त्तव्याकर्त्तव्यों धर्म्माधर्म्मों का बोध होता है । गुरू ब्रह्मचारी को द्वितीय जन्म देता है अर्थात् उस के आत्मा को सुसंस्कृत कर उत्तम बना देता है अतः द्वितीयजन्म सर्वोत्तम है । इसी कारण द्वितीयजन्म देने वाला गुरू उस पिता माता से बढ़ कर है जिन्हों ने ब्रह्मचारी के शरीर को जन्म दिया है । १६ वर्ष की आयु के पश्चात् ब्राह्मण का पुत्र २२ वर्ष की आयु के पश्चात् क्षत्रिय का पुत्र तथा २४ वर्ष की आयु के पश्चात् वैश्य का पुत्र प्राय-

श्चित्त किए विना गुरुकुल में प्रविष्ट नहीं हो सक्ते। सर्वोत्तम ब्रह्मचर्य्य ४८ वर्षों का है, मध्यम ३६ वर्षों का तथा निकृष्ट २४ वर्षों का ब्रह्मचर्य्य है। बारह वर्ष से न्यून किसी भी ब्रह्मचारी को पढ़ना नहीं चाहिए (इस से सिद्ध होता है कि निर्बुद्धियों को छोड़ कर उस समय के और सब बालक कम से कम १२ वर्ष तक गुरुकुल में निवास कर वेदाध्ययन करते थे), ब्रह्मचारी को उचित है कि वह अपने गुरू की धर्म्मानुकूल आज्ञा पालन करे, उन के बराबर न बैठे, दिन के समय न सोवे, शृङ्गार के लिए सुगन्धित वस्तुओं का प्रयोग न करे, तैल मर्दन न करे सदा शीतल जल से स्नान करे तैरते समय जल क्रीड़ा न करे, चाहे जटाजूट रक्खे चाहे शिखा रख कर शेष बालों को मुंडवादे, दण्ड रक्खे बहुत वस्त्र धारण न करे, नृत्य न देखे और न ऐसे उत्सवों में सम्मिलित हो जो विषयानन्द के लिए हों, गोष्ठी और गप शप न करे, स्त्री से केवल इतना ही बोले जितना उसे अपनी (भिक्षादि के लिए) आवश्यक हो, वीर्य्य की सदा रक्षा करे, अपने कर्त्तव्यों के पालन में कभी शिथिलता न करे, इन्द्रियों को दमन रक्खे लज्जाशील पुरुषार्थी, क्षमाशील क्रोध तथा डाह से वर्जित हो, पूर्वाह्ण और सन्ध्या के भोजन के लिए दो वार भिक्षा मांगने के लिए जावे, अभिशस्त तथा अनार्य्यों के स्थान छोड़ अन्य जिस गृह से चाहे भिक्षा मांग लावे भिक्षा समय मधुर शब्दों में गृह पत्नी से कहे "भवति! भिक्षां देहि अथवा भिक्षां भवति! देहि अथवा भिक्षां देहि भवति!" भिक्षा में जो कुछ मिले उसे लाकर गुरू की सेवा में समर्पित करे और कहे " इदम् इत्थम्, आहृतम् " अर्थात् यह इतना मैं लाया हूं, गुरू की अनुपस्थिति में गुरू के किसी सम्बन्धी की सेवा में उस भोजन को समर्पित करे यदि सम्बन्धी न हो तो किसी श्रोत्रिय की सेवा में उसे समर्पित करे, और याद रक्खे कि भिक्षा का अन्न हविषान्न जैसा पवित्र है। जिस प्रकार यजमान आहवनीयाग्नि में आहुति डालता है उसी प्रकार शिष्य को चाहिए कि अपने गुरु की जठराग्नि को आहवनीयाग्नि समझे और उस में आहुती डाल कर अर्थात् भिक्षान्न में से गुरु को खिला कर यज्ञावशेष की भांति पवित्र समझता हुआ शेष भोजन को खावे। यदि गुरु की इच्छा उस समर्पित भोजन में से खाने की न हो तो वह शिष्य से कहे "सौम्य! त्वमेव भुंक्ष्व" सौम्य! तुमही भोजन करो।"

उक्त भिक्षा के विषय में आजकल विविध प्रकार के विचार उपस्थित किए जाते हैं। जो लोग ऐसा कहते हैं कि ब्रह्मचारी लोग साधारण भिखारी की तरह भिक्षा मांगते थे वे प्राचीन भारत की प्राचीन सामाजिक रचना की विचित्रता एवं ऋषियों

के तद्विषयक भाव अभी तक समझ नहीं सके । जहां ब्रह्मचारियों के लिए यह उपदेश है कि वे नम्रता से भिक्षा मांगें वहां गृहस्थियों को यह बतलाया गया है कि ब्रह्मचारियों को भिक्षा देने में उन का मान्य है, जहां ब्रह्मचारियों में छोटी अवस्था से ही स्त्रीपूजा और नम्रता के भाव डाले जाते थे वहां गृहस्थियों के लिए शिक्षा होती थी कि आर्य्य-जाति का प्रत्येक पुत्र सब का पुत्र है, उन के आचरणों के लिए जिस प्रकार उन के माता पिता उत्तरदाता हैं उसी प्रकार अन्य लोग भी उत्तरदाता हैं । उस समय के विद्यार्थी धन्य थे क्योंकि प्रत्येक गृहिणी उन की माता थी, जब भिक्षा के लिए ब्रह्मचारियों के शुभागमन का समय होता था तो प्रत्येक गृहिणी उन की प्रतीक्षा करने लगती थी और उन के पहुंचते ही बड़े प्रेम से उन के योग्य शुद्ध सात्विक भोजन प्रदान करती थी ।" आपस्तम्ब सूत्र प्रश्न १, पटल १, खण्ड ३, सूत्र २६ में जो कुछ लिखा है उस का आशय यह है कि "जो गृहिणी अपने द्वार पर आए हुए ब्रह्मचारी को भिक्षा नहीं देती उस का श्रोत यज्ञ, दान, गृह्याग्नि में किए हुए हवन के पुण्य नष्ट हो जाते हैं, उन की सन्तति, उन के गवादि पशु, उन की विद्या व्यर्थ समझी जाती है अतः किसी भी गृहिणी को उचित नहीं कि वह ब्रह्मचारियों की मण्डली को भिक्षा से विमुख फेरे" । जब कि ब्रह्मचारियों को भिक्षा देना इतना आवश्यक बतलाया गया है तो कोई भी पुरुष कैसे कह सक्ता है कि प्राचीन समय के ब्रह्मचारियों की स्थिति साधारण भिखारियों कीसी थी ? यदि ब्रह्मचारियों (विद्यार्थियों) को प्राचीन समय में तिरस्कृत समझा जाता और इसी कारण उन के लिए भिक्षा की आज्ञा होती तो वासिष्ठ सूत्र अध्याय १३ सूत्र ५९ में यह कभी न लिखा जाता कि यदि स्नातक ब्रह्मचारी और राजा एक ही मार्ग पर आते हुए एक दूसरे के सन्मुख हो जावें तो राजा को चाहिये कि स्नातक के लिए मार्ग छोड़ कर हट जावे (अर्थात् राजा भी स्नातक ब्रह्मचारी को मान्य देवे)

आपस्तम्ब सूत्र प्रश्न १, पटल २ खण्ड ५, ६, ७ तथा ८ से ज्ञात होता है कि "ब्रह्मचारी गण प्रायः अपने गुरु के चरणों को छू कर प्रणाम करते थे, श्रेणी में जब गुरू कोई प्रश्न पूछते थे तो शिष्य प्रायः उठ कर उत्तर दिया करते थे, जब गुरू के सन्मुख पाठशाला में विद्यार्थी जाते थे तो उन में से किन्हीं के पग में यदि किसी विशेष कारण से जूता होता था तो उसे वे उतार देते थे (यात्रा के समय जूता वर्जित नहीं था परन्तु विशेष दशाओं के सिवाय जूते का पहनना, छत्र का धारण तथा रथ पर चढ़ना ब्रह्मचारियों के लिए अति निषिद्ध था) श्रेणी में विद्यार्थी

यदि अधिक होते थे तो ऐसी रीति से बैठते थे कि पाठ को सब सुन सकें, यदि विशेष मान्य के योग्य कोई विद्वान् गुरुकुल में आता था तो ब्रह्मचारी गण उस विद्वान् को उसी प्रकार प्रणाम करते थे जिस प्रकार कि वे अपने गुरू को करते थे, गुरू विद्या को बेचना पाप समझते थे परन्तु शिष्य का यह कर्तव्य था कि शिक्षा की समाप्ति पर वह गुरू को दक्षिणा देवें, गुरू और शिष्य का सम्बन्ध मरण-पर्यन्त बना रहता था, गुरुकुल छोड़ने पर भी शिष्य गुरू की सेवा को अपना धर्म्म समझता था, और आवश्यकतानुसार गुरुकुल में उपस्थित हो अपने गुरू की यथोचित सेवा करता था, आलस्य और आमोद के लिए कोई विद्यार्थी वाहन पर नहीं चढ़ सक्ता था परन्तु आवश्यकतानुसार गुरू की आज्ञा पाकर चढ़ता था, यदि गुरू के साथ वाहन पर चढ़ना होता था तो गुरू के वाहनारूढ़ हो जाने के पश्चात् विद्यार्थी चढ़ता था, गुरू के लिए उपदेश था कि वह शिष्य को निज पुत्र की तरह प्यार करता हुआ एवं उस की ओर पूर्ण ध्यान रखता हुआ निष्कपट भाव से पवित्र विज्ञान (वेद) सम्बन्धी सारी विद्याएं उसे पढ़ा दे और आप जो कुछ जानता हो उसे शिष्य से कभी भी गुप्त न रक्खे, आपत्काल के सिवाय और कभी भी अपने शिष्य से ऐसा काम न लेवे जिस से उस के पाठ में बाधा उपस्थित हो, यदि विद्यार्थी अपराध करे तो गुरू उसे डांट कर ठीक कर ले। भयभीत करना, उपवास रखाना, विशेष ठंढे जल से स्नान कराना तथा अपने सन्मुख आने से (कुछ समय के लिए) रोक देना यह सब दण्ड हैं जो कि अपराध की न्यूनाधिकतानुसार विद्यार्थी को दिए जा सक्ते हैं। ”

गौतम अध्याय २ सूत्र ४२ तथा ४३ में लिखा है कि “ नियम तो यह होना चाहिये कि विद्यार्थी को शारीरिक दण्ड न दिया जाय परन्तु यदि अन्य प्रकार से विद्यार्थी न सुधरे तो गुरू उसे पतली रस्सी वा बेंत से दण्ड देवे परन्तु किसी अन्य वस्तु से न मारे, यदि किसी अन्य वस्तु से मारे तो गुरू, राजदण्ड का भागी समझा जावे ”

आपस्तम्ब सूत्र प्रश्न १, पटल ३, खण्ड ९, १०, ११ तथा गौतम सूत्र अध्याय १६ तथा वाशिष्ठ सूत्र अध्याय १३ से ज्ञात होता है कि निम्नलिखित अवसरों पर पाठ बन्द रहता थाः—

“(१) जब कोई श्रोत्रिय वा अन्य विशेष प्रतिष्ठित पुरुष पाठशाला में आता था।

(२) जब गुरू मर जाते थे ।

(३) जिस दिन अधिक वर्षा होती थी अथवा वारम्वार देर तक बिजली चमकती वा मेघ-गर्जन होता था अथवा प्रचण्ड पवन चलता था अथवा भूकम्प आता था ।

(४) जिस दिन देश का राजा मर जाता था ।

(५) जब विशेष अध्यापक छुट्टी पर जाते थे (उस समय केवल उस विषय का पाठ बन्द रहता था जिसे उक्त अध्यापक पढ़ाते थे) ।

(६) जब किसी निकट स्थान पर आग लगती थी अथवा किसी समीपवर्त्ती स्थान पर आक्रमण होता था (इस लिए कि ब्रह्मचारी गण दुखियों की सहायता करें) ।

पढ़ने के समय चित्त की अवस्था स्वस्थ होनी चाहिए अतः निम्नलिखित स्थानों वा अवस्थाओं में जब कि चित्त में हलचल वा स्तब्धता अर्थात् अकार्य्यपरायणता होनी सम्भव है पाठ वर्जित रहता था :—

"(१) जब ब्रह्मचारी सड़क पर चलता हो ।

(२) जब ब्रह्मचारी स्मशान भूमि में हो ।

(३) ऐसे स्थान पर जहां मुर्दा पड़ा हो ।

(४) जब ब्रह्मचारी पशु पर सवार हो ।

(५) जब ब्रह्मचारी के पेट में अजीर्ण हो ।

(६) जब ब्रह्मचारी वमन कर चुका हो ।

(७) जब ब्रह्मचारी नौका पर सवार हो ।

(८) जब ब्रह्मचारी लेटा हुआ हो अर्थात् शिथिलावस्था में हो ।

अध्यापक के लिए आज्ञा थी कि वह श्रेणी के कमरे में पढ़ावे और उस के द्वार खोल रक्खे (बन्द न रक्खे) अध्यापक यदि वृक्ष पर बैठा हो वा स्नान कर रहा हो वा शरीर में तैल मर्दन करता हो तो (ऐसे समयों में) पढ़ाना बन्द रक्खे"

और भी पाठ कब २ बन्द होना चाहिए, इस का निर्णय वैदिक-शालाओं (गुरुकुलों) की शिक्षा (प्रणाली) तथा उन की कार्य्य-विधि से करना चाहिये (आपस्तम्ब) १, ३, ११, ३८) ।

प्राचीन काल में अनधिकारी और कुपात्र को विद्यादान देना पाप समझा जाता था । यह बात अलङ्कार रूप से वाशिष्ठ सूत्र में इस प्रकार बतलाई गई है:—

"एकवार विद्या ब्राह्मण के पास आई और उस से कहने लगी मैं तेरा कोष हूं तू मेरी रक्षा कर, ऐसे मनुष्य के पास मुझे मत भेज जो मेरा हास्य करे अथवा जो दुष्ट हो अथवा जो इन्द्रियों का दास हो, सुरक्षित रखने से मैं बलिष्ठ हो जाऊंगी, ए ब्राह्मण! तू मेरी रक्षा उसी प्रकार कर जैसे तू अपनी निधि की करता है, केवल उसे मुझे दान कर जो पवित्र, ध्यानावस्थित, शुद्ध, बुद्धियुक्त और ब्रह्मचर्य्य-व्रत धारण किए हो और जो कभी तेरा अपमान करने वाला न हो"

आपस्तम्ब सूत्र अध्याय १, पटल १, खण्ड २, सूत्र १९ से ज्ञात होता है कि गुरू की आज्ञा ब्रह्मचारी को सदा शिरोधार्य्य करनी पड़ती थी परन्तु उस आज्ञा का मानना उस के लिए आवश्यक न था जो धर्म्म विरुद्ध हो।

आज कल इङ्गलैंड में यह विचार हो रहा है कि जिन विद्यार्थियों को पूरा भोजन नहीं मिलता वे पढ़ नहीं सक्त अतः प्रारम्भिक शिक्षा ग्रहण करने वाले विद्यार्थियों को (यदि पर्याप्त भोजन उन के घर न मिल सकता हो तो) राजा की ओर से भोजन मिलना चाहिए। पर यह विचार नया नहीं है। बौद्धायन सूत्र में लिखा है कि अग्निहोत्री, लादू बैल और ब्रह्मचारी अपना काम (ठीक ठीक) तभी कर सक्त हैं जब कि पूर्णान्न खावें। भोजन को एक प्रकार का यज्ञ बतलाया गया है और उस ब्रह्मचारी को अपराधी समझा गया है जो भूखा रहता हो।

जो ब्रह्मचारी अपनी पढ़ाई को समाप्त कर लेते थे उन्हें स्नातक पदवी से विभूषित किया जाता था। इस पदवी प्रदान के पूर्व गुरुकुल में उन ब्रह्मचारियों का संस्कार होता था जिसे समावर्तन संस्कार कहते हैं। आज कल ग्रैजुएटों को डिप्लोमा प्रदान के समय कनवोकेशन का जो अधिवेशन होता है वह उक्त समावर्तन संस्कार का एक भाग समझा जा सक्ता है। उस समय स्नातक बनने वाले ब्रह्मचारियों को संस्कार में उपस्थित विद्वन्मण्डली के समक्ष आचार्य्य उत्तमोत्तम उपदेश देता था जिन में से कतिपय निम्नलिखित हैं:—

वेदमनूच्याचार्य्योऽन्तेवासिनमनुशास्तिः—" सत्यंवद, धर्मंचर, स्वाध्यायान्माप्रमदः, आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं माव्यवच्छेत्सीः, सत्यान्न प्रमदितव्यम्, धर्मान्न प्रमदितव्यम, कुशलान्न प्रमदितव्यम् भूत्यै न प्रमादितव्यम्, स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देव पितृकार्य्याभ्यां न प्रमदितव्यम्, मातृदेवोभव, पितृदेवोभव, आचार्य देवोभव, अतिथिदेवोभव, यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि,

यान्यस्माकꣳसुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि, ये केचास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणाः तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्, श्रद्धयादेयम्, अश्रद्धयादेयम, श्रियादेयम्, ह्रियादेयम्, भियादेयम् संविदादेयम् । अथ यदि ते कर्म विचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः युक्ता अयुक्ताः अलूक्षा धर्मकामाः स्युः यथा ते तत्र वर्त्तेरन् तथा तत्र वर्त्तेथाः । अथाभ्याख्यातेषु ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः युक्ता अयुक्ताः अलूक्षा धर्मकामाः स्युः यथा ते तेषुवर्त्तेरन् तथा तेषु वर्त्तेथाः । एषआदेशः एषउपदेशः एषावेदोपनिषत्, एतदनुशासनम्, एवमनुशासितव्यम् एवमुचैतदुपास्यम्"। (तैत्तिरीयोपनिषत्, शिक्षाध्याय, एकादशोऽनुवाकः)

अर्थात् (अपने निकट बसे हुए ब्रह्मचारी को आचार्य्य वेद पढ़ा कर पुनः वा अन्त में यह शिक्षा देता है) सदा सत्य बोला करो, धर्म्म ही का आचरण करो, स्वाध्याय अर्थात ब्रह्म विचार वा ब्रह्मोपासना में अथवा वेदों के ब्रह्म विद्यादि विषय जो कुछ पढ़ चुके हों उस को वारम्वार पुनरावृत करने में वा दोहराते रहने में आलस्य न करो, आचार्य्य के लिए प्रिय धन ला कर अर्थात् गुरु दक्षिणा दे कर ऐसा करो जिस में प्रजा वृद्धि का सिलसिला तुम से न टूटे अर्थात् विवाह कर के सन्तानोत्पन्न करो,) उस गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी) तुम्हें सत्य के पालन में आलस्य नहीं करना चाहिए, धर्म्म के धारण में आलस्य नहीं करना चाहिए, जो कुशल कर्म हैं अर्थात् जिन से तुम्हारा तथा अन्यों का कल्याण होवे ऐसे कर्म्मों के करने में कभी भी आलस्य नहीं करना चाहिए जिन कर्म्मों से तुम्हारे वा अन्यों के धनादि ऐश्वर्य्य बढ़े उन्हें करने में आलस्य नहीं करना चाहिए, स्वाध्याय अर्थात् ब्रह्मविचार वा ब्रह्मोपासना में वा वेद विषयक आत्मिक तथा प्राकृतिक विज्ञानों के विचार में तथा प्रवचन उन्हीं वेदों के पढ़ाने में वा बड़ी बड़ी वक्तृताओं द्वारा उन के आशय अर्थात् आत्मिक और प्राकृतिक विज्ञानों को हृदयङ्गम कराने में कभी भी आलस्य नहीं करना चाहिए, वेद अर्थात् धार्म्मिक विद्वानों और पितर अर्थात् वृद्ध ज्ञानी महात्माओं की सेवादि कार्य्यों में कभी भी आलस्य नहीं करना चाहिए, माता को देवता मानने वाले होवो पिता को देवता मानने वाले होवो, आचार्य को देवता मानने वाले होवो, अतिथि को देवता मानने वाले होवो, जो अनिन्दित कर्म्म हैं उन्हीं का सेवन तुम्हें करना चाहिए अन्य अर्थात् निन्दित का नहीं, हमारे भी जो उत्तम आचरण हैं उन्हीं को ग्रहण करना तुम्हें उचित है, उन से भिन्न जो हमारे दुष्कर्म्म हों उन का अनुकरण तुम्हें कभी भी करना नहीं चाहिए । हम से इतर जो कोई अन्य वेदों के जानने वाले धार्म्मिक

पुरुष ब्राह्मण हैं उन को भी आसनादि सत्कारों से सेवा कर के सुखी करना तुम्हें उचित है (एवं उन के निकट बैठना और उन में विश्वास करना तुम्हें उचित है, (यथासम्भव दान देने में संकोच न करना) श्रद्धा सहित दान देना चाहिए (अर्थात् जिन महात्माओं में तुम्हारी श्रद्धा हो उन्हें दान दो वा जिन शुभ-कर्म्मों में तुम्हारी श्रद्धा हो उन की पूर्ति के लिए दान दो) श्रद्धा से दान देना चाहिए, श्री अर्थात् प्रतिष्ठा वा शोभा के विचार से भी दान देना चाहिए, ह्री अर्थात् लोक लज्जा के विचार से भी दान देना चाहिये (अर्थात् ऐसा न हो कि सर्वथा दान न देने से वा अल्प दान देने से लोग तुम्हें कृपण कहने लगें) भय से भी दान न देना चाहिए (अर्थात् कदाचित् तुम से अनेक प्राणियों को हानि पहुंच जाय जिस का भावी फल कष्ट होगा तो उस कष्ट के भय से प्राणियों को हानि के बदले लाभ पहुंचाने के लिए तुम्हें दान देना चाहिए) अन्य दुखी मनुष्यों की आवश्यकता जान कर जब तुम्हें दुख हो तो उन प्राणियों की दुख निवृत्ति के लिए एवं अपने दुख निवृत्ति के लिए भी दान देना चाहिए। (वा प्रतिज्ञा से भी दान देना चाहिए) यदि तुम्हें किन्हीं कर्म्मों के उत्तम वा अनुत्तम होने के विषय में सन्देह हो किन्हीं विचारों वा भावों के धार्म्मिक वा अधार्म्मिक वा उचित वा अनुचित होने के विषय में सन्देह हो (अर्थात् कर्म्म उपासना और ज्ञान विषयक सन्देह उपस्थित होने पर उस अवस्था में जो वेदवेत्ता पुरुष, विचार शील हों, चाहे वे युक्त अर्थात् गृहस्थाश्रम में लगे हुए हों, (वा जो युक्त अर्थात् योगी हों) अथवा अयुक्त अर्थात् गृहस्थाश्रम में न लगे हुए विरक्त संन्यासी हों, (वा जो अयुक्त अर्थात् पूर्ण योगी न भी हों) जो क्रोधादि दोषों से रहित हों, जिन की एक मात्र इच्छा धर्म्म की वृद्धि के लिए ही हो (उन के आचरणों को देखो) जिस विषय में तुम्हें सन्देह पड़ गया है उस विषय में उक्त महात्माजन जिस प्रकार बर्ताव वा आचरण करते हों उस विषय में तुम भी वैसा ही बर्ताव वा आचरण करो, जो अभ्याख्यात अर्थात् परम प्रसिद्ध ब्रह्मर्षिराजर्षि वा धर्म्मपरायण सम्राटगण हो गए हैं उन के इतिहासों, चरित्रों वा कर्म्मों वा उपदेशों के विषय में यदि तुम्हें किसी प्रकार की शङ्का हो जाय तो उस विषय में तुम्हारे समय में जो वेदवेत्ता विचारशील पुरुष हों चाहे वे युक्त अर्थात् गृहस्थाश्रम में लगे हुए हों अथवा अयुक्त अर्थात् गृहस्थाश्रम में न लगे हुए विरक्त संन्यासी हों, जो क्रोधादि दोषों से रहित हों, जिन की एक मात्र इच्छा धर्म्म की वृद्धि के लिए हो उन के बर्तावों को देखो, उस विषय में उक्त

महात्माजन जिस प्रकार बर्ताव करते हों अर्थात् जैसा मानते, कहते वा करते हों तुम भी वैसा ही वर्ताव करो अर्थात् वैसा ही मानो, कहो और करो। यह जो "सत्यंवद" आदि हम कह आए यही तुम्हारे लिए मेरा आदेश है, यही तुम्हारे लिए मेरा उपदेश है, यही वैदिक धर्म्म का मर्म है, यही मेरी फिर भी तुम्हारे लिए आज्ञा है, इसी प्रकार वर्तते हुए धर्म्मानुष्ठान वा परमात्मा की उपासना करनी चाहिए, निश्चय कर इसी प्रकार उक्त परमात्मा उपासनाय है ।

उक्त एकादश अनुवाक में जो "वेदमनूच्य" शब्द आता है उस का अर्थ है वेदों को पढ़ा कर और जो "अनुशास्ति" शब्द आता है उस का अर्थ है पीछे से शिक्षा करता है । अतः स्पष्ट सिद्ध है कि उक्त शिक्षा वेदों के अध्ययन को समाप्त किए हुए एवं ब्रह्मचर्य्याश्रम को पूर्ण किए हुए स्नातक ब्रह्मचारी के लिए है ।

हम बड़े बल और पूर्ण विश्वास के साथ कह सकते हैं कि मनुष्य जाति की सभ्यता के इतिहास में इस से अधिक सुन्दर और उपयोगी उपदेश कभी किसी युनिवर्सिटी के ग्रेजुएटों को नहीं दिया गया । इस संक्षिप्त किन्तु प्रभावशाली उपदेश में स्नातकों को वतला दिया जाता था कि वास्तव में स्वाध्याय से ही मनुष्य पूर्ण विद्वान् बनता है और स्नातक होने पर शिक्षा की समाप्ति नहीं होती प्रत्युत गूढ़ अन्वेषण का आरम्भ होता है, उन्हें यह भी बतला दिया जाता था कि स्नातकों से यह आशा की जाती है कि स्वाध्याय के बल से वह ब्रह्म, जीव और प्रकृति के गुणों को भलीभांति समझेंगे और अपने आत्मिक विचार वा उपदेशों से लोगों को आत्मिक शान्ति और प्राकृतिक अन्वेषणों से मनुष्य जाति की श्रीवृद्धि के उपायों को बतलावेंगे परन्तु यह सब करते हुए भी सन्तान पालन, अतिथि सत्कारादि जो गृहस्थियों के दैनिक-कर्म्म हैं उन पर भी पूरा ध्यान रक्खेंगे ।

"कन्याओं का यज्ञोपवीत और ब्रह्मचर्य"—जिन ऋषियों ने वेद की आज्ञा "ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्" (अर्थात् ब्रह्मचर्य के द्वाराही कन्या युवा पति को प्राप्त करे) को शिरोधार्य कर लिया था उन्हों ने समाज के बीच घोषणा करदी थी कि पुत्रों की तरह कन्याओं को भी ब्रह्मचर्य धारण करने का पूरा अधिकार है । एवं प्राचीन आर्यों की वही कन्याएं विवाहयोग्य मानी जाती थीं जिन का ब्रह्मचर्य व्रत पूर्ण होगया हो । आश्वलायन श्रौत सूत्र और सूत्र में स्पष्टलिखा है:-

" समानं ब्रह्मचर्यम् "

अर्थात् (पुत्र और पुत्री दोनों का) ब्रह्मचर्य धारण करने में समानाधिकार है ।

गोभिलगृह्यसूत्र में लिखा है:—

"प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीमभ्युदानयन् जपेत सोमो ददद् गन्धर्वायेति"

अर्थात् जो कन्या वस्त्रादि से आच्छादित और यज्ञोपवीत धारण की हुई हो उसे [विवाह मण्डप में] लावे और " सोमो" ददद् गन्धर्वाय....इस वेदमन्त्र को पढ़े। इस सूत्र से यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मचर्यव्रत धारण करने के समय कन्याओं का भी यज्ञोपवीत हुआ करता था। ऐसा न होता तो विवाह मण्डप में जाने वाली कन्या "यज्ञोपवीतिनी" कैसे कहलाती?

पारस्कर गृह्यसूत्र में लिखा है:—

स्त्रिय उपनीता अनुपनीताश्च

अर्थात् स्त्री यज्ञोपवीतिनी तथा बिना जनेऊ धारण किए हुए भी हो।

इस से बोध होता है कि पारस्कर के समय स्त्री शिक्षा का प्रचार कुछ कम हो गया था। वेद मन्त्र की जो शिक्षा थी कि "ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्" उस का अनुसरण ढीला हो गया था। ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने के समय यज्ञोपवीत धारण करना आवश्यक समझा जाता था अतः जो स्त्री "अनुपनीता" अर्थात् बिना जनेऊ वाली होती होगी वह विधिवत् ब्रह्मचर्य धारण न करने के कारण विद्यावती भी कम ही होती होगी।

गृहस्थाश्रम।

गुरुकुल निवास को समाप्त कर कोई २ ब्रह्मचारी यथा नचिकेतादि विशेष प्रज्ञाशील होने के कारण जिन का प्रज्ञा ऋतम्भरा हो जाती थी ब्रह्म प्राप्ति के लिए तथा सब के लिये पितृवत् भाव रखते हुए, विशेष पुत्र की आकांक्षा न कर अपने सदुपदेशों द्वारा सब को धर्म्ममार्ग में चलाने की इच्छा से एवं क्रमशः सब को परमात्मा की प्राप्त के योग्य बनाने की अभिलाषा से विरज अर्थात् विरक्त परिव्राजक एवं विमृत्यु अर्थात मृत्यु-भय से रहित हो जाते थे जिन को सम्पूर्ण प्रजा महती पूज्य दृष्टि से देखती थी उसी प्रकार कोई २ ब्रह्मचारिणी यथा ऋग्वद के अष्टम मण्डल अनुवाक नवम सूक्त ९१ की प्रचारिका अपालात्रेयी आदि ब्रह्मचर्य्याश्रम से ही प्रचारिका बन जाती थी इन को भी प्रजा बड़े मान्य की दृष्टि से देखती थी परन्तु अधिकतर ब्रह्मचारी समावर्त्तन संस्कार को समाप्त कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के विचार से सम-गुण कर्म्म स्वभाव वाली ब्रह्मचारिणी से विवाह करने के लिए यत्न करने लगते थे और तद्वत् ब्रह्मचारिणी कन्याएं भी विवाह की इच्छा करने लगती थीं।

विवाह—विकाश सिद्धान्त के मानने वाले योरोपीय कहते हैं कि एक समय ऐसा था जब कि विवाह की प्रथा न थी। जब विवाह की रीति प्रचरित हुई तो पहले पहल निकट सम्बन्धियों में ही विवाहारम्भ हुआ इतिहास के ग्रन्थ में हम इस विषय पर विचार नहीं कर सक्ते कि वर्तमान सृष्टि की आदि में जैसा कि वैदिक मतानुयायी कहते हैं सैकड़ों वा सहस्रों नर नारी पैदा हुए और साथ ही उस समय उत्पन्न हुए पवित्र ऋषियों के हृदय में परमात्मा की ओर से वेदों का भी प्रादुर्भाव हुआ जिस कारण ज्ञान का स्रोत भी वर्त्तमान सृष्टि के आरम्भ से ही चल निकला किस प्रकार ठीक है अथवा जैसा कि अनेक अन्यान्य मतानुयायी कहते हैं कि सृष्टि की आदि में नर नारी का एक ही जोड़ा पैदा हुआ किस प्रकार भ्रान्त है, अथवा इस विषय के अन्यान्यों के अन्य कथन किस प्रकार अप्रामाणिक हैं। परन्तु इस विषय पर जब हम ऐतिहासिक दृष्टि डालते हैं तो पता लगता है कि आर्य्यों

की ऐतिहासिक घटनाएं जो वास्तव में अन्यान्य सभी ऐतिहासिक घटनाओं से प्राचीन हैं विकाश सिद्धान्त के मानने वाले योरोपियनों के विवाह विषयक सिद्धान्त का पोषण नहीं करतीं। आर्य्यों के यहां किसी भी ऐसे समय का पता नहीं लगता जब कि उन के यहां विवाह की प्रथा प्रचरित न थी।

आर्य्यों का एक अति प्राचीन पुस्तक ऐतरेय ब्राह्मण है। उस की सप्तम पञ्जिका के तृतीयाध्याय के प्रथम खण्ड में विवाह की उत्तमता तथा पुत्र होने के लाभों को बतलाया गया है। वहां लिखा है:—

"हरिश्चन्द्रो ह वैधस ऐक्ष्वाकोराजाऽपुत्र आस..........सह नारदं पप्रच्छ.... किंस्वित्पुत्रेण विन्दते तन्मा आचक्ष्व नारदेति स एकया पृष्टो दशभिः प्रत्युवाच ऋणमस्मिन्त्सन्नयत्यमृतत्वञ्च गच्छति पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवतो मुखं, यावन्तः पृथिव्यां भोगा यावन्तो जातवेदसि यावन्तो अप्सु प्राणिनां भूयान् पुत्रे पितुस्ततः, शश्वत् पुत्रेण पितरोऽत्यायन बहुलं तमः। आत्माहि जज्ञ आत्मनः स इरावत्यातितारिणी.........अन्नं ह प्राणः शरणं ह वासो रूपं हिरण्यं पशवो विवाहाः सखाहजाया.........ज्योतिर्हि पुत्रः.........पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वा.........नापुत्रस्य लोकोऽस्तीति........"

अर्थात् महाराज "इक्ष्वाकु" के वंशज महाराज "वेधस" के पुत्र हरिश्चन्द्र नाम राजा पुत्र विहीन थे (पुत्र न रहने के कारण चिन्तित हो कर) राजा हरिश्चन्द्र ने ऋषि नारद से पूछा (कि हे भगवन्!) पुत्र होने से (पिता) किन २ फलों को प्राप्त करता है कृपया उन्हें मुझे बतलाइये। नारद ने इस एक प्रश्न का उत्तर दश प्रकार से दिया। नारद ने कहा (हे राजन्!) यदि उत्पन्न हुए, जीते हुए (अर्थात् प्रौढ़ावस्था को प्राप्त) पुत्र का मुख पिता देखता है तो उस पुत्र में, अपने धारण किए हुए (लौकिक तथा वैदिक) ऋणों को पिता स्थापित कर देता है और (स्वयं निश्चिन्त हो तत्वज्ञान के सम्पादन में लग कर) मुक्ति पद को प्राप्त करता है। जितने पृथिवी से (गृहादि निवासादि वा अन्नोत्पत्यादि वा गन्धादि सम्बन्धी भोग) मिल सक्ते हैं, जितने जातवेदस वा अग्नि से (शीत निवारण, पाचन, प्रकाशादि सम्बन्धी) भोग मिल सक्ते हैं, जितने अप अर्थात् जल से (रस पान स्नानादि सम्बन्धी) भोग मिल सक्ते हैं इन सब से अधिक सुख पिता का पुत्र में रक्खा हुआ है। (सदा ऐसा होता है कि) पुत्र के उत्पन्न होने से पिता बहुत से अन्धकारों वा दुःखों से पार हो जाता है, पिता पुत्र रूप में उत्पन्न हो जाता है इसी कारण जिस प्रकार तरणी (मनुष्य को समुद्र

से) पार ले जाती है उसी प्रकार पुत्र (दुख से) पिता को पार उतारता है। प्राण अन्न के समान (सुखदाई है) । गृह, शरण (किसी की शरण वा रक्षा में जिस प्रकार मनुष्य हो) के समान (सुख दाई है) सुवर्ण, सुन्दर रूप के समान (सुख-दाई है) । विवाह, अपने दुग्धादि से सुख देने वाली गवादि पशुओं की तरह (सुखदाई है) । स्त्री मित्र स्वरूपिणी है अर्थात् सच्चे मित्र की तरह सुख देने वाली है । पुत्र प्रकाश की तरह चांदना कर के सुख देने वाला है । पति गर्भ रूप से अपनी स्त्री में प्रवेश करता है । जिस के पुत्र नहीं है उस का सांसारिक सुख भी नहीं की तरह का फीका है ।

इसी प्रकार सूत्र-ग्रन्थों में भी विवाहित स्त्री पुरुष के आश्रम अर्थात् गृहस्थाश्रम की महिमा गाई गई है यथा:—

जिस प्रकार सब बड़ी और छोटी नदियां समुद्र में जा कर विश्राम पाती हैं उसी प्रकार सब आश्रमों के मनुष्य गृहस्थियों से रक्षा पाते हैं, जिस प्रकार सब बच्चे अपनी माता की रक्षा करने से ही रक्षित रहते हैं उसी प्रकार सब भिक्षुक (संन्यासी) भी गृहस्थियों के रक्षा दान से ही जीते रहते हैं (वाशिष्ठ, अ० ८, सूत्र १९ तथा १६)

गृहस्थाश्रम ही ब्रह्मचर्य्याश्रम, वानप्रस्थाश्रम, तथा संन्यासाश्रम का जनक है क्योंकि गृहस्थाश्रमियों से भिन्न अन्याश्रमी सन्तानोत्पन्न नहीं करते (गौतम, अध्याय ३, सूत्र ३)

जिस गृहस्थाश्रम की महिमा इतनी गाई गई है उस में निश्चय है कि ब्रह्मचारी गण प्रसन्नता पूर्वक प्रवेश करते होंगे ।

ब्रह्मचारी के लिए गृहस्थाश्रम में प्रवेश की विधि सूत्र-ग्रन्थों में इस प्रकार लिखी है:—

गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करनेके पूर्व ब्रह्मचारी को चाहिये कि अभिमान और क्रोध रहित हो कर गुरु की आज्ञा से स्नान करे तदनन्तर अपने वर्ण की उस कन्या से जो अपने गोत्र की न हो, जो अपने प्रवर की न हो जिस ने किसी पुरुष से प्रसङ्ग न किया हो विवाह करे । उक्त कन्या को पति की माता की चार पीढ़ियों से दूर तथा पति के पिता की छः पीढ़ियों से दूर भी होना आवश्यक है (वाशिष्ठ सूत्र, अध्याय ८, सूत्र १ तथा २)

पिता को चाहिये कि अपनी पुत्री को ऐसे वर को न दे जो उस के गोत्र का हो तथा जो उस के पिता वा माता की छः पीढ़ियों के भीतर हो (आपस्तम्ब, प्रश्न २, पटल ५, खण्ड ११, सूत्र १५ तथा १६)

उक्त प्रमाणों से ज्ञात होता है कि जैसा कि महर्षि यास्क ने लिखा है "दुहिता दुर्हिता दूरेहिता" अर्थात् दुहिना का विवाह दूर दूर कुलों वा दूर दूर स्थानों में ही होना हितकारक है सूत्रग्रन्थों के समय भी प्रवृत्त था ।

योरोप में बहुत दिनों से निकट सम्बन्धियों में भी विवाह की प्रथा चली आ रही है परन्तु हर्ष का विषय है कि विवाह सम्बन्धी आर्ष-नियमों को योरोप के बड़े बड़े विद्वान् अब कुछ २ समझने लगे हैं। योरोपीय कई डाक्टरों ने अब मुक्तकण्ठ से कह दिया है कि निकट कुलों में विवाह न करो, निकट कुलों में विवाह होता रहेगा तो तीक्षण बुद्धि के बालकों का उत्पन्न होना बन्द हो जायगा ।

जिस प्रकार गुरुकुल निवास को समाप्त कर ब्रह्मचारी विवाह के विचार से किसी सम-गुण कर्म्म स्वभाव वाली ब्रह्मचारिणी का अनुसन्धान करता था उसी प्रकार ब्रह्मचारिणी भी गुरुकुल निवास को समाप्त कर अपने योग्य पति को वरने की चिन्ता करने लगती थी । और कन्या को स्वयम्वर अर्थात् अपने योग्य पति के वरने का पूरा अधिकार था। ब्राह्मण ग्रन्थों के समय के पश्चात् के तो अनेक सुप्रसिद्ध स्वयम्वरों की कथा सुनने में आती ही हैं, ब्राह्मण ग्रन्थ भी स्वयम्वर की चर्चा से शून्य नहीं हैं । ऐतरेय ब्राह्मण की चतुर्थ पञ्जिका के द्वितीयाध्याय के प्रथम खण्ड में लिखा है:—

"प्रजापतिर्वै सोमाय राज्ञे दुहितरं प्रायच्छत्सूर्यां सावित्रीं तस्यै सर्वे देवा वरा आगच्छन्................"

अर्थात् प्रजापति नाम पुरुष की कन्या सूर्यासावित्री थी, उसे शान्त स्वरूप सर्व्वोत्तम गुणों से प्रकाशित पुरुष के लिए विवाहार्थ देने की इच्छा जब प्रजापति ने प्रगट की तो (उस समय के) सब बड़े २ विद्वान् विवाहेच्छा से प्रजापति के समीप आए ।

आगे लिखा है कि उक्त विद्वानों की मण्डली में प्रजापति ने अपनी प्रतिज्ञा को कह सुनाया कि जो विद्वान् अमुक २ गुण सम्पन्न होगा उसे हमारी

कन्या वरेगी इत्यादि जिस से स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रजापति ने सूर्य्यासावित्री के लिए स्वयम्वर का अधिकार दिया था।

गौतम सूत्र अध्याय १८, सूत्र २० में लिखा है कि ब्रह्मचारिणी कन्या को उचित है कि (जब वह विवाह के योग्य हो जावे तो) तीन मासों को व्यतीत हो जाने दे और तदनन्तर स्वेच्छा से किसी दोषरहित पुरुष को (जिसे वह पसन्द करे) वरले परन्तु (पति गृह में जाने के पूर्व) उन सब आभूषणों को जो उस ने अपने पिता वा अन्य सम्बन्धियों से प्राप्त किये हों उन्हें वापिस देदे।

बौद्धायनसूत्र प्रश्न १ अध्याय ११, खण्ड २०, तथा आपस्तम्बसूत्र प्रश्न २, पटल ५, खण्ड ११, तथा गौतमसूत्र अध्याय ४, के देखने से ज्ञात होता है कि सूत्रग्रन्थों के समय आठ प्रकार के विवाह प्रचरित थे जिन के नाम ये हैं:— "ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष, दैव, गान्धर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच"। इन सब प्रकारों में ब्राह्म विवाह सर्वोपरि समझा जाता था।

बौद्धायनसूत्र प्रश्न १, अध्याय ११, खण्ड २०, सूत्र २ में लिखा है:—

"यदि पिता अपनी कन्या को विवाहार्थ उस ब्रह्मचारी को देता है जिस की विद्या और सदाचार के विषय में उस ने पूरी जाच करली है तथा जो ब्रह्मचारी उस कन्या से विवाह करने के लिए प्रार्थी हो चुका है तो ऐसे ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी के विवाह को ब्राह्म विवाह कहते हैं"।

प्राजापत्य उसे कहते थे जिस में विवाह समय कन्या को भूषणों सहित पिता वर को देता था, आर्ष उसे जिस में कन्या के तपस्वी पिता को यज्ञार्थ एक वृषभ और गाय देकर ब्रह्मचारी कन्या से विवाह करता था, दैव उसे जिस में यज्ञ कराने वाले स्नातक ब्रह्मचारी को यज्ञ कराते समय यजमान दक्षिणा सहित अपनी कन्या को विवाहार्थ देता था। ये तीन प्रकार भी उत्तम ही समझे जाते थे। गान्धर्व विवाह को कोई उत्तम और कोई निकृष्ट कहता था। परन्तु आसुर, राक्षस और पैशाच विवाह सदा घृणित समझे जाते थे क्योंकि इन विवाहों को प्रवृत्त कराने वाली पुरुषों की कुवृत्तियां होती थीं। क्योंकि ये तीनों प्रकार के विवाह कन्याओं की अनिच्छा तथा उन की असहाय दशा के सूचक थे और इन विवाहों से भी सन्तानोत्पत्ति होती ही थी इस कारण धर्मव्यवस्थापकों ने यह समझ कर कि पुरुषों के अत्याचार से निरपराध कन्याओं तथा उन के निरपराध सन्तानों के अधिकार नष्ट न होवें इन आसुर,

राक्षस और पैशाच रीतियों से हुए सम्बन्धों को भी विवाह ही ठहरा दिया अर्थात् इन विवाहों को धर्म-युक्त न मानते हुए भी इन्हें राजव्यवस्था के अन्तर्गत डाल दिया ।

सूत्रग्रन्थों के समय द्रव्य लेकर कन्या को विवाहार्थ किसी पुरुष को देना अत्यन्त ही नीचकर्म समझा जाता था यथाः---

वह दुष्ट पुरुष जो लोभ में आकर और द्रव्य लेकर अपनी कन्या को विवाहार्थ दे देता है, अपने को बेच डालता है और घोर पाप का भागी बनता है, घोर नरक में गिरता है और आने वाली सात पीढ़ी तक अपने वंश को कलङ्कित कर देता है, इस के अतिरिक्त उसे बारम्बार जन्म मरण (का क्लेश) भोगना पड़ता है । यह सब इसी कारण कि वह द्रव्य लेता है। (बौद्धायन प्रश्न १, अध्याय ११, कण्डिका २१, सूत्र ३)

जो कन्या द्रव्य लेकर (विवाहार्थ) मोल लाई जाती है वह पत्नी नहीं बन सकती, वह देवयज्ञ और पितृयज्ञ में पति का साथ नहीं दे सकती, काश्यप की सम्मति है कि ऐसी स्त्री दासी (तुल्य) है (बौद्धायन प्रश्न १, अध्याय ११, काण्डिका २१, सूत्र २)

ब्राह्मण ग्रन्थों के देखने से बोध होता है कि विषय भोग की लालसा से नहीं प्रत्युत गृहस्थाश्रम धर्म्म को सुरीत्या सम्पादन करने के लिये स्नातक और स्नातका का विवाह होता था ।

ऐतरेय ब्राह्मण के प्रमाण से हम दिखला आए हैं कि राजा हरिश्चन्द्र को अपु.. होने के कारण कितनी चिन्ता थी। नारद ने जो वहां यह बतलाया है कि प्रौढ़ पुत्र में पिता अपने वैदिक और लौकिक सब ऋणों को स्थापित कर निर्द्वन्द्व हो मोक्ष साधन में तत्पर हो सकता है उस से स्पष्ट ज्ञात होता है कि ऋषियों के मतानुसार विवाह वैदिक तथा लौकिक ऋणों से उऋण होने के लिए ही किया जाता है यही उच्चभाव था जिस कारण आर्य्यपुरुष और आर्य्यानारी का विवाह सांसारिक कल्याण का साधन बनता था । स्त्री को अनेक स्थानों में पुरुष की अर्द्धाङ्गिनी बतलाया है । ब्राह्मण ग्रन्थों में लिखा है कि पुरुष स्त्री यदि दोनों जीते हों तो पुरुष स्त्री की सहायता के बिना अग्निहोत्र नहीं कर सकता। ऐतरेय ब्राह्मण की सप्तम पञ्जिका के द्वितीयाध्याय के नवम खण्ड में यह प्रश्न उठाया गया है कि "तदाहुर्वाचापत्नीकोऽग्निहोत्रं कथमेव जुहोति" जिस पुरुष की स्त्री मरगई हो अर्थात् जो अपत्नीक हो वह अग्नि-

होत्र करे वा न करे और करे तो किम प्रकार? इस का उत्तर अनेक प्रकार से दिया हुआ है अन्त में लिखा है कि "श्रद्धापत्नी, सत्यं यजमानः" इत्यादि, अपत्नीक पुरुष अपनी श्रद्धा को ही स्त्री मान ले और अपने को सत्य स्वरूप समझे और इस प्रकार श्रद्धा और सत्य मिलकर मानस यज्ञ करें इत्यादि। इन प्रश्नोत्तरों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि गृहस्थ धर्मों के सम्पादनार्थ पति के लिए पत्नी और पत्नी के लिए पति कितना उपयोगी माना जाता था।

सूत्र ग्रन्थों में भी विवाह सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है उस से ज्ञात होता है कि विविध यज्ञों की पूर्ति के लिये ही विवाह होता था और गृहस्थाश्रम सम्बन्धी सब धर्म्म कार्य्यों में पति पत्नी पर और पत्नी पति पर निर्भर रहती थी। यथा:—

वह धर्म्मपत्नी जो अग्निहोत्र में पति का साथ देती है वह उन सब धार्मिक कार्य्यों में भी पति की सहवर्त्तिनी मानी जाती है जिन धर्म्म कार्य्यों का कि अग्निहोत्र एक भाग मात्र है (आपस्तम्ब प्रश्न २, पटल ९, खण्ड ११ सू० १४)

धर्म्मकार्य्यों के सम्पादन में पत्नी स्वतन्त्र नहीं है, अर्थात् (जो धर्म कार्य पत्नी करे वह पति के साथ करे) (गौतम अध्याय १८, सू० १)

ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी जब विवाह के लिए वर वधू बनते थे और उन का विवाह संस्कार होने लगता था तो उपस्थित सभा के बीच उन्हें परस्पर अनेक प्रतिज्ञाएं करनी पड़ती थीं जिन प्रतिज्ञाओं में से कतिपय निम्नलिखित हैं:—

"हे वरानने! मैं ऐश्वर्य्य सुसन्तानादि सौभाग्य की बढ़ती के लिए तेरे हाथ को ग्रहण करता हूं, मुझ पति के साथ जरावस्था को प्राप्त हो कर भी सुख पूर्वक निवास कर। हे वीर! मैं सौभाग्य की वृद्धि के लिए आप के हस्त को ग्रहण करती हूं आप मुझ पत्नी के साथ वृद्धावस्था पर्यन्त प्रसन्न और अनुकूल रहिए। आप को मैं और मुझ को आप आज से पति पत्नी भाव कर के प्राप्त हुए हैं। सकल ऐश्वर्य्ययुक्त न्यायकारी सब जगत् की उत्पत्ति का कर्त्ता बहुत प्रकार से जगत् का धर्ता परमात्मा और ये सब सभा-मण्डप में बैठे हुए विद्वान् लोग गृहाश्रम कर्म्म के अनुष्ठान के लिए तुझ को मुझे देते हैं आज से मैं आप के हस्ते और आप मेरे हस्ते बिक चुके हैं कभी एक दूसरे का अप्रियाचरण नहीं करेंगे। हे अनघे! धर्म्म युक्त मार्ग में प्रेरक मैं तेरे हाथ को ज्ञान पूर्वक ग्रहण कर चुका हूं जिस जगत् पति परमात्मा ने तुझ को मुझे दिया है उस की कृपा से सौ वर्ष पर्यन्त तू सुख पूर्वक मुझ पति के साथ जीवन

धारण कर । हे भद्रवीर ! परमेश्वर की कृपा से आप मुझे प्राप्त हुए हो मेरे लिए आप के सिवाय इस जगत् में दूसरा पति नहीं है न मैं आप से अन्य दूसरे किसी को मानूंगी, में प्रेम द्वारा आप को प्राप्त होती हूं, ज्ञान पूर्वक आप को ग्रहण करती हूं आप का हृदय आत्मा और अन्तःकरण मेरे प्रियाचरण धर्म में धारण करती हूं मेरे चित्त के अनुकूल आप का चित्त सदा रहे आप एकाग्र हो के मेरी वाणी का जो कुछ में आप से कहूं उस का सेवन सदा किया कीजिए क्योंकि आज से प्रजापति परमात्मा ने आप को मेरे आधीन किया है जैसे मुझ को आप के आधीन किया है इत्यादि–"

इस के विरुद्ध योरोप में स्त्री पुरुष का सम्बन्ध आर्योचित उच्चोद्देश्यों के साथ नहीं होता जिस कारण बहुत से विवाह बन्धन विच्छेद हो जाते हैं ।

सूत्रग्रन्थों में कई जगह लिखा है कि स्त्री स्वतन्त्र नहीं प्रत्युत वह पुरुष के आधीन है यथाः—

(स्त्री की रक्षा) उस का पिता उस की बाल्यावस्था में करता है, युवावस्था में पति रक्षा करता है वृद्धावस्था में पुत्र रक्षा करता है, स्त्री कभी भी स्वतन्त्रता के योग्य नहीं है । (वासिष्ठ अध्याय ५, सूत्र २)

परन्तु वह आधीनता किस प्रकार की है इसे समझने के लिए निम्नलिखित वाक्यों पर ध्यान देना चाहिए । उसी वासिष्ठ सूत्र में लिखा है:—

वेद में ऐसा वर्णन किया गया है कि वह नारी जो नग्न नहीं फिरती (अर्थात् जो बाल्यावस्था को समाप्त कर चुकी है) और जिस में अल्पकालिक अपवित्रता भी नहीं है, स्वर्गवत् है (वासिष्ठ अ० ५, सू० १)

बाल्यावस्था में कन्याओं की रक्षा उन के पिता माता तथा जब वह गुरुकुल में पढ़ने जाती थीं तो उन की रक्षा उन की आचार्य्या करती थीं सो तो ठीक ही थी । कन्या युवावस्था को प्राप्त हो विवाह कर जब पतिकुल को जाती थी तब भी वह नि-कृष्ट दासी वा अप्रतिष्ठित नहीं मानी जाती थी प्रत्युत वह महती प्रतिष्ठा वाली समझी जाती थी जिस का प्रमाण यह है कि वासिष्ठ सूत्र अध्याय १३, सूत्र ५९ तथा ६० में जहां यह लिखा है कि यदि एक ही सड़क पर सन्मुख आते हुए राजा को स्नातक ब्रह्मचारी मिले तो राजा को चाहिये कि स्नातक ब्रह्मचारी को (मान्य देने के लिये) मार्ग देदे वहां यह भी लिखा है कि " (राजा और स्नातकादि) सब

लोग (मान्य देने के लिये) उस विवाहिता वधू के लिए मार्ग छोड़ दें जो (सवारी पर पितृगृह से) पति गृह को लेजाई जाती हो" ।

पति के साथ रहती हुई स्त्री उस की निकृष्ट दासी नहीं प्रत्युत उस की अर्द्धाङ्गिनी समझी जाती थी, पति पत्नी की रक्षा में रहता था और पत्नी पति की रक्षा में रहती थी। पति की पूरी रक्षा न रहने के कारण किसी कुसंगवश यदि पत्नी कभी मदिरा पान कर लेती थी तो वह घोर पतित समझी जाती थी और माना जाता था कि पति का आधा शरीर पतित हो गया और अब आधा शरीर रखने के कारण वह किसी काम का न रहा यथा:—

पति का आधा अङ्ग टूट कर गिर पड़ता है यदि उस की पत्नी मदिरा पान करती है। (वासिष्ठ अध्याय २१, सूत्र १९)

पत्नी जब पुत्रवती हो जाती थी और उस के पुत्र प्रौढ़ हो जाते थे तो माता उन पुत्रों की दासी की भांति नहीं रहती थी प्रत्युत पुत्रों की सर्वोत्तम पूज्यदृष्टि माता की ही ओर होती थी यथा:—

उपाध्याय की अपेक्षा दशगुण अधिक प्रतिष्ठित आचार्य्य है आचार्य से सौ-गुण अधिक प्रतिष्ठित पिता है और पिता से सहस्र गुण अधिक प्रतिष्ठा योग्य माता है (वासिष्ठ अध्याय १३ सूत्र ४८)

अतः जैसा कि हम ऊपर लिख आये वासिष्ठ सूत्र अध्याय ५, सूत्र २ का अर्थ यह हुआ कि स्त्री की सर्वोपरि रक्षा में उस की बाल्यावस्था में पिता मातादि युवावस्था में पति और वृद्धावस्था में पुत्र तत्पर रहें और उस को स्वतन्त्र वा अकेली वा असहायावस्था में न छोड़ें ?

उक्त सूत्रों के अतिरिक्त निम्नलिखित आपस्तम्बसूत्रों से भी पति और पत्नी के धर्म्म तथा उन के समानाधिकार स्पष्ट ज्ञात होते हैं:—

पति और पत्नी के बीच विभाजन नहीं हो सक्ता (अर्थात् उन का विवाह बन्धन किसी भी प्रकार टूट नहीं सक्ता अथवा गृहसम्पत्ति को वे आपस में बांट नहीं सक्ते) क्योंकि विवाहकाल से ही वे धार्म्मिक कार्य्यों के लिए युक्त होते हैं, वह सब कर्म्म जिन से आत्मिक योग्यताएं प्राप्त होती हैं उन के फल भी दोनों को ही मिलते हैं और इसी प्रकार जो ऐश्वर्य्य प्राप्त होता है उस में भी उन का युक्ताधिकार है क्योंकि (विद्वानों का) कथन है कि पति की अनुपस्थिति में यदि पत्नी

द्रव्य व्यय करे तो यह चोरी नहीं समझी जाती (आपस्तम्ब सूत्र, प्रश्न २, पटल ६, खण्ड १४ सूत्र १६, १७, १८, १९, २०)

पति और पत्नी दोनों ही युक्त सम्पत्ति पर अधिकार रखते हैं (अर्थात् सम्पत्ति दोनों की ही समझी जाती है) (आपस्तम्ब, प्रश्न २, पटल ११, खण्ड २९, सूत्र ३)

यदि विवाह समय की प्रतिज्ञाएं टूटेंगी तो पति और पत्नी दोनों ही निश्चय कर के नरक में गिरेंगे । (आपस्तम्बसूत्र प्रश्न २, पटल १०, खण्ड २७, सूत्र ६)

यह सूत्र स्पष्ट बतला रहा है कि विवाह बन्धन धर्म्मबन्धन समझा जाता था और जिस प्रकार धर्म्म किसी दशा में भी त्याज्य नहीं उसी प्रकार विवाह बन्धन भी किसी दशा में टूटने योग्य न था ।

कदाचित् किसी कारण यदि कोई पुरुष अपनी सदाचारिणी स्त्री को त्यागता था तो वह स्त्री पतित नहीं समझी जाती थी प्रत्युत वह पुरुष ही पतित माना जाता था और जब तक वह अपने इस पाप का प्रायश्चित्त नहीं कर लेता था तब तक वह घृणित पुरुष ही कहलाता था । पत्नित्याग का प्रायश्चित्त यह था:—

जिस ने अपनी स्त्री को अन्याय से त्याग किया है वह गधे का चमड़ा ओढ़ कर (चमड़े का बाल ऊपर की ओर रहें) प्रतिदिन सात गृहों में यह कहते हुए भिक्षा मांगे कि उस पुरुष को भिक्षा दो जिस ने अपनी पत्नी को त्याग दिया है। इसी प्रकार की भिक्षा से वह छः महीने तक अपना निर्वाह करे (आपस्तम्ब, प्र० १, पं० १०, खं० २८, सू० १९)

इसी प्रकार जो स्त्री कदाचित् अपने सदाचारी पति को छोडती थी तो वह भी पतित समझी जाती थी और जब तक वह अपने इस पाप का प्रायश्चित्त नहीं कर लेती थी तब तक अति घृणित मानी जाती थी इस अपराध के लिए पत्नी के वास्ते यह प्रायश्चित्त था:—

यदि कोई स्त्री अपने पति को छोड़े तो उसे द्वादश दिनों बालाकृच्छ्रव्रत, छः महीने तक करना पड़ेगा (आपस्तम्ब प्र० १, प० १०, खं० २८ सूत्र २०)

संसार में मनुष्य कल्याण सम्बन्धी जितने नियम चलाए जाते हैं उन की उत्तमता वा निकृष्टता उस परिणाम से सिद्ध होती है जो उक्त नियम किसी मनुष्य समाज में प्रकट करते हैं । पति और पत्नी के परस्पर सम्बन्ध को प्राचीन आर्य्यों ने भली भांति समझ कर उसे इस प्रकार चलाया था जिस से उस समय के आर्य्यगृह स्वर्ग

स्थान बन रहे थे, पति और पत्नी के बीच ऐसा गाढ़ प्रेम रहता था कि व्यभिचारी पुरुष वा व्यभिचारिणी स्त्री का नाम तक कठिनता से सुन पड़ता था जिस का प्रमाण छान्दोग्योपनिषद् में भी विद्यमान है। वहां लिखा है कि ब्रह्मविद्या की खोज में ऋषिगण जब महाराज कैकेय अश्वपति के राज्य में गए तो महाराज ने ऋषियों का प्रारम्भिक आतिथ्यसत्कार कर निवेदन किया कि हे ऋषिगण ! कृपया आप मेरे राज्य में निवास करें, (आप ऐसा न समझें कि मेरा राज्य अपवित्र है यहां ठहरना उचित नहीं) आप को मैं विश्वास दिलाता हूं कि:—

"न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः" (छान्दोग्य, प्रपाठक ५, खण्ड ११ वाक ५)

मेरे राज्य में न तो कोई चोर है और न कायर, न कोई मद्यप है और न अग्निहोत्र न करने वाला, न कोई अनपढ़ है और न व्यभिचारी और जब कि व्यभिचारी ही नहीं है तो व्यभिचारिणी स्त्री कहां हो सक्ती है ?

उक्त ऐतिहासिक घटना को पढ़ कर कौन ऐसा पुरुष है जो यह कहने का दावा करे कि प्राचीन आर्य्यों का दाम्पत्य धर्म्म अपूर्ण था वा वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर निर्भर न था ?

पतित्याग और पत्नित्याग के सहस्रों अभियोग जो प्रतिवर्ष योरोप और अमेरिका में होते हैं वे बड़े बल से घोषणा कर रहे हैं कि इन देशों के लोगों ने अभी तक दाम्पत्य धर्म्म को नहीं समझा है।

सूत्रग्रन्थों के समय भी स्त्रियां बहुधा बड़े मान्य और पूजा की दृष्टि से देखी जाती थीं क्योंकि वासिष्ठसूत्र अध्याय २८, सूत्र ९ में स्पष्ट लिखा है:—

"स्त्रियां सर्वाङ्ग से पवित्र हैं"

प्राचीन काल में पर्दे की कुरीति न थी—ब्राह्मण ग्रन्थों के समय की स्त्रियां बड़ी विदुषी होती थीं यह तो कन्याओं के गुरुकुल निवास तथा पत्नी का पति के साथ सब प्रकार के यज्ञों में सम्मिलित होने से सिद्ध ही है परन्तु इस से एक बात यह भी सिद्ध होती है कि उस समय की स्त्रियों में आज कल की तरह पर्दे की कुरीति न थी। यदि पर्दे की कुरीति होती तो (जैसा कि शतपथ ब्राह्मण के चौदहवें काण्ड में लिखा है) राजा जनक की सभा में ब्रह्मवादिनी गार्गी वाचक्नवी महर्षि याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ न कर सकती और न महर्षि याज्ञवल्क्य, गार्गी

के इस प्रश्न पर " कस्मिन्नु ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्च ? " कहते कि " गार्गी ! मातिप्राक्षीः " अर्थात् हे गार्गी ! अब मत पूछ। और न ऐतरेय ब्राह्मण की पञ्चम पञ्जिका के चतुर्थ खण्ड में यह लिखा मिलता "कुमारी गन्धर्व गृहीता वक्तास्म:" अर्थात् कुमारी गन्धर्व गृहीता वक्ता अर्थात् वक्तृता करने वाली थी, और न तैतिरीय (सं० २, २, ८, १) में यह लेख मिलता "इन्द्राणी वै सेनाया देवता" अर्थात् इन्द्राणी सेना की देवी है। लोपामुद्रा ने ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के तईसवें अनुवाक के १७९ सुक्त का प्रचार किया था और कुमारी अपालात्रेयी ने ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के नवम अनुवाक के ९१ सूक्त का प्रचार किया था। एवं अनेक देवियां ब्रह्मवादिनी अर्थात् ब्रह्मविद्या का उपदेश करनेवाली थीं जिन में से कतिपय के नाम निम्नलिखित हैं:—

गोधा घोशा विश्ववारा पालोपनिषन्निषत्।
ब्रह्मजायाजुहूर्नाम्नी अगस्त्यस्य स्वसादितिः ॥
इन्द्राणी चेन्द्रमाता च सरमा रोमशोर्वशी।
लोपामुद्रा च नद्यश्च यमी च शश्वती ॥
श्रीर्लाक्षा सार्पराज्ञी वाकूश्रद्धा मेधा च दक्षिणा।
रात्री सूर्य्या च सावित्री ब्रह्मवादिन्यईरिताः ॥

इन प्रमाणों को पढ़कर कोई भी सदसद्विवेकी पुरुष नहीं कह सकता कि प्राचीन आर्य्यों में विदुषी स्त्रियां न थीं अथवा उन में पर्दे की रीति थी।

सूत्र ग्रन्थों के समय भी विदुषी स्त्रियों का अभाव न था। यदि उस समय विदुषी स्त्रियां न होती तो बौद्धायन सूत्र प्रश्न २, अध्याय १, काण्डिका २, सूत्र २१ में आचार्य्यों का उल्लेख न होता, और न आपस्तम्ब सूत्र प्रश्न १, पटल ७, खण्ड १३ सूत्र ९ में आचार्य्या विषयक लेख होता।

गृहस्थियों के साधारण धर्म्म—ऐसे तो जितने शुभ कर्म्म हैं उन सब के ही अनुष्ठान का अधिकार गृहस्थ को था। तो भी उन के सामान्य कर्म निम्नलिखित थेः—

(१) नित्य स्नान कर अग्निहोत्र करना यथा:—

य आहिताग्निर्यदि प्रातरस्नातोऽग्निहोत्रं जुहुयात् का तत्र प्रायश्चित्तिरिति (ऐतरेय ब्राह्मण सप्तमपञ्जिका, द्वितीयाध्याय, खण्ड ८)

अर्थात् नित्य हवन करने की प्रतिज्ञा जो धारण कर चुका है (अर्थात् गृहस्थ) यदि बिना स्नान किए ही कभी अग्निहोत्र करले तो उस के लिये प्रायश्चित्त क्या है?

(२) देवयज्ञ पितृयज्ञ और नृयज्ञ नियम पूर्वक करना यथाः—

कोऽनद्धा पुरुष इति न देवान् न पितॄन्, न मनुष्या इति (ऐतरये ब्रा०, सप्तम-पञ्जिका, अध्याय २, खण्ड ८)

अनद्धा अर्थात् पापी पुरुष कौन है ? जो न देवयज्ञ अर्थात् अग्निहोत्र और न पितृ-यज्ञ और न नृयज्ञ करता है।

(३) अतिथि सत्कार यथाः—

नसायमतिथिरपरुध्य इति [ऐतरेय, पञ्जिका ९, अ० ९, खण्ड ९]

अर्थात् अतिथि जो सायंकाल आवे उस को तो अपने यहां निवास अवश्य ही दो ।

अभिहेषते पिपासते क्षिप्रं प्रयच्छेत [ऐतरेय, पञ्जिका ६, अध्याय २, खण्ड ९]

अर्थात् भूखे और प्यासे को [अन्न जल] शीघ्र दे ।

इत्यादि गृहस्थों के अनेक सामान्य धर्म ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित हैं ।

एवं सूत्र ग्रन्थों में भी गृहस्थों के सामान्य धर्म्म इस प्रकार लिखे हुए हैं:—

गृहस्थ की दिनचर्य्या और उस के कतिपय कर्तव्य कर्म ।

यदि गृहस्थ सूर्य्योदय समय तक सोता रहे [अर्थात् प्रातःकाल की सन्ध्या न कर सके] तो वह दिन भर मौन धारण किए हुए भूखा खड़ा रहे । यदि सन्ध्या-काल सो जाव [अर्थात् सन्ध्या समय उपासना न कर सके] तो वह रात भर मौन धारण किए हुए भूखा बैठा रहे और प्रातःकाल स्नान कर के परमात्मा की उपासना करे [अर्थात् प्रातः सायं की सन्ध्या अवश्य ही किया करे] [आपस्तम्ब प्रश्न २, पटल ९, खण्ड १२, सूत्र १३, १४,]

प्रतिदिन एकान्त में वेद के कुछ भागों का पाठ किया करे । विवाह समय जो गार्हपत्याग्नि जलाई गई हो उसी से गृह सम्बन्धी सब संस्कारों को करता रहे [गौतम अध्याय ९, सूत्र ४, ८]

जब भोजन तैयार हो जाय और बलिवैश्वदेव होजाय तो उस भोजन में से

सब से पहले (किसी को) दान देदे तदनन्तर उस भोजन में से अतिथियों को, अपने छोटे २ बच्चों को, वृद्ध वा रोगी को, अपनी सम्बन्धिनी स्त्रियों तथा गर्भवती स्त्रियों को भोजन करावे। गृहपति और गृहपत्नी को उचित है कि वह कभी भी भोजन मांगने वाले को न फेरे जब कि अपने यहां बलिवैश्वदेव हो चुका हो। यदि [दूसरों को देने को] भोजन के लिए कुछ शेष न हो तो स्थान, जल, आसन और प्रियवचन तो एक अच्छे पुरुष के गृह में कभी भी नहीं घटते [आपस्तम्ब प्रश्न २, पटल २, खण्ड ४, सूत्र १०, ११, १२, १३, १४]

गृहपति चाहे अपने आप भूखा रह जाय, अपनी स्त्री वा बच्चों को भूखे रख ले परन्तु उस दास (शूद्र) को कभी भूखा न रक्खे जो उस का दैनिक कार्य्य करता है (आपस्तम्ब, प्रश्न २, पटल ४ खण्ड ९, सूत्र ११)

धर्म्म से धन कमावे और उसे योग्य पुरुषों को दे वा उचित वस्तुओं के लिए व्यय करे। अयोग्य पुरुष को कभी कुछ भी न दे हां दे यदि उस का उसे भय हो। और लोगों को अपनी उदार वृत्ति तथा दानों से प्रसन्न करता रहे और उन सुखों को भोगे जो धर्म्मानुकूल हों (आपस्तम्ब, प्रश्न २, पटल ८, खण्ड २०, सू० १८, १९, २०, २१, २२)

जो लोग गुरु के लिए मांगते हों, अथवा विवाह संस्कार का व्यय चलाने को मांगते हों अथवा रोगी की औषधादि के लिए मांगते हों, अथवा जो दीन होने के कारण (अपने भरण पोषण के लिए) मांगते हों, अथवा जो यज्ञ करने जाता हो और मांगता हो, अथवा जो विद्याध्ययन में लगा हुआ हो, अथवा जो यात्री हो अथवा जिस ने विश्वजित् यज्ञ कर लिया हो, [अर्थात् अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति दान कर सन्यास धारण कर लिया हो] उन सब को [वेदी से बाहर] द्रव्य की भेंट अवश्य ही देनी चाहिए [गौतम अध्याय ९, सू० २१]

गृहस्थ को अपना कोई भी समय [चाहे प्रातः दोपहर वा सन्ध्या ही क्यों न हो] कभी भी व्यर्थ नहीं खोना चाहिए प्रत्युत अपनी योग्यतानुसार प्रत्येक समय से लाभ उठाना चाहिए चाहे आत्मिक योग्यता सम्बन्धी, धन सम्बन्धी वा सुख सम्बन्धी। परन्तु उक्त तीनों लाभ अर्थात् आत्मिक, अर्थ और काम सम्बन्धी में से उसे अधिकतर आत्मिक योग्यता की ओर ध्यान देना चाहिए। उसे अपनी विशेषेन्द्रिय, अपना पेट, अपने हाथ, अपने पग, अपनी जिह्वा, अपनी आंखों को

पूर्ण वश में रखना चाहिये । उसे घर पर सदा बैठे रहना भी उचित नहीं है । उसे सदा सत्य बोलना चाहिए । एक आर्य्य की भांति उसे आचरण करना चाहिए धर्म्मात्मा पुरुषों को ही उसे विद्या दान देना चाहिए । शास्त्रों में लिखित शुद्धि सम्बन्धी नियमों का उसे पालन करना चाहिए । वेदों के अध्ययन में उसे प्रीति रखनी चाहिए किसी भी प्राणी को कभी भी हानि पहुंचानी उसे नहीं चाहिए, उसे नम्र तो होना चाहिए परन्तु साथ ही दृढ़ भी, सदा अपनी इन्द्रियों को वश में रखते हुए उसे उदारचित्त होना चाहिए [गौतम अध्याय ९, सूत्र ४६, ४७, ५०, ५२, ६५, ६८, ६९, ७०, ७१, ७२, ७३]

तीनों वर्णों के द्विजों का समान धर्म्म वेदाध्ययन, अग्निहोत्र तथा दान देना है [गौतम, अध्याय १० सूत्र १]

गृहस्थ को चाहिए कि वेदाध्ययन में यज्ञों के करने में, सन्तति उत्पन्न करने में तथा अपने अन्यान्य औचित्य पालन में पूर्ण परिश्रम करता रहे । उसे चाहिए कि अपने यहां आए हुए लोगों का उठ कर सत्कार करे, उन्हें आसन दे और उन की स्तुति करता हुआ उन से मृदुभाषण करे और सब प्राणियों को अपनी शक्ति अनुसार भोजन दिया करे [वाशिष्ठ, अध्याय ८, सूत्र ११, १२, १३]

भोजन कहता है कि उस को जो मुझे देवों, पितरों अपने सेवकों, अतिथियों, मित्रों को बिना दिए हुए खाता है, मैं उस को भक्षण कर जाता हूं और उस के लिए मैं मृत्यु हूं क्योंकि अपनी घोर मूर्खता के कारण वह विष खाता है, अर्थात् ग्रास नहीं खाता परन्तु जो अग्निहोत्र कर के, वैश्वदेव कर के, अतिथियोंका सत्कार कर के अपने आश्रितों को भोजन करा के जो कुछ बचता है उसे सन्तोष, पवित्रता और श्रद्धा सहित खाता है उस पुरुष के लिए मैं अमृत हूं और सच मुच वही मुझ से आनन्द भोगता है (बौद्धायन प्रश्न २, अध्याय ३, कण्डिका ९, सूत्र १८)

सदाचार का सेवन मनुष्य मात्र का कर्तव्यहै, जिस का आत्मा असदाचार से बिगड़ गया है वह इस लोक और परलोक दोनों में नाश (दुर्दशा) को प्राप्त होता है । न तपश्चरण, न वेदाध्ययन, न अग्निहोत्र न पुष्कल दान उस मनुष्य को बचा सक्ता है जो दुराचारी है और जिस ने धर्म्म मार्ग को परित्याग दिया है । वेद उस पुरुष को शुद्ध नहीं कर सक्ते जो आचरण में नीच है यद्यपि उस ने छः अङ्गों सहित ही वेदों को अध्ययन किया हो । धूर्त पुरुष को जो धूर्तता करता है

पवित्र वेद भी नहीं बचा सक्ते। दुराचारी पुरुष की सब मनुष्यों में निन्दा होती है, वह रोगों से दुःख पाता है और अल्पायु हो जाता है, सदाचार से ही मनुष्य आत्मिक योग्यता प्राप्त करता है, सदाचार से ही धन प्राप्त करता है सदाचार से ही सुन्दरता प्राप्त करता और सदाचार ही कुसंस्कारों के प्रभाव को मिटा देता है। धार्म्मिक पुरुषों में जो सदाचार के नियम स्थापित हैं उनके अनुसार जो पुरुष चलता है, जो श्रद्धावान् है और जो द्रोह रहित है वह विशेष गुणान्वित न होने पर भी सौ वर्ष तक जीता है (वासिष्ठ, अध्याय ६ के कई सूत्र)

अपने कर्तव्यों का पालन केवल इस विचार से न करे कि उसे प्रसिद्धि, आय (धन) और प्रतिष्ठा प्राप्त होगी क्योंकि फल की आकांक्षा से किया हुआ कर्म्म कर्तव्यपालन नहीं कहाता। सांसारिक फल तो कर्तव्यपालन से स्वयम् ही प्राप्त होते हैं यथा आम्र-फल की प्राप्ति के लिए जब आम्र-वृक्ष बोते हैं तो छाया और सुगन्धि अवश्य ही मिलती है। (जो केवल कर्तव्य पालन के विचार से कर्म्म करता है) उसे यदि सांसारिक फल नहीं भी मिलते तो भी उस का कर्तव्य पालन तो पूर्ण हो ही जाता है। धूर्तों, दुष्टों, नास्तिकों और मूर्खों के वचनों को सुन कर क्रुद्ध मत हो और न उन वचनों से ठगे जावो। धर्म्म और अधर्म्म यह कहते नहीं फिरते कि हम यहां हैं हम यहां हैं। धर्म्म वही है जिस के आचरण को तीनों द्विज वर्णों के ज्ञानी पुरुष सराहते हैं और जिस (आचरण) की वह निन्दा करते हैं वह अधर्म्म है। कर्म ऐसे करने चाहिएं जिन का अनुमोदन सब देशों के ऐसे द्विज करें जिन्हों ने अपने आचार्य्यों की यथोचित आज्ञा पालन की है, जो वृद्ध हैं, जिन्हों ने अपनी इन्द्रियों को दमन कर लिया है जो न तो लोभ और न धूर्तता करते हैं। जो इस प्रकार आचरण करेगा वह दोनों लोकों (यह लोक और पर लोक) का भागी बनेगा (आपस्तम्ब प्रश्न १, पटल ७, खण्ड २०, के कई सूत्र)

आत्मघात कभी न करे और न वह किसी अन्य का प्राण हनन करे नहीं तो उसे अभिशस्त बनना पड़ेगा (आपस्तम्ब प्रश्न १, पटल १०, खण्ड २८, सू० १७)

कभी संदिग्ध वार्ता के विषय में ऐसा न बोले मानों वह उसे विस्पष्ट जान रहा है (आपस्तम्ब प्रश्न २, पटल ९, खंड १२, सू० २१)

धर्म्म ही का आचरण करो, अधर्म्म का नहीं, सत्य ही बोलो, असत्य नहीं विशालदृष्टि के बनो संकुचित हृदय के नहीं, उस की ओर देखो जो सब से उच्च

(श्रेष्ठ और महान् है), उस की ओर नहीं जो सब से उच्च नहीं है। वृद्ध पुरुष के बाल वृद्धता के लक्षण बतलाते हैं तथा वृद्ध पुरुष के दांत वृद्धता के लक्षण बतलाते हैं परन्तु जीवन की इच्छा तथा धन की इच्छा वृद्ध पुरुष की भी ह्रास को प्राप्त नहीं होती। आनन्द उसी पुरुष के भाग में है जो कामनाओं को त्याग देता है, जिन कामनाओं को कि मूर्ख बड़ी कठिनता से छोड़ते हैं, जो (कामनाएं) वय के ह्रास के साथ ह्रास को प्राप्त नहीं होती और जो कि जन्म भर के लिए रोग हैं। (वासिष्ठ, अध्याय ३०, सूत्र १, ९, १०,)

शूद्र की स्थिति—इस ग्रन्थ के कई स्थानों में प्रकरणानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के कर्तव्यों को संक्षेपतः वर्णन कर दिया है यहां शूद्रों की स्थिति अधिकतर स्पष्टता के साथ जतलाने के लिए हमें इन के विषय में कुछ और वर्णन करना है क्योंकि आगे हमें खान पान तथा छूआ छूत के विषय में भी कुछ लिखना पड़ेगा।

शूद्र उन्हीं को कहते थे जो मन्द बुद्धि होने के कारण विद्याध्ययन नहीं कर सक्ते हों चाहे वे ब्राह्मण के पुत्र हों क्षत्रिय के, वैश्य के वा शूद्र के। शूद्र का भी पुत्र यदि बुद्धिमान् होने के कारण विद्याध्ययन कर के ज्ञानी बन जाता था तो वह भी पूर्ण पूजा का पात्र माना जाता था। परमात्मा यदि शूद्र के पुत्र में बुद्धि दे और वह बुद्धि औरों के ज्ञान प्रदान से बढ़ाई जाय तो कोई भी अवरोध ऐसा नहीं दीखता जिस से कि उक्त शूद्र का पुत्र ज्ञानी न बन सके प्राचीन काल में शूद्रों के बुद्धिमान् पुत्रों को आचार्य्य लोग बराबर पढ़ाते रहे हैं और परमात्मा की कृपा से वे बड़े २ ज्ञानी हो चुके हैं। ऐतरेय ब्राह्मण की द्वितीय पञ्जिका के तृतीयाध्याय के प्रथम खण्ड में लिखा है:—

"ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत ते कवषमैलूषं सोमादनयन् दास्याः पुत्रः कितवोऽब्राह्मणः कथं नोमध्ये दीक्षिष्टेति........तेवा ऋषयोऽब्रुवन् विदुर्वा इमं देवाः"

अर्थात् किसी समय ऋषि लोग सरस्वती के किनारे यज्ञ कर रहे थे, उस समय इलूष नाम पुरुष का पुत्र कवष उन के बीच आ बैठा। ऋषि लोग बोले यह दासी का पुत्र जो अब्राह्मण है, हम लोगों के बीच बैठ कर किस प्रकार दीक्षा कर सक्ता है?........पुनः वे सब ऋषि बोले इस को तो देवता लोग भी जानते हैं। इत्यादि।

इस प्रमाण से सिद्ध होता है कि उक्त कवष ऐलूष इतना बड़ा ज्ञानी हो गया था कि उस की प्रसिद्धि देवताओं (विद्वानों) में फैल गई थी।

ऋग्वेद मण्डल १०, अनुवाक ३ सूक्त ३०, ३१, ३२, ३३ तथा ३४ का ऋषि अर्थात् समाधि द्वारा इन सूक्तों के मन्त्रों का यथार्थ परमात्मा के द्वारा जान कर इन का प्रचारक कवष ऐलूष हुआ है जिस का नाम अति प्राचीन काल से उक्त सूक्तों के ऊपर लिखा चला आता है। दासी का पुत्र बुद्धिमान्, ज्ञानी तथा परमात्मा का उपासक बनने से यदि मन्त्रद्रष्टा ऋषि बन सक्ता है तो उस के लिए अन्य और कौनसी महानता शेष रह गई?

इसी प्रकार ऋग्वेद मण्डल १ अनुवाक १७ के सूक्त ११६ से १२६ तक का ऋषि अर्थात् इन के अर्थों का प्रथम २ प्रचारक (शूद्रा औशिक का पुत्र) कक्षिवान् था। औशिक पुत्रः कक्षीवानृषिः यह नाम उक्त सूक्तों के ऊपर आर्य्य लोग अति प्राचीन काल से लिखते आते हैं।

छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक ४ में स्पष्ट लिखा है कि सत्यकाम जाबाल की माता ने उसे किस से गर्भ धारण कर उत्पन्न किया यह जाबाल की माता को ज्ञात न था अतः जाबाल का कुल कुछ भी ज्ञात न था परन्तु उसे महर्षि गौतम ने पढ़ाया। एवं महर्षि रयिक ने शूद्र के बालक जानश्रुति को विद्यादान दिया।

सूत्रग्रन्थों में भी ऐसे प्रमाण हैं जिन से ज्ञात होता है कि शूद्र का पुत्र ज्ञान धारण करने के कारण यदि उत्तम कर्म करे तो वह उत्तम बन सक्ता है और द्विज कुलोत्पन्न यदि मूर्ख हो वा निकृष्ट कर्म्म करे तो वह पतित हो जाता है यथाः—

धर्म्मचर्य्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जाति परिवृत्तौ। अधर्मचर्य्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जाति परिवृत्तौ। आपस्तम्ब धर्म्म सूत्र।

धर्माचरण से निकृष्ट वर्ण अपने से उत्तम २ वर्ण को प्राप्त होता और वह उसी वर्ण में गिना जावे कि जिस २ के योग्य होवे। वैसे ही अधर्म्माचरण से पूर्व अर्थात् उत्तम वर्ण वाला मनुष्य अपने से नीचे २ वाले वर्ण को प्राप्त होता है और उसी वर्ण में गिना जावे।

जो ब्राह्मण कुलोत्पन्न वेदाध्ययन नहीं करता (अतः) जो अन्यों को नहीं पढ़ाता तथा जो अग्निहोत्र नहीं करता वह शूद्र के बराबर हो जाता है। वह द्विज कुलोत्पन्न जो वेदों के न पढ़ने के कारण अन्यान्य कर्म्मों में लग जाता है जाती

ही हुआ पतित हो जाता है, शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है (वासिष्ठ अध्याय ३, सूत्र १ तथा २)

सूत्रग्रन्थों में शूद्रों में सामान्य धर्म्म तथा उन की जीविका और प्रतिष्ठा के विषय में इस प्रकार उल्लेख है:—

शूद्र के लिए भी सत्यता, नम्रता तथा पवित्रता का विधान है, जो उस के आश्रित हों उन की रक्षा उसे करनी चाहिए, पतिव्रत होना चाहिए उच्च वर्णों की सेवा करनी चाहिए, और उन से अपनी जीविका प्राप्त करनी चाहिए अथवा कारीगरी के कामों से उसे जीविका प्राप्त करनी चाहिए, यदि वह अपने स्वामी की सेवा करते समय काम करने के अयोग्य होजाय तो स्वामी से वह रक्षा का भागी है और यदि उस का स्वामी विपत्ति में पड़ जाय तो उस का पालन करना भी शूद्र का काम है (गौतम सूत्र अध्याय १० के कई सूत्र)

गृहस्थ चाहे अपने को, अपनी भार्या को, अपने बच्चों को भूखा रक्खे तो रक्खे परन्तु अपने सेवक (शूद्र) को कभी भूखा न रक्खे (आपस्तम्ब प्रश्न २, पटल ४, खण्ड ९, सूत्र ११)

किसी भी वृद्ध पुरुष का चाहे वह शूद्र भी होवे तो उस का सन्मान करो यदि तुम उस के पुत्र के वय के बराबर हो (गौतम, अध्याय ६, सूत्र १०)

छुआछूत और भक्ष्याभक्ष्य—जिस छुआछूत ने आज कल वर्णाश्रम धर्म्मानुयायी कहलाने वाले नर नारियों को डुबो रक्खा है प्राचीन ग्रन्थों में इस का चिह्न भी कहीं नहीं मिलता । आपस्तम्ब धर्म्म सूत्र में लिखा है:—

"आर्य्याधिष्ठिता वा शूद्राः संस्कर्तारः स्युः....."

(द्विज गृहस्थों के घर) शूद्र भी भोजन बना सक्ता है, परन्तु जब वह भोजन बनावे तो उस का निरीक्षण द्विज करले । यदि शूद्र भोजन बनावे तो उसे प्रतिदिन शीश के बाल, दाढ़ी के बाल, शरीर के बाल तथा नख कटवा लेने चाहिए और वस्त्र सहित स्नान कर लेना चाहिए । (यदि प्रतिदिन क्षौर न करा सके तो) आठवें दिन अथवा प्रतिपदा और पूर्णिमा को क्षौर करा लिया करे । पश्चात् शूद्र पाचक अपने स्वामी की सेवा में उपस्थित होवे और कहे कि भोजन तय्यार हो गया, यह सुन कर गृहपति कहे कि सुपक्व भोजन ही श्री वृद्धि का कारण है, यह श्री-वर्द्धक होवे । द्विज के निरीक्षण के विना जो भोजन शूद्र तय्यार करे उसे गृहपति स्वयं पुनः अग्नि पर रक्खे और उस पर जल के छींटे डाल दे यह भोजन देवताओं

(विद्वानों) के भी खाने योग्य हैं। आपस्तम्ब प्रश्न २, पटल २, खण्ड ३, सूत्र ४, ६, ७, ८, ९, १०, ११।

उक्त प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि द्विज गृहपति के घर यदि शूद्र भोजन बनावे तो वह भोजन द्विज मात्र के लिए भक्ष्य था। पुनः वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण एक दूसरे के घर का भोजन खाते थे इस की सिद्धि की क्या आवश्यकता है? इन्हीं सूत्र ग्रन्थों में लिखा है कि गृहपति के घर में जो भोजन तय्यार होजाय पहले उस से बलिवैश्वदेव करे और पुनः उसी भोजन में से अतिथियों को खिलावे इन्हीं सूत्र ग्रन्थों में लिखा है कि चारों वर्णों के लोग गृहपति के अतिथि बनते थे अतः इस में सन्देह ही क्या रहा कि चारों वर्णों के लोग उस भोजन को ग्रहण करते थे जो गृहपति अपने यहां तय्यार कराता था। आज कल की सखरी और निखरी कच्चे और पक्के भोजन का प्रश्न ही वहां उपस्थित नहीं हो सक्ता था क्योंकि कोई भी गृहपति अपने यहां प्रतिदिन एक ही प्रकार का भोजन बनवा नहीं सक्ता होगा।

जो वस्तु अखाद्य और अपेय माने जाते थे उनकी संक्षिप्त गणना निम्नलिखित है:—

पक्व (पकाया हुआ) भोजन जो रातभर पड़ा रहे (अर्थात् बासी हो जाय) वह न खाद्य न पेय है, न वह पकाया हुआ भोजन जो किसी कारण कड़ुवा हो जाय, प्रत्येक प्रकार की ऐसी वस्तु जिस से मद (नशा) हो वर्जित है इसी तरह वह भोजन जो उस प्रकार की पत्तियों के साथ जिन से मदिरा बन सके बना हो अखाद्य है, (आपस्तम्ब, प्रश्न १, पटल ५, खण्ड १७, सू० १७, १८, २१, २९,)

वह भोजन मत खावो जिस में बाल वा कीड़े गिर पड़े हों जो एक वार पक्व हो गया हो और पुनः पकाया जाय (गर्म किया जाय) (गौतम अध्याय २७, सूत्र ९ तथा १९)

उच्छिष्ट भोजन किसी का न खावे..................वह भोजन भी न खावे जो देर तक रक्खे रहने से बे स्वाद हो गया हो, जो स्वभावतः बिगड़ा हुआ हो जो एक बार से अधिक पकाया गया हो, जो कच्चा हो वा जो थोड़ा कच्चा हो (अर्थात् जो सुपक्व न हो) (वासिष्ठ, अध्याय १४, सूत्र २०, तथा २८)

सुख शान्ति का प्रधान कारण—उक्त लेखों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि गृहस्थाश्रम नियम पूर्वक ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासियों को उत्पन्न क-

रता था। गृहस्थाश्रम के जो चार भेद ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र थे वे किसी पक्षपात के कारण नहीं प्रत्युत गुण कर्म्मानुसार थे। किसी भी शूद्र कुलोत्पन्न बुद्धि-युक्त व्यक्ति को इस कारण दुखी नहीं होना पड़ता था कि परमात्मा ने तो मुझे बुद्धि दी परन्तु मनुष्य मेरे साथ अन्याय कर रहे हैं अर्थात् मुझे ज्ञान दान नहीं करते शूद्रों के लिए उन्नति का मार्ग खुला हुआ था जिस पर चलते हुए वे मन्त्रद्रष्टा ऋषि के पद तक भी पहुंच सक्ते थे। शूद्रों को वा किसी अन्य वर्णों के पुरुषों को यह भी कहने का अवसर नहीं मिलता था कि अमुक पुरुष का पुत्र महा निर्बुद्धि तो है परन्तु उस का कितना सन्मान होता है। ऐसे मन्द बुद्धि पुरुष चाहे ब्राह्मण कुमार ही क्यों न हों पतित समझे जाते थे और उन्हें केवल शूद्रों की कोटि का सत्कार मिलता था। इस प्रकार प्राकृतिक घटना की भांति चारों वर्णों के काम निर्विघ्नता के साथ चल रहे थे जिस से भारतवर्ष उन्नति के शिखर पर चढ़ गया था। कोई भी परिव्राजक जिस का काम जीविकोपार्जन नहीं था भूखा नहीं रह सक्ता था, उस को सब से पहले भोजनादि से सत्कार करना गृहस्थों का काम था और न कोई अन्धा या लूला लंगड़ा वा पापरोगी वा पतित वा अन्य कोई जो जीविकोपार्जन में असमर्थ था और जो गृहस्थ के द्वार पर आ जाता था कभी भी भूख की पीड़ा से संतप्त न होता था क्योंकि गृहस्थ का धर्म्म था कि भोजन तय्यार हो जाने के बाद वह बलि-वैश्वदेव अवश्य करे एवं अपने द्वार पर आए हुए भूखे को अन्न भी अवश्य दे। अङ्ग विहीनों पापरोगियों वा पतितों को तो अवश्य दान दिया ही जाता था इन के अतिरिक्त उन ज्ञानी धर्म्मात्मा पुरुषों अर्थात् ब्राह्मणों को भी जो स्वजीविकोपार्जन की चिन्ता छोड़ ज्ञान वृद्धि के लिए निरन्तर यत्न किया करते थे उत्तमोत्तम दानों से सत्कृत किया जाता था परन्तु उस पुरुष को दान नहीं दिया जाता था जो बुद्धि रखता हुआ भी आलस्य के कारण पुरुषार्थहीन हो याचना करता था। वाशिष्ठसूत्र अध्याय २ सूत्र ४ में स्पष्ट लिखा है कि राजा को चाहिये कि उस ग्राम के निवासियों को दण्ड दे जहां (नाम मात्र के) ब्राह्मण, वेद विद्या विहीन स्वधर्म्म की पालना न करने वाले भिक्षा मांग कर जीवन व्यतीत करते हों, (ऐसे ग्राम निवासियों को) दण्ड देने का कारण यह है कि वे लोग लुटेरों को भोजन कराते हैं। अतः स्पष्ट सिद्ध है कि उस समय का दान आज कल की तरह कुपात्रों के लिए नष्ट नहीं होता था। जब कि दान सुपात्रों को और उत्तम कार्य्यों के सम्पादन के लिए मिलता था तो उस समय उन्नति न होती तो और किस समय होती? आज

कल भी भारतवर्ष में कई क्रोड़ रुपये दान होते हैं परन्तु इस का बड़ा भाग अपात्रों को मिलता है, यदि दान की शैली बदल जाय और सुपात्रों एवं धर्म्म प्रचार सुशिक्षा प्रचारादि कार्य्यों के लिए दान मिलने लगे तो निस्सन्देह इस समय भी भारत की बड़ी उन्नति हो सक्ती है। सुनियमों के प्रचरित रहते हुए भी यदि कोई पुरुष धर्म्म रोपित सामाजिक नियमों को तोड़ता था तो वह अपराधी समझा जाता था और (जैसा कि आपस्तम्ब सूत्र प्रश्न २, पटल ५, खण्ड १० तथा ११ में लिखा है) उस की शुद्धि के लिए उस का आचार्य्य ही प्रायश्चित्त नियत कर देता था अथवा अपराधी के दण्ड होने की दशा में राजपुरोहित (जो बड़ा धार्म्मिक और विद्वान् हुआ करता था) प्रायश्चित्त नियत करता था यदि अपराधी विशेष उद्दण्ड होता था तो राजा बलात् प्रायश्चित्त कराता था और प्रायश्चित्त न करने की दशा में राजा उसे कारागारादि विविध प्रकार के दण्डों से दण्डित करता था। राजा अपनी प्रजा के हित चिन्तन में सदा लगा रहता था और उन के दुःख सुख में सम्मिलित होने के लिए अवकाशानुसार प्रजा के घरों पर भी जाया करता था यदि ऐसा न होता तो गौतमसूत्र अध्याय ५ सूत्र ३०, ३१, ३२, ३३ में यह न लिखा होता कि यदि गृहस्थ के घर राजा आवे और वह राजा यदि श्रोत्रिय (वैदिक विज्ञान में पारङ्गत हो तो उस का सत्कार मधुपर्क से करे, वह जितनी वार आवे उतनी वार मधुपर्क से सत्कार करे, यदि राजा श्रोत्रिय न हो तो मधुपर्क के सिवाय अन्याय रीतियों से भली भांति सत्कार करे और उस के लिए विशेष भोजन बनवावे।

गृहस्थाश्रम के विषय में जो कुछ पूर्व संक्षेपतः लिखा जा चुका है उस से विशेष नहीं तो संक्षिप्त रीति से तो यह अवश्य ही ज्ञात हो गया होगा कि किस प्रकार सुख और शान्ति से प्राचीन काल के भारतीय गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए धर्म्म, अर्थ, काम और मोक्ष के साधनों में तत्पर रहते थे।

वानप्रस्थ और संन्यास।

शतपथ ब्राह्मण के चौदहवें काण्ड में लिखा है:—

"ब्रह्मचर्य्याश्रमं समाप्य गृही भवेत् गृहीभूत्वा वनी भवेद्वनीभूत्वा प्रव्रजेत्"

अर्थात् ब्रह्मचर्य्याश्रम को समाप्त कर के गृहस्थ होवे, गृहस्थाश्रम को समाप्त कर वानप्रस्थ होवे (तथा) वानप्रस्थाश्रम को समाप्त कर परिव्राजक वा संन्यासी होवे।

परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थ में ही यह भी लिखा है:—

"यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेद्वनाद्वा गृहाद्वा ब्रह्मचर्य्यादेव प्रव्रजेत्" ।

अर्थात् जिस दिन वैराग्य प्राप्त हो उसी दिन वन से (वानप्रस्थाश्रम से) वा गृह से (गृहस्थाश्रम से) वा ब्रह्मचर्य्याश्रम से ही परिव्राजक वा संन्यासी बन जावे।

पहिले "ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य" इत्यादि में संन्यास का क्रम कहा है और द्वितीय "यदहरेव विरजेत्" इत्यादि में विकल्प बतलाया है अर्थात् एक पक्ष तो यह है कि वानप्रस्थाश्रम समाप्त कर के संन्यासी होवे द्वितीय पक्ष यह है कि गृहस्थाश्रम से ही संन्यास ग्रहण करे और तृतीय पक्ष यह है कि "जो पूर्ण विद्वान् जितेन्द्रिय विषय भोग की कामना से रहित परोपकार करने की इच्छा से युक्त पुरुष हो वह ब्रह्मचर्याश्रम से ही संन्यास लेवे" इसी प्रकार सूत्रग्रन्थों में भी लिखा है:—

साधारण नियम तो यह है कि सत्तरवें वर्ष की समाप्ति पर जब कि सन्तान धार्मिक कर्त्तव्यों का पालन करने लगें तो गृहस्थ संन्यासी हो जावे। अथवा वानप्रस्थी पुरुष वानप्रस्थ के कर्त्तव्यों का पालन कर संन्यासी होवे। अथवा जिस ने ब्रह्मचर्याश्रम को समाप्त कर दिया हो वह ब्रह्मचर्याश्रम से ही संन्यास ग्रहण कर लेवे (बौद्धायनसूत्र, प्रश्न २, अध्याय १० कण्डिका १७, सूत्र ९, ६ तथा २)

वेद में लिखा है कि एक आश्रम से दूसरे आश्रम में प्रवेश करता हुआ मनुष्य ब्रह्म में लीन हो जाता है (बौद्धायनसूत्र, प्रश्न २ अध्याय १०, कण्डिका १७, सूत्र १९ ।

वानप्रस्थ ।

सूत्रग्रन्थों में वानप्रस्थियों के कर्त्तव्य निम्नलिखित, बतलाए गए हैं:—

जटा जूट रक्खे, वल्कल वा चर्म पहिने, ग्राम में न जाय और न जोते हुए खेत में पग रक्खे, केवल वन्य फल मूलों को एकत्रित कर खावे, सदा (अन्तर और बाह्य से) पवित्र रहे, अपने हृदय को दया भाव से पूर्ण रक्खे, जो अतिथि उस के आश्रम पर आवें उन का फल मूल से सत्कार करे, अन्यों को दिया तो करे परन्तु किसी से कुछ ले नहीं त्रिकाल प्रातः मध्याह्न और सन्ध्या को स्नान करे, अपने आश्रम के नियमानुसार अग्न्याधान कर अग्निहोत्र करे, इस प्रकार छः मासों तक निर्वाह कर कुटि और अग्नि को भी परित्याग कर वृक्ष के मूल में निवास करे, इस प्रकार जो कोई देव, पितर और मनुष्यों को उन २ का भाग देता है उसे अनन्त सुख मिलता है (वासिष्ठ, अध्याय ९, के सब सूत्र)

(फलादि पर जीवन निर्वाह करने के पश्चात् कुछ दिनों तक) केवल जल पीकर और पुनः केवल हवा पीकर और पुनः कुछ दिन (श्वास लेता हुआ) सर्वथा निराहार रहे (अर्थात् इस प्रकार उग्र तितिक्षा का साधन करे) (आपस्तम्ब सूत्र, प्रश्न २, पटल ९, खण्ड २२, सू० ४)

वानप्रस्थियों के विषय में मुण्डकोपनिषत् में लिखा है:—

"तपः श्रद्धे येह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः । सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्राऽमृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा"

अर्थात् जो शान्त विद्वान् लोग वन में तप धर्म्मानुष्ठान और सत्य की श्रद्धा कर के भिक्षा चरण करते हुए जंगल में बसते हैं वे जहां नाश रहित पूर्ण पुरुष हानि लाभ रहित परमात्मा है वहां निर्मल हो कर प्राण द्वार से उस परमात्मा को प्राप्त हो के आनन्दित हो जाते हैं ।

संन्यास ।

सूत्रग्रन्थों में संन्यासियों के कर्तव्य निम्नलिखित बतलाए गए हैं:—

संन्यासी को चाहिए कि सब प्राणियों को अभय दान देता हुआ घर से निकल जाव, वह संन्यासी जो सब प्राणियों के साथ निर्वैर (शान्ति सहित) वर्तता हुआ घूमता है उसे किसी भी प्राणी से भय प्राप्त नहीं होता, (संन्यासी को चाहिए कि) वह अन्यान्य सभी संस्कारों का परित्याग दे परन्तु वेदों के अध्ययन को कभी न छोड़े क्योंकि वेदों के भूलने से वह शूद्र हो जाता है अतः वेदों (का अध्ययन) कभी न छोड़े, (उस के लिए) "ओ३म्" स्वाध्याय वेद का सर्वोत्तम स्वाध्याय है, प्राणायाम सब से बढ़ कर तपश्चरण है भिक्षा पर निर्वाह उपवास व्रत से बढ़कर है, दयालुता दान शीलता से बढ़ कर है, (संन्यासी को चाहिए कि) वह अपने बाल मुंड़वाया करे, किसी प्रकार की भी सम्पत्ति धारण न करे और न कोई अपना गृह रक्खे (प्रतिदिन) ऐसे सात द्वारों में (भोजनार्थ) भिक्षा मांगे जिन्हें उस ने पूर्व से न चुन रक्खा हो भिक्षा मांगने ऐसे समय पर जावे जब कि भोजन शाला का धूम बन्द हो गया हो और चक्की तथा ओखली का चलना भी बन्द हो, कोपीन धारण करे अथवा एक वस्त्र पहने, भूमि पर शयन करे, अपने निवास स्थानों को वारम्वार बदलता रहे, ग्राम के किसी अन्तिम भाग किसी देव मन्दिर में, अथवा किसी रिक्त गृह में अथवा किसी वृक्ष के मूल में निवास करे, अपने हृदय में विज्ञ-

व्यापक ब्रह्म का ज्ञान खोजा करे, जब उसे (भोजनादि के लिए) कुछ प्राप्त न हो तो उसे उदासीन होना ठीक नहीं और न उसे प्रसन्न होना चाहिए जब कि उसे कुछ मिल जावे, उसे केवल उतना ग्रहण करने का यत्न करना चाहिए जितने से कि उस का प्राण पोषण हो, गृह सम्बन्धी सम्पत्तियों के विषय में उसे किञ्चित् भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए, उस संन्यासी को ही मोक्ष का ज्ञान होता है जो न तो किसी कुटि, न वस्त्र, न तीन पुष्करों (पवित्र ताल) न गृह, न आसन, और न भोजन की चिन्ता करता है। संन्यासी को किसी प्रकार के भी विषयानन्द को भोगना नहीं चाहिए (वाशिष्ठ सूत्र, अध्याय १० के कई सूत्र)

संन्यासी को चाहिए कि पीत युक्त लाल रंग के वस्त्र धारण करे, मन, वच और कर्म्म तीनों में से किसी से भी किसी प्राणी को हानि न पहुंचाएं (दण्ड न दे) (बौद्धायन सूत्र, प्रश्न २, अध्याय ६, कण्डिका ११ सूत्र २१ तथा २३)

ब्रह्म का अनादि महत्व उस की क्रियाओं से न बढ़ता है और न घटता है, जीवात्मा उस महत्व के भाव को जान (सक्ता) है, वह पुरुष जो उस भाव को जानता है दुष्कर्म्मों के लांछन से बचा रहता है, उस ज्ञान से (बारम्बार के) जन्मों से बच जाता है, उस पुरुष को (जो संन्यासी होता है) अनादि (परमात्मा) महत्व को पहुंचा देता है (संन्यासाश्रम की महिमा इन वाक्यों से निकलती है) संन्यासी को श्वेत वस्त्र धारण नहीं करना चाहिए (बौद्धायन प्रश्न २, अध्याय १० कण्डिका १७, सूत्र ७, ८, ९, ४४)

संन्यासी को चाहिये कि इन व्रतों को अवश्य धारण करे अर्थात् प्राणी मात्र को हानि पहुंचाने की इच्छा से रहित रहना, सत्यता, दूसरों की सम्पत्ति की कामना से सदा पृथक् रहना पवित्रता तथा उदारता। उसे भिक्षा के लिये केवल इतनी देर ठहरना चाहिये जितनी देर में एक गाय दुही जासके। संन्यासी को चाहिये कि अग्नि न रक्खे, घर न रक्खे, कोई भी अपना निवास स्थान न बनावे, कोई भी अपना रक्षक न रक्खे। वेद रूप वृक्ष का मूल "ओ३म्" है (अतः) "ओ३म्" वेद का सार है, ओ३म् के अर्थों के विचार से (ध्यान से) (संन्यासी) ब्रह्म में युक्त हो जाने योग्य बन जाता है (बौद्धायन, प्रश्न २, अध्याय १०, कण्डिका १८ सूत्र १, २, ६, २२, २५, २६)

संन्यासी को चाहिये कि (अपने लिये) धन न रक्खे (सदा) पवित्र रहे,

उत्तम भोजनों की इच्छा छोड़दे, अपनी वाणी, आंख तथा वचन को वश में रक्खे, (गौतम अध्याय ३, सूत्र ११, १२, १६)

ब्राह्मणग्रन्थों तथा उपनिषदों में संन्यासियों के विषय में लिखा हैः—

पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति।

(शतपथ काण्ड १४, प्र० ९ ब्रा० २, कं० १)

पुत्रादि के मोह, धन से भोग वा मान्य, लोक में प्रतिष्ठा वा लाभ से अलग होके संन्यासी लोग भिक्षुक होकर रात दिन मोक्ष के साधनों में तत्पर रहते हैं।

वेदान्त विज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्वाः।

ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥ (मुंडकोपनिषत्)।

जो वेदान्त अर्थात् परमेश्वर प्रतिपादक वेदमन्त्रों के अर्थ ज्ञान और आचार में अच्छे प्रकार निश्चित संन्यास योग से शुद्धान्तःकरण संन्यासी होते हैं वे परमेश्वर में मुक्ति सुख को प्राप्त हो भोग के पश्चात् जब मुक्ति में सुख की अवधि पूर्ण हो जाती है तब वहां से छूट कर संसार में आते हैं।

नाविरतो दुश्चरितान् नाशान्तो नासमाहितः।

नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

(कठोपनिषत्)

जो दुराचार से पृथक् नहीं, जिस को शान्ति नहीं, जिस का आत्मा योगी नहीं और जिस का मन शान्त नहीं वह (संन्यास लेके भी) प्रज्ञान से परमात्मा को प्राप्त नहीं होता।

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेद् ज्ञान आत्मनि।

ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥

(कठोपनिषत्)

(संन्यासी) बुद्धिमान् वाणी और मन को अधर्म से रोक के उन को ज्ञान और आत्मा में लगावे और उस ज्ञानस्वात्मा को परमात्मा में लगावे और उस विज्ञान को शान्तस्वरूप आत्मा में स्थिर करे।

सर्व आश्रमियों के सामान्य धर्म।

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी इन चारों आश्रमियों के सामान्य धर्म्म ये हैंः—

पवित्र ज्ञान (वेद) का परित्याग न करना (अर्थात् वेदों का स्वाध्याय) सब आश्रमियों का सामान्य धर्म्म है (आपस्तम्ब प्रश्न २, पटल ९, खण्ड २१, सूत्र४)

पीछे में किसी की निन्दा, ईर्षा, अभिमान, नास्तिकता, स्तेय, स्वप्रशंसा, अन्यों पर दोषारोपण, छल कपट लोभ, भ्रम, क्रोध, द्वेष इन सब का त्याग सभी आश्रम के लोगों का कर्तव्य माना जाता है (वासिष्ठ अध्याय १० सूत्र ३०)

पुनः सब आश्रमियों के सामान्य धर्म्म आपास्तम्ब सूत्र में इस प्रकार लिखे हुए हैं:—

उसे (मनुष्य को) चाहिए कि उन रीतियों को अवलम्बन करे जिन से आत्मज्ञान की प्राप्ति हो, जिन का यह परिणाम हो कि मनोविकार नष्ट हों और मनोनिग्रह होवे और मन आत्मचिन्तन में स्थिर हो जावे । आत्मज्ञान की प्राप्ति से बढ़कर कोई उद्देश्य नहीं है । हम उन छन्दों को उद्धृत करते हैं जो आत्मज्ञान प्राप्ति विषयक हैं । सर्व प्राणी उसी के निवासस्थान हैं जो प्रकृति के भीतर है जो अमर और दोषरहित है, जो उस की उपासना करते हैं वे भी अमर हो जाते हैं जो कि (स्वयम्) निष्कम्प है और सब चर वासस्थानों में रहता है । इस संसार में जो इन्द्रियों के विषय कहलाते हैं उन से घृणा कर बुद्धिमान् पुरुष को उचित है कि वह आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये यत्न करे । हे शिष्य ! मैंने जब कि अपने जीवात्मा में उस महान् स्वप्रकाशस्वरूप, सर्वव्यापक, स्वतन्त्र परमात्मा को नहीं पहिचाना था जिस की प्राप्ति बिना किसी मध्यस्थ के ही करनी चाहिए तब मैं उसे (उस परमात्मा को) अन्य विषयों में ढूंढता था परन्तु अब जब कि मुझे ज्ञान हो गया वैसा नहीं करता अतः तू भी उस उत्तम मार्ग पर चल जो कि कल्याण (मोक्ष) की ओर ले जाता है और उस मार्ग पर न चल जो दुःख (बारम्बार के जन्म मरण रूप) की ओर ले जाता है । यह (परमात्मा) वही है जो सब प्राणियों में अनादि है, जिस का गुण ज्ञान है, जो अमर है अपरिवर्तनशील है, शरीर वा शारीरिक अवयवों से रहित है, वाणी वा जिह्वा से रहित है सूक्ष्म शरीर से भी रहित है स्पर्शेन्द्रिय से भी रहित है जो अति पवित्र है, वही विश्व (अर्थात् व्यापक) है, वही सर्वोत्तम प्राप्तव्य वस्तु है, वह शरीर के बीच में रहता है जैसे कि सत्र यज्ञ में विषुवत् दिन मध्यवर्ती है, वह सब के लिए प्राप्तव्य है जैसे कि अनेक मार्गों वाला नगर । जो उस का ध्यान करता है और जो सब स्थानों में और सर्वदा उस की आज्ञानुसार आचरण करता है और जो पूर्ण भक्ति के द्वारा उसे (उस परमात्मा को)

देखता है (जो कि बड़ी कठिनता से दीखता है और जो कि अति सूक्ष्म है) वह स्वर्ग सुख को प्राप्त होता है वह ब्राह्मण जो कि बुद्धिमान् है और जो कि सब प्राणियों को (सर्वव्यापक) आत्मा में देखता है और जो उस सर्वव्यापक आत्मा का ध्यान करता हुआ अशान्त नहीं होता (अर्थात् एकाग्र हो जाता है) और जो कि प्रत्येक वस्तु में उस आत्मा को देखता है (वह ब्राह्मण) स्वर्ग में प्रकाशित रहता है। जो कि स्वयम् ज्ञानस्वरूप है और जो कि कमल तन्तु से भी अधिकतर सूक्ष्म है सारे ब्रह्माण्ड में व्यापक हो रहा है और जो कि अपरिवर्तनशील है और पृथिवी से बड़ा है सारे ब्रह्माण्ड को अपने भीतर रखता है इन्द्रियों और उन के विषयों का जो सांसारिक ज्ञान है उस से वह भिन्न है, उस का ज्ञान सर्वोपरि है। उसी से जो स्वयम् विभाजन करता है सब शरीर उत्पन्न होते हैं। वही सब का आदि कारण है वह अनादि है, वह अपरिवर्त्तनशील है। परन्तु सब दोषों का क्षय इस जीवन में योग (साधन) से होता है। वह ज्ञानी पुरुष जिस ने अपने दोषों का क्षय कर दिया है (जो दोष कि प्राणियों की हानि किया करते हैं) मुक्ति को प्राप्त करता है। अब हम उन दोषों को गिनाते हैं जिन से प्राणियों का क्षय हुआ करता है। वे दोष ये हैं "क्रोध, हर्ष में फूलजाना, असन्तुष्टता, लोभ, घबड़ाहट, हानि पहुंचाना छल, (असत्य मानना बोलना वा करना), अधिक भोजन से पेट को फुला देना, निन्दा, द्रोह, तृष्णा, अन्तर्द्वेष, इन्द्रियों को दमन रखने में भूल, मन को एकाग्र करने की तत्परता में भूल, इन दोषों का निवारण योग से होता है। क्रोध और विशेष राग से रहित होना, असन्तुष्टता, लोभ, घबड़ाहट (असमाधानता) छल और हिंसा से पृथक् रहना, सत्यता, मिताहार, निन्दावरोध, अद्वेष, निष्काम उदारता प्रतिग्रह से पृथक्ता, धीरता, सरलता, अनुचित उत्तेजना का नाश, इन्द्रिय-दमन, सब जीवों के साथ निर्वैरभाव, चित्त की एकाग्रता (सर्वव्यापक आत्मा के ध्यान में) आर्य्योचित सदाचार, शान्ति और सन्तोष, ये सब हैं जो कि सर्व सम्मति से सब आश्रमों के लिए (उचित) ठहराए गए हैं। वह पुरुष जो कि धर्मशास्त्र के नियमानुसार इन सब का आचरण करता है सर्वव्यापक ब्रह्म में प्रवेश करता है।

(आपस्तम्ब, प्रश्न १, पटल ८, खण्ड २२, तथा खण्ड २३ के सब सूत्र)

वर्णाश्रम धर्म्म ।

वर्णाश्रम धर्म्म विषयक जो सब पूर्व लेख अङ्कित किए जा चुके हैं उन से परिणाम यह निकलता है कि प्राचीन काल में प्रत्येक गृहस्थ की सन्तति को ब्रह्म-

चारी वा ब्रह्मचारिणी बनना पड़ता था जो मन्दबुद्धि पढ़ नहीं सकते थे वे शूद्रों की कोटि में डाले जाते थे और जो पढ़ लिख कर भी पीछे से कुसंगति के कारण कु-संस्कृत हो जाते थे वे भी शूद्र वा उन से भी नीच ठहराए जाते थे। गृहस्थाश्रम चार भागों में विभक्त था जिन के नाम ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र थे। ब्राह्मण, जाति के अभ्युदय अर्थात् उन के मानसिक, आत्मिक, शारीरिक तथा सामाजिक उन्नतियों के उपायों को आविष्कृत कर उन्हें प्रवृत्त कराने की चेष्टा किया करते थे और क्षत्रिय उक्त आविष्कृत नियमों के अनुसार सब वर्णों की उन्नति के लिये उन की रक्षा करते थे, वैश्य स्वदेश तथा विदेशों के वाणिज्य से जाती के वैभव की वृद्धि करते थे और शूद्र विशेष मानसिक कार्य्यों के सम्पादन न कर सकने के कारण अपने शरीर से ही उक्त तीनों वर्णों की सेवा किया करते थे। इन चारों वर्णों के लोग अपनी २ योग्यता के कारण उच्च और नीच समझे तो जाते थे परन्तु अपने २ कर्तव्य पालन करने के कारण सभी कल्याण के अधिकारी माने जाते थे ब्रह्मचर्य्या-श्रम की समाप्ति पर जो गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहता था वह अपने गुणक-र्मानुसार किसी एक वर्ण के कार्य्यों के सम्पादन की प्रतिज्ञा करता था एवं वह उसी वर्ण का माना जाता था। सब वर्ण के लोग सब वर्ण के हाथ का भोजन खाते थे। समवर्ण का विवाह अच्छा समझा जाता था परन्तु उच्च वर्ण का पुरुष कभी २ अपने से नीच वर्ण की कन्या से भी विवाह कर सक्ता था इस प्रकार चारों वर्ण एक दूसरे के साथ बंधे हुए सुख से जीवन व्यतीत करते थे।

गृहस्थाश्रम को समाप्त कर लोग विशेष तपश्चरण करने के लिए वानप्रस्थ बनते थे और फिर संन्यासी परन्तु यह कोई निश्चित नियम नहीं था, जो कोई विशेष साधन सम्पन्न पुरुष परोपकार की अतितीव्र कामना रखते थे वे ब्रह्मचर्य्याश्रम से भी संन्यास ग्रहण कर लेते थे। तात्पर्य्य यह है कि जैसा कि उपनिषद् में लिखा है "सर्ववेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योम्" ब्रह्मचारी, तपस्वी (विशेष धर्मानुष्ठानी गृहस्थ, वानप्रस्थ वा संन्यासी) सभी आश्रमियों का मुख्योद्देश्य यह था कि संसार इस प्रकार चलाया जाय जिस में मनुष्य जीवन का सर्वोत्तम उद्देश्य अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति सिद्ध होती रहे। इस उद्देश्य की पूर्ति में जो जो बाधाएं उपस्थित होती थीं उन के दूर करने का सर्वोपरि यत्न संन्यासी करता था। वह एक जाति की प्रजाओं के ही परस्पर द्वेष (यदि किसी कारण उत्पन्न होगए हों) को उन्मूलन करने का यत्न

नहीं करता था प्रत्युत वह परिव्राजक नाम को सफल करने के लिए संसार की भिन्न २ मनुष्य जातियों में भी भ्रमण कर उन के बीच प्रीति संस्थापन का यत्न करता था ताकि लोग युद्धादि से पृथक् हो शान्ति पूर्वक परमात्मा की प्राप्ति के साधनों में लगे रहें । इसी मङ्गल कामना के कारण परिव्राट् संन्यासी एक जाति नहीं प्रत्युत सभी मनुष्य जातियों का पूज्य माना जाता था, लोग उसे जगद् गुरु की उपाधि से भी भूषित करते थे और बड़े २ नरेश उस परिव्राट् के सन्मुख शीश नवाते थे, शोक कि वर्णाश्रम धर्म्म के अप्रचार से आज भारत ही नहीं प्रत्युत पृथिवी के सभी देश मनुष्य जीवन के सर्वोत्तम उद्देश्य की ओर अपनी पूरी दृष्टि नहीं देते । परमात्मा कृपा करें कि उस प्राचीन वर्णाश्रम धर्म्म का पुनः प्रचार हो ताकि भारत तथा अन्यान्य देश भी पूर्ण सुखी होवें ।

षष्ठ परिच्छेद ।

राजवंश-सभ्यता-यज्ञादि ।

साधारण अवस्था—कुरु और पंचाल—विदेह, कोशल, काशी आदि—उस समय के कार्य्यकर्त्ता—उस समय की आर्थिक दशा—नगर और ग्रामों का वृत्तान्त—उस समय की सभ्यता पर एक साधारण दृष्टि—क्या प्राचीन आर्य गामांस-भक्षक थे?—नरमेध और अश्वमेध यज्ञ के वास्तविक अर्थ—ब्राह्मण ग्रन्थों के अलङ्कार और पश्चिमीय इतिहासवेत्ताओं का सम्भ्रम—उपनिषदों और ब्राह्मणों के अलङ्कार अन्य मतों की धर्म्म पुस्तकों में—प्राचीन समय में शुद्धि—

ब्राह्मण ग्रन्थों के समय भारतवर्ष उच्च सभ्यता को प्राप्त था । उस समय गुरुकुलों में ब्रह्मचारियों को स्नातक बनाने के लिए प्रारम्भिक शिक्षा से आरम्भ कर क्रमशः उत्तमोत्तम उच्चशिक्षाएं दी जाती थीं । परिषदों में भी गूढ़ गूढ़ विषयों की शिक्षाएं होती थीं । पक्षपात रहित धर्म्मात्मा और पूर्ण विद्वान् ब्राह्मण होते थे । राजा शौर्य्य धैर्य्य गुण युक्त तथा पूर्ण विद्वान् और दानी होते थे । उन की सेनाएं युद्ध-विद्या विशारद और वीर भावों से आवेशित होती थीं । वैश्य स्वदेश और परदेश में व्यापार करते थे और जो पुष्कल धन उन्हें प्राप्त होता था उसे वे उपयोगी कार्य्यों में व्यय करते थे । बुद्धिरहित पुरुष जो शूद्र कहलाते थे वे भी द्विजों की सेवा भक्ति से करते थे । सारांश यह है कि प्रजा सदाचारिणी और परिश्रमी थी । आलस्य की उस समय बड़ी निन्दा और उद्योग की बड़ी प्रशंसा थी । ऐतरेय ब्राह्मण ७, ३, ३ की शिक्षा "नाना श्रान्ताय श्रीरस्ति" अर्थात् विविध प्रकार के उद्यमी पुरुषों के लिए ही श्री (अर्थात् सब प्रकार के कल्याण और ऐश्वर्य) हैं भली भांति प्रचरित थी । विद्यार्थ्यसभाएं विद्वानों से भूषित थीं जहां अन्यान्य स्थानों के विद्वान् अपनी शङ्काएं निवारण करने अथवा शास्त्रार्थ करने के लिए आया करते थे । लोग ग्रामों तथा नगरों में भी निवास करते थे । प्रत्येक गृहपति प्रतिदिन पञ्चमहायज्ञों की पालना के लिए पूरी चेष्टा करते थे । किसी भी द्विज का गृह ऐसा न था जहां गार्हपत्याग्नि स्थापित न हो और जिस में प्रति दिन होम न होता हो । इस प्रकार प्रत्येक गृहस्थ अपने धार्म्मिक तथा सामाजिक नियमों की पालना करता हुआ उत्तरोत्तर अपने परिजनों पुरजनों और देश की उन्नति किया करता था ।

आर्य्यों के राज्य उन दिनों कई प्रकार के थे जिन में से सार्वभौम राज्य सर्वोपरि था उस के विषय में ऐतरेय ब्राह्मण की अष्टम पञ्जिका के चतुर्थ अध्याय के प्रथम खण्ड में लिखा हैः—

"साम्राज्यं····समन्त पर्यायी स्यात् सार्वभौम····आन्तादापरार्द्धात् पृथिव्यै समुद्र पर्यन्ता या एकराडिति" अर्थात् जो राज्य सब जगह फैला हुआ हो उस सार्वभौम कहते हैं अर्थात् पृथिवी से लेकर समुद्रपर्यन्त जो एक मात्र राज्य हो (उसे सार्वभौम कहते हैं)।

ऐतरेय ब्राह्मण की सप्तम पञ्जिका के पञ्चमाध्याय के अष्टम खण्ड में लिखा है कि भिन्न २ समयों में निम्नाङ्कित राजे सार्वभौम हुए हैं :—

कावषेयः तुरः, साहदेव्यः सोमकः, साञ्जयः सहदेवः, दैवावृधो बभ्रुः, वैदर्भो भीमः, गान्धारो नग्नजित्, जानकिः क्रतुवित्, पैजवनः सुदासः। इन राजाओं की नामावली देकर वहां यह भी लिखा है "सर्वे हैव महाराजा आसुरादित्य इव ह स्म श्रियां प्रतिष्ठितास्तपन्ति सर्वाभ्यो दिग्भ्यो बलिमावहन्त" अर्थात् ये सब के सब महाराज बलवान् सूर्य्य की तरह प्रतापवान् थे सब प्रकार की श्री से पूरित रहते हुए सब को तपाते थे (अर्थात् जिस प्रकार सूर्य्य अपने प्रकाश और उष्णता से सब का सुखी रखता है उसी प्रकार उक्त राजागण अपने ज्ञान और दण्ड से सब को सुखी रखते थे) और (जिस प्रकार सूर्य्य अपने किरणों के बल से सब दिशाओं से जलों के बाष्पों को खींचता रहता है उसी प्रकार उक्त राज गण) अपने प्रताप से सब दिशाओं से बलि अर्थात् करों को ग्रहण करते थे।

उक्त प्रमाण से यह भी बोध होता है कि आर्य्यों के सार्वभौम राज्य का केन्द्र सदा एक ही स्थान नहीं रहता था प्रत्युत वह बदलता रहता था।

ऐतरेय ब्राह्मण का अष्टम पञ्जिका के तृतीयाध्याय के तृतीय खण्ड में अनेक आर्य्य राज्यों का वर्णन आता है परन्तु वे राज्य कहां २ विस्तृत थे उन का ठीक ठीक पता अभी तक नहीं लग सका है। परन्तु यह तो ठीक है कि जो आर्य्य-साम्राज्य विस्तृत था उस का उत्तरीय भाग उत्तर कुरु और उत्तर मद्र कहलाता था। यथा—"उदीच्यां दिशि ये के च परेण हिमवन्तं जनपदा उत्तरकुरव उत्तरमद्रा इति" अर्थात् उत्तर दिशा में हिमालय से परे उत्तरकुरु और उत्तरमद्र नाम राज्य थे। तथा उस साम्राज्य के मध्यवर्ती देश कुरु और पञ्चाल कहलाते थे यथा—"मध्यं

मायां प्रतिष्ठायां दिशि ये के च कुरु पञ्चालानां राजानः सवशोशीनराणां" अर्थात् उस आर्य्य साम्राज्य के मध्यवर्ती देश कुरु और पञ्चाल थे और इन्हीं के साथ "वश" और "उशीनर" देश भी थे। "प्राच्यां दिशि ये के च प्राच्यानां राजानः" अर्थात् उस आर्य्य साम्राज्य का पूर्व भाग प्राच्य कहलाता था "दक्षिणस्यां दिशि ये के च सत्वतां राजानोभौज्यायैव" दाक्षिण दिशा में भौज्य नामक राज्य था। "प्रतीच्यां दिशि ये के च नीच्यानां राजानो येऽपाच्यानां" पश्चिम दिशा में नीच्यों तथा अपाच्यों का राज्य था।

इस प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण से पता लगता है कि उस समय का आर्य्य जगत् दूर दूर तक विस्तृत था। शतपथ ब्राह्मण के देखने से बोध होता है कि कुरु और पञ्चाल नामक राज्य बड़े ही प्रताप शाली और सभ्य थे। इन के अतिरिक्त कोसल जो अवध में रहते थे तथा विदेह जो उत्तरीय विहार में रहते थे तथा काशीराज्य में जो आर्य्य थे वे भी बड़े सभ्य और प्रतापवान् थे। शतपथ ब्राह्मण काण्ड १, अध्याय ४, ब्राह्मण १ के वचन १४, १५, १६, १७, के देखने से ज्ञात होता है कि "सदानीर" नाम नदी "कोसल विदेहाना मर्यादा" अर्थात् कोसल राज्य और विदेह राज्य के बीच में थी इस सदानीर (कदाचित् गंडक) नदी के पूर्व ओर विदेहों का और पश्चिम ओर कोसलों का राज्य था। विदेहों ने सदानीर के पूर्व भाग को जो दल दल और जङ्गलों से पूरित था सुखा और जलाकर बसने योग्य बनाया था। विदेहों का राजा जनक बड़ा ज्ञानी था। उस की प्रशंसा सुन दूर दूर के विद्वान् उस की सभा में आया करते थे। बृहदारण्यकोपनिषद् में लिखा है कि एक समय दृप्तबालाकि नाम स्नातक ने जब काशी के राजा अजातशत्रु से कहा कि "ब्रह्मते ब्रवाणीति" अर्थात् तुम्हारे लिए ब्रह्म का उपदेश करूंगा तब अजातशत्रु ने उक्त अनूचान से कहा कि "जनको जनक इति वै जना धावन्तीति" इस ब्रह्मविद्या के लिए तो आज कल लोग जनक की ही ओर दौड़े चले जाते हैं। इसी महाराज जनक की सभा में याज्ञवल्क्य नाम महर्षि थे जिन से जनक का सत्संग हुआ करता था। जनक से भिन्न २ ऋषियों तथा ऋषि कुमारों के जो प्रश्नोत्तर हुए हैं वे उपनिषदों तथा अन्यान्य ग्रन्थों में लिखे हुए हैं जिन के अवलोकन से पता लगता है कि जनक ब्रह्मविद्यादि विषयों के एक गम्भीर ज्ञाता थे। इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक ५, खण्ड ३, में पञ्चालों के राजा जैबलि प्रवाहण का वृत्तान्त आता है। वहा लिखा है "श्वेतकेतुर्हारुणेयः पञ्चालानां समिति मेयाय। तं ह प्रवाहणो जैबलिरुवाच कुमारा-

नुत्वाशिषत् पितेत्यनु हि भगव इति" आरुणे श्वेतकेतु पञ्चालों की समिति में आए तब उन से पञ्चालों के राजा जैबलि प्रवाहण ने पूछा कि कुमार! क्या तुम्हें पिता ने शिक्षित बना दिया है? कुमार ने उत्तर दिया "हां"। तब राजा ने कुमार से पांच प्रश्न किए परन्तु उन में से किसी का भी उत्तर श्वेतकेतु न दे सका और तब वह अपने पिता गौतम के पास पहुंचा और उन पांचों प्रश्नों का उत्तर पूछा गौतम भी उन प्रश्नों के उत्तर नहीं जानते थे अतः "सह गोतमो राज्ञोऽर्द्धमयाय" वह प्रसिद्ध गौतम ऋषि राजा के स्थान पर पहुंचे और उन पांचों प्रश्नों का उत्तर पूछा। राजा ने ऋषि गौतम को उन प्रश्नों का उत्तर बतलाया। इस से ज्ञात होता है कि उन दिनों के राजा बड़े विद्वान् और ज्ञानी होते थे जिन से बड़े २ ऋषि भी शिक्षा ग्रहण करने के लिए जाया करते थे परन्तु इतने बड़े २ ब्रह्मवेत्ता होते हुए भी राजा लोग अपने शासन सम्बन्धी कार्य्यों में ढील नहीं डालते थे। यही कारण था कि महाराज कैकेय अश्वपति के समीप उद्दालकादि ऋषि जब ब्रह्मविद्या की जिज्ञासा करने आए तो महाराज अश्वपति ने उक्त ऋषियों का आतिथ्य सत्कार करते हुए निवेदन किया कि हे ऋषिगण! आप मेरे राज्य में ठहरने में संकोच न करें क्योंकि "न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान्नस्वैरी स्वैरिणी कुतः" (छान्दोग्योपनिषत् प्रपाठक ५, खण्ड ११,) मेरे राज्य में न तो कोई चोर है, न कोई कृपण, न कोई मद्यप, न कोई "अग्निहोत्र न करने वाला" न मूर्ख और न व्यभिचारी (और जब कि व्यभिचारी पुरुष ही नहीं है तो) व्यभिचारिणी स्त्री तो कहां हो सक्ती है? अर्थात् मेरा राज्य पवित्र है आप लोगों के निवास के योग्य है।

ऊपर हम उत्तर कुरु, उत्तर मद्र, कुरु, पञ्चाल, वश उशीनर कोसल, विदेह, काश्य, प्राच्य, अपाच्य, नीच्य, दक्षिण (भौज्य) नाम राज्यों के नाम गिना आए हैं। गोपथ ब्राह्मण पूर्व भाग द्वितीय प्रपाठक के ९ ब्राह्मण में कतिपय उक्त नामों के साथ २ कुछ अन्यान्य देशों के भी नाम आते हैं, यथा "कुरु पञ्चालेष्वङ्ग मगधेषु काशी कौशल्येषु शाल्व मत्स्येषु शवस उशीन रेषूदीच्येषु" कुरु, पञ्चाल, अङ्ग, मगध, काशी, कोशल, शाल्व, मत्स्य, शवस, उशीनर, उदीची।

इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक देशों अनेक राजाओं और आर्य्यों की भिन्न२ शाखाओं का वर्णन आता है जिन के विषय में अधिक विचार और छानबीन के प-

श्यात् लिखने की आवश्यकता है तथा इस ग्रन्थ का आकार बृहद् न हो जाय इस भय से भी इस विषय को यहाँ छोड़ते हैं ।

ब्राह्मणग्रन्थों के समय के कार्य्यकर्त्ता—अनेक प्रकार के थेः—(१) समुद्री पोतों के चलाने वाले मल्लाह, यथा "यथा समुद्रं प्रप्लवरन्नेवं हैवते प्रप्लवते ये संवत्सरं वा द्वादशाह वासते तद्यथा सैरावतीं नावं पारकामाः समारोहेयुरेव मेवैतास्त्रिष्टुभः समारोहन्ति" (एतरेय ६, ४, ९,) अर्थात् जिस प्रकार समुद्र पार होने की इच्छा रखने वाले सैरावर्ता नामक नाव पर चढ़ते हैं उसी प्रकार सम्वत्सर सत्र (यज्ञ) तथा द्वादशाह (यज्ञ) के अनुष्ठान करने वालों को त्रिष्टुभ पर चढ़ना होता है । (२) शिल्पकार, यथा " हस्ती कंसो हिरण्यमश्वतरी रथः शिल्पमिति " हस्ती, कंस, हिरण्य, अश्वतरी (जलयान) तथा रथ शिल्प हैं । "एतच्छिल्पम्" (शतपथ) यह शिल्प है आदि । इसी प्रकार (३) सचिव (४) सेनापति (५) वणिक् (६) अस्त्र शस्त्र चलाने वाले योद्धा, कवचधारी योद्धा (७) रथ चलाने वाले (८) बढ़ई (९) कुम्भकार (१०) सड़कों के संरक्षक (११) प्रभावशाली व्याख्याता (१२) सभा में जाने वाले (१३) रत्नकार (१४) वैद्य (१५) ज्योतिषी (१६) द्वारपाल (१७) चित्रकार (१८) रञ्जक (१९) नापित (२०) चर्म्मकार (२१) व्याध (२२) स्वर्णकार (२३) कवि आदि आदि अनेक प्रकार के कार्य्यकर्त्ता होते थे जिन का उल्लेख भिन्न २ स्थलों में आता है ।

मालूम होता है कि व्याध चाण्डालों में से होते थे । यह हम पहले ही लिख आए हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों के समय आज कल की भांति जातपांत न थी जो जिस काम को पसन्द करता और कर सक्त था उसे ही वह करता था और उस का वर्ण उस के कर्म्मों के अनुसार ही माना जाता था कोई किसी को उस के कार्य्य (पेशा) के कारण घृणा की दृष्टि से नहीं देखता था इस प्रकार सब कार्य्यों की यथेष्ट उन्नति थी । छान्दोग्योपनिषद् में स्वर्ण, रजत, रत्न, रथों, घोड़ों और गायों का वर्णन आता है । ब्राह्मणों को जब द्रव्य दान किया जाता था तो प्रायः वह स्वर्ण होता था । स्वर्ण और रजत के अतिरिक्त और भी अनेक धातुओं का लोगों को ज्ञान था । छान्दोग्योपनिषद् में लवण, सिक्का और लोहों का वर्णन आता है । अन्न भी उन दिनों कई प्रकार के उपजते थे । बृहदारण्यकोपनिषद् में चावल, यव, तिल, माष ज्वार, गोधूम आदि के नाम आते हैं । उस समय के ग्रन्थों में कहीं

ऐसा नहीं लिखा कि कहीं के लोग अन्न के अभाव से अर्थात् भूखों मरते थे। इन सब से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उस समय देश की आर्थिक दशा अत्युत्तम थी।

ऐतरेय ब्राह्मण में ब्राह्मणों के लिए स्वर्ण के आभूषणों से भूषित लक्षों हस्तियों के दान का विषय आता है। एवं छान्दोग्योपनिषत् में ऐसी सहस्र गायों के दान का विषय आता है जिन के शृंगों में बहुत सा सोना जड़ा हुआ था।

नगर और ग्राम—उस समय के साहित्य में ग्राम और नगर दोनों का वर्णन आता है। यथा "प्राच्यो ग्रामता बहुला विष्टा" (ऐतरेय ३, ४, ६) पूर्व दिशा के ग्राम बहुत से मनुष्यों से भरे हुए हैं। "असुरा....पुरोऽकुर्वत" (ऐतरेय १ ४, ६) इस का अर्थ सायणाचार्य्य यह करते हैं "असुराः प्रकार वेष्टितानि नगराणि कृतवन्तः" अर्थात् असुरों ने परकोट से घिरे हुए नगरों को बनाया वा बसाया। "ते देवा अब्रुवन्नुपसद उपाया मोपसदा वै **महापुरं** जयन्तीतितथेति" (ऐतरेय १, ४, ६) इस का अर्थ सायणाचार्य्य करते हैं "विजयार्थिन स्ते देवाः परस्परमिदम् अब्रुवन् उपसदाख्यान् होमान् उपायाम अनुतिष्ठाम,लोकेषु उपसदा वै परकीयदुर्गसमीपावस्थानेन........सर्वे राजानो महतीं दुर्गरूपां पुरं जयन्ति" अर्थात वि-जयार्थी देवों ने परस्पर में बातें की कि उपसद रूप होम का हम लोग अनुष्ठान करें अर्थात् जिस प्रकार लोक में उपसद के द्वारा ही अर्थात् दूसरे (शत्रु) के दुर्ग के समीप अवस्थित होने से ही बड़े-२ दुर्गरूप नगरों को राजा लोग जय करते हैं उसी प्रकार हम लोग भी असुरों के महापुर का जय करने की चेष्टा करें।

शतपथ ब्राह्मण (१४—४—९) में लिखा है कि "याज्ञवल्क्यो रथमास्था यानु प्रधावयांचकार") अर्थात् याज्ञवल्क्य ऋषि रथ पर चढ़ कर (राजा जनक के पीछे २) शीघ्रता से दौड़े अर्थात् अपने रथ को दौड़ाया। जिस प्रकरण का यह लेख है वहां किसी दूर यात्रा का वर्णन नहीं प्रत्युत साधारण रीति से जनक के अपने गृह से बाहर जाने का वृत्तान्त है। इस से सिद्ध होता है कि जनक का नगर ऐसा था जिस में सड़कें थीं और उन पर गाड़ियां दौड़ सक्ती थीं। बड़े २ राजसूय-यज्ञ जहां होते थे वहां भी नगर सा बस जाता था और चौड़े २ पथ भी वहां बन जाते थे क्योंकि राजसूय-यज्ञ में शकटों के गमनागमन की विशेष आवश्यकता रहती थी। क्या कोई मनुष्य मान सक्ता है कि जिस देश में सुन्दर वक्ता, सभाओं में जाने वाले, रत्नकार, हाथी चलाने वाले, द्वारपाल, रञ्जक, वैद्य, स्वर्णकार, बड़े बड़े शिल्पकार राजदर्बारों में जाने वाले कवि थे वहां बड़े नगर न थे? संक्षेप

यह है कि जिस आर्थिक दशा का चित्र हम ने खींचा है वह उस देश का नहीं हो सक्ता जिस में बड़े बड़े नगर न हों। आर्य्य लोग भूमि खण्डों में ही नहीं प्रत्युत सैरावती अश्वतरी आदि पोतों के द्वारा महासागर में भी भ्रमण किया करते थे। और जो लोग इस प्रकार अव्याहत गति से जलस्थल में घूम सक्ते हों और जिन के वाणिक् बड़े ही बुद्धिमान् और व्यवसायी हों उन के धन धान्य और पराक्रम का क्या ठिकाना है। इस में कोई भी सन्देह नहीं कि ब्राह्मण ग्रन्थों के समय के आर्य्य बड़े ही सभ्य थे। वे चार वर्णों और चार आश्रमों में विभक्त रहने के कारण अपने प्रत्येक प्रकार की उन्नतियों को नियम पूर्वक करते जाते थे। अभियोगों के निर्णय के लिये उन के नियमबद्ध न्यायालय तथा न्यायकर्तृ सभाएं थीं। प्रबन्ध विभाग तथा न्याय विभाग के पुरुषों को वे पृथक् २ रखते थे उन की शिक्षा की रीति सर्वोत्तम थी, दरिद्री से दरिद्री की भी सन्तान यदि पढ़ने योग्य बुद्धि रखता था तो उसे यथेष्ट विद्या की प्राप्ति हो जाती थी क्योंकि आचार्य्य लोग विद्या का बेचना पाप समझते थे और ब्रह्मचारियों को भोजन देना गृहस्थ मात्र अपने धर्म्म का एक प्रधान अङ्ग समझते थे। गुरुकुलों और परिषदों में सब प्रकार की विद्याएं पढ़ाई जाती थीं साधारण राजाओं की कौन कहे जो चक्रवर्ती राजा भी होते थे उन्हें भी राज-नियमानुसार ही शासन करना पड़ता था। उन की शासनकर्तृ-शक्ति भी प्रतिबन्धित मानी जाती थी वह सभाएं किया करते थे जिन में से किन्हीं २ में राजनैतिक और किन्हीं २ में आध्यात्मिक वैज्ञानिक विचार हुआ करते थे। सुप्रबन्ध के कारण देश में ऐश्वर्य्य बहुत बढ़ गया था राजाओं और वैश्यों के पास रत्न, स्वर्ग, रजत, हाथी, घोड़े और रथ बहुत होते थे परन्तु इस पर भी उन के आचरण भ्रष्ट नहीं होते थे क्योंकि समाज के पूज्य ब्राह्मण और संन्यासी सर्वथा लोभ रहित होते थे, लोभ करने से ब्राह्मण अपने पद से गिरा दिया जाता था और उसे दान भी कोई नहीं देता था। धन सञ्चय को ब्राह्मण पाप समझते थे अपनी मानसिक और आत्मिक शक्तियों की वृद्धि तथा समाज को पाप रहित रखना ही वे अपना मुख्योद्देश्य समझते थे। और संन्यासी जो महान् तपस्वी और महाज्ञानी होते थे वे भिक्षा मात्र से ही अपना निर्वाह करते थे। वे सत्यमानी, सत्यवादी, सत्यकारी तथा परोपकारी होते थे इसी कारण बड़े २ सम्राट भी उन के चरणों में शीश नवाते थे और प्रजा मात्र उन पर श्रद्धा रखती थी। ये संन्यासी ही सर्वोपरि थे और इन्हीं के दयामय तथा सर्वथा निष्पक्ष बर्ताव से वर्णाश्रम धर्म्म ठीक २ चलता था। बड़े २ वणिक् और राजा

तथा राजपुरुष नगरों में रहते थे और कृषकों का निवास प्रायः ग्रामों में था। हमारी सम्मति में संसार के किसी और देश के ज्ञात इतिहास में कभी ऐसा कोई समय नहीं आया जब कि आर्थिक उन्नति, सामाजिक न्याय आत्मिक पवित्रता, एवं परा और अपराविद्या उन्नति के साथ इस प्रकार सम्बन्धित हो। यह अवस्था जिसे अन्यान्य देशों के दार्शनिक और राजनीति विशारद पुरुष कदाचित् अपनी कल्पना शक्ति के बल से केवल स्वप्नों में ही देख कर प्रसन्न होते हों, प्राचीन भारत में वस्तुतः उपस्थित थी। भारतवर्ष का कोई इतिहास नियमबद्ध अब प्राप्त न होने की अवस्था में भी, साहित्य में बिखरे हुए ऐतिहासिक खण्डों को जोड़ कर यदि ऐसी आदर्श अवस्था का चित्र बन सक्ता है तो प्राचीन इतिहासज्ञों को अपने पुस्तकों के लिए कितनी सामग्री मिल जाती होगी और अपनी जाति के पुत्रों का जातीयाभिमान उत्तेजित करने और अन्य जातियों के लिए शिक्षा उपस्थित करने का कैसा पुण्यमय और मनोरञ्जक अवसर उन्हें प्राप्त होता होगा !

क्या प्राचीन आर्य्य गोमांस भक्षक थे?—यूरोपीय इतिहासवेत्ताओं तथा उन के अनुयायी राजा राजेन्द्रलाल मित्र और महाशय रमेशचन्द्र दत्त सरीखे भारतीय विद्वानों का मत है कि प्राचीन आर्य्य गोमांस भक्षक थे, परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों और सूत्र-ग्रन्थों में गोरक्षा को इतना बड़ा पुण्य बतलाया गया है और गोमांस भक्षण का निषेध इतनी वार किया गया है कि यही समझना पड़ता है कि ब्राह्मण ग्रन्थों वा सूत्र-ग्रन्थों में जहां कहीं गो और मांस विषयक वाक्य आते हैं या तो यूरोपीय विद्वान् उन के अर्थ ही नहीं जान सके अथवा वे प्रक्षिप्त हैं। हम आगे चल कर बतलावेंगे कि इस विषय की कई बातों के समझने में यूरोपीय विद्वानों ने भूल की है क्योंकि उन के मन में जो संस्कार बैठे हुए थे उन के वे वशीभूत हो गये थे। प्रथम हम गोमांस भक्षण के विरुद्ध तथा गोरक्षा के पक्ष में जो प्रमाण मिलते हैं उन में से कतिपय संक्षेपतः यहां लिखते हैं और तदनन्तर यूरोपीय विद्वान् जो अपने सिद्धान्त की पुष्टि में प्रमाण उपस्थित करते हैं उन की परीक्षा करना चाहते हैं। शतपथ ब्राह्मण के तीसरे काण्ड के इक्कीसवें वाक् के प्रथमाध्याय के द्वितीय ब्राह्मण में लिखा है "स धेन्वै चानडुहश्च नाश्नीयाद्धेन्वनडुहौ वाऽइदꣳसर्वं बिभृतस्ते देवा अब्रुवन् धेन्वनडुहौ वाऽइदꣳ सर्वं बिभृतो........तद्धैतत्सर्वाश्यमिव यो धेन्वनडुहयोरश्नीय दन्तगतिरिव तꣳ हाद्भुतमभिजानितोर्जायायै गर्भं निरबधीदिति पापमक्रदिति पापी कीर्तिस्तस्माद्धेन्वनडुहयोर्नाश्नीयात्" अर्थात् गाय वा बैल (का मांस) न खावे क्योंकि गाय

और बैल निस्सन्देह यहां सब पदार्थों का पोषण करते हैं। देवताओं ने कहा गाय और बैल ही सब का पोषण करते हैं। अतः जो कोई गाय वा बैल को खावेगा वह सर्वभक्षी माना जायगा वा सर्वनाशक माना जायगा, ऐसा पुरुष अद्भुत योनि में जन्म धारण करेगा, भ्रूणहत्या का पाप उसे लगेगा, उस की निन्दा होगी अतः गाय और बैल (का मांस) नहीं खाना चाहिए। शतपथ ब्राह्मण में बैल और गाय को यज्ञ और सावित्री के तुल्य बतलाया है। यज्ञ का अर्थ जो हम पहले बतला आए हैं तदनुसार यह अर्थ होगा कि बैल अन्न उत्पन्न कर तथा गाय दूध देकर यज्ञवत् परोपकार कर रहे हैं और गाय का दूध सावित्री की तरह बुद्धि को बढ़ाने वाला है। शतपथ ब्राह्मण के तीसरे काण्ड के तृतीयाध्याय के तीसरे ब्राह्मण के प्रथम तथा द्वितीय वाक् में लिखा है "महांस्त्वेव गोर्माहिमेत्यध्वर्युः। गावैं प्रतिधुक्। तस्ये शृतं तस्ये शरस्तस्यै दधि तस्यै मस्तु तस्याऽआतञ्चनं तस्यै नवनीतं तस्यै घृतं तस्याऽआमिक्षा तस्यै वाजिनꣳ" अर्थात् अध्वर्यु कहता है कि गाय की महिमा तो महान् है (क्योंकि) गाय से ही धार का दूध, गाय से ही औटा हुआ दूध, उसी से मलाई, उसी से दही, उसी से दही का मक्खन, उसी से आतञ्चन, उसी से दूध का मक्खन, उसी से घृत, उसी से आमिक्षा और उसी से वाजिन उत्पन्न होता है। बौद्धायन सूत्र (२, ३, ६, ३०) में लिखा है कि ब्राह्मण, **गाय**, राजा, अन्धपुरुष, वृद्धपुरुष जिस के शीश पर बोझ भारी हो, गर्भवती स्त्री तथा निर्बल पुरुष के लिए मार्ग छोड़ देना चाहिए। बौद्धायन सूत्र (२, २, ४, १८) में लिखा है कि ब्राह्मण और वैश्य भी (जिन के लिए सामान्यतः शस्त्र धारण करना वर्जित है) गो ब्राह्मण की रक्षा के लिए शस्त्र धारण कर सक्ते हैं। बौद्धायन सूत्र १, १०, १९, ३) में गोघातक के लिए प्रायश्चित्त का विधान है। वासिष्ठ सूत्र अध्याय२१,सूत्र१८ में लिखा है "यदि कोई गो बध करे तो उसे चाहिए कि (इस पाप के लिए) छः महीने तक कृच्छ्र वा तप्तकृच्छ्र व्रत करे और छः महीने तक उस बध की हुई गाय का कच्चा चमड़ा ओढ़े और पहने। वासिष्ठ सूत्र अध्याय ६, सूत्र २० में ब्राह्मण के अन्यान्य गुणों के साथ लिखा है कि 'उस ब्राह्मण को दान दो जो गो रक्षा करता हो"। गौतमसूत्र, अध्याय २२, सूत्र १८ में लिखा है "गो बध करने का प्रायश्चित्त उतना ही है जितना कि एक वैश्य के बध करने का"। गौतम सूत्र अध्याय १९, सूत्र १४ में गोशाला को तीर्थ स्थान बतलाया है। गौतमसूत्र, अध्याय १०, सूत्र १८ में लिखा है कि युद्धक्षेत्र

में उस सैनिक को मत मारो जो अपने को कहे कि "हम गाय हैं वा हम ब्राह्मण हैं" ॥

कैसे सम्भव हो सक्ता है कि जिन लोगों ने गोरक्षा की इतनी महिमा बतलाई हो वह कभी भी गो मारने की शिक्षा दे सकें। एक उन्मत्त पुरुष के अतिरिक्त अन्य कोई भी अपनी बातों का आप खण्डन नहीं कर सक्ता। अत: समझना चाहिए कि जिन २ वाक्यों को यूरोपीय विद्वान् गो घात के विषय में प्रस्तुत करते हैं उन वाक्यों के या तो वे अर्थ नहीं जान सके अथवा वे वाक्य प्रक्षिप्त हैं। वेदों के शब्द तो "नैगमरूढ़िभवं हि सुसाधु" इस प्रमाणानुसार सर्वथा हीं अरूढ़ि हैं परन्तु वेदों के व्याख्यान रूप जो ब्राह्मणादि ग्रन्थ हैं उन में भी अरूढ़ि का कम प्रयोग नहीं है। यूरोपीय विद्वानों ने इस नियम को न जान कर अर्थ का अनर्थ कर दिया है।

गो के अर्थ वाणी, पृथिवी तथा गाय आदि अनेक हैं परन्तु यूरोपीय विद्वान् इस गो शब्द का अर्थ गाय के अतिरिक्त अन्य कुछ लेते ही नहीं। इसी प्रकार "अश्व" शब्द के विद्युतादि अनेक अर्थ हैं परन्तु यूरोपीय विद्वान् अश्व का अर्थ "घोड़ा" के अतिरिक्त और कुछ करते ही नहीं। यज्ञ के अर्थ का जो उन्हों ने अनर्थ किया है वह हम पहले वर्णन कर चुके हैं। सच तो यह है कि जब उन्हों ने यज्ञ में पशुहिंसा आवश्यक समझ लिया तो जिस यज्ञ के विधान में अश्व शब्द आया वहां उस का अर्थ घोड़े का वध और जिस यज्ञ के विधान में गो शब्द आया वहां उन्होंने गोवध अर्थ कर दिया।

शतपथ ब्राह्मण काण्ड १, अध्याय २, ब्राह्मण ३, वाक् ६ तथा ७ में लिखा है:—

"पुरुषꣳ ह वै देवा: अग्रे पशुमालेभिरे तस्या लब्धस्य मेधोऽपचक्राम सोऽश्वं प्रविवेश तेऽश्वमालभन्त तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम स गां प्रविवेश ते गामालभन्त तस्या लब्धस्य मेधोऽपचक्राम सोऽविं प्रविवेश तेऽविमालभन्त तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम सोऽजं प्रविवेश तेऽजमालभन्त तस्या लब्धस्य मेधोऽपचक्राम स इमां पृथिवीं प्रविवेश तं खनन्त इवान्वीषुस्तमन्वविन्दंस्ताविमौ व्रीहियवौ"।

महाशय "रागाज़िन" नाम ऐतिहासिक उक्त ब्राह्मण वाक्य का अर्थ अपनी पुस्तक वैदिक इंडिया (Vedic India) तृतीय संस्करण के पृष्ठ ४०९ में इस प्रकार लिखते हैं:—

The gods at first took man as victim (literally 'sacrificial animal'). Then the sacrificial virtue (medha) left him and went into the horse. They took the horse, but the medha went out of him also and into the steer. Soon it went from the steer into the sheep, from the sheep into the goat, from the goat into the earth. Then they dug the earth up, seeking for the medha and found it in rice and barley" &c.

अर्थात् देवताओं ने पहले मनुष्य को ही बध योग्य (यज्ञ में बध योग्य पशु) ठहराया, तब याज्ञिक गुण (मेधा) उस में से निकल गई और घोड़े में घुस गई उन्होंने घोड़े को पकड़ा परन्तु मेधा उस में से भी निकल गई और प्रौढ़ बछड़े में गई, तुरत ही यह प्रौढ़ बछड़े में से निकल कर भेड़ी में गई, भेड़ी में से बकरे में बकरे में से पृथिवी में। तब उन्होंने मेधा को खोजते हुए पृथिवी को खोद डाला और इसे धान (चावल) और यव में पाया।

क्या कोई सामान्य बुद्धि का मनुष्य भी मानेगा कि यज्ञ में मनुष्य बध और अश्वादि बध तथा पृथिवी के खोदने के बीच कुछ सम्बन्ध है? प्राचीन समय के ऋषियों को यदि कोई असभ्य भी मानले तो भी उसे यह मानना पड़ेगा कि वे अपनी असभ्य रीति से भी कुछ न कुछ अवश्य तर्क करते होंगे। असभ्य लोग भी उन्मत्त वा अर्द्धमत्त पुरुषों की नाई बातें नहीं करते, हां उन की युक्ति की शैली विचित्र होती है। उक्त ब्राह्मण वाक् का अर्थ महाशय रागोज़िन उक्त प्रकार कभी नहीं करते यदि वे आंख मूंद कर प्रोफ़ेसर मेक्समूलर के अनुयायी न बन गए होते और उक्त वाक् में आए हुए "आलेभिरे" शब्द का अर्थ मैक्समूलर की भांति वह भी "Took man as victim (literally sacrificial animal)" "अर्थात् मनुष्य को ही बध योग्य (यज्ञ में बध योग्य पशु) ठहराया" ऐसा न करते।

शतपथ ब्राह्मण के उक्त वाक में जो "आलेभिरे" शब्द आया है उस का अर्थ है "स्पर्श किया"। "आलेभिरे" 'आ' तथा 'लभ' के योग से बना है। 'आ' का अर्थ है भली भांति और 'लभ' का अर्थ है प्राप्ति (डुलभष् प्राप्तौ)। आलेभिरे, आलभ्य, आलब्ध, आलम्भ, आलम्भ्य भी एक ही "आलभ" के किञ्चित किञ्चित बदले हुए रूप हैं एवं सब के अर्थ स्पर्श सम्बन्धी ही हैं। धातुओं के रूप जितने प्रकार के होते हैं उतने प्रकार के रूप "आलभ" के भी हो सक्ते हैं। 'आलभ' सम्बन्धी शब्दों का अर्थ केवल हम ही "स्पर्श" करते हो ऐसा नहीं है। मनुस्मृति

भी "आलभ" सम्बन्धी "आलम्भ" शब्द का अर्थ "स्पर्श" करती है यथा "द्यूतं च जनवादं च, परिवादं तथानृतम्, स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च" (मनु, अ० २। १७९) यह श्लोक ब्रह्मचारी के कर्तव्य प्रकरण में आया है। इस श्लोक के पूर्व एक और श्लोक में जो "वर्जयेत्" क्रिया आई है उस की अनुवृत्ति इस श्लोक में भी आई है अतः इस श्लोक का अर्थ हुआ कि ब्रह्मचारी द्यूत, जिस किसी की कथा, दूसरे की निन्दा, झूठ, स्त्रियों को ध्यान देकर देखना वा उन्हें (आलम्भम्) स्पर्श करना, तथा दूसरे की हानि रूप कुकर्मों को छोड़ देवे। यदि कोई हठात् कहे कि नहीं हम आलम्भ का अर्थ "बध" ही लेंगे तो उस से पूछना चाहिए कि ब्रह्मचर्य्य कृत्य पालन तथा स्त्रीबध से क्या सम्बन्ध है? मीमांसा दर्शन अध्याय २, पाद ३ के १७ वें सूत्र पर जो सुबोधिनी टीका है उस में आलम्भ का अर्थ संस्पर्श किया है यथा "एतेन वत्सस्य धेनुसमीपस्थितौ दुग्धप्रस्रवः प्रसिद्धो लोके तदर्थं वत्सस्य समीपे आनयनार्थ **मालम्भःस्पर्शो**ऽभवति"। आलभ वा आलम्भ शब्द की रचना ही जब कि यह बतलाती है कि यह "आ" (भली भांति) और "लभ" (प्राप्ति) इन दोनों के योग से बना है तो कोई भी शब्द विद्या का ज्ञाता पुरुष स्वीकार नहीं कर सक्ता कि इस का अर्थ हिंसा भी हो सक्ता है। अतः जो लोग आलभ* सम्बन्धी शब्दों के अर्थ हिंसा करते हैं वे केवल अपना हठ प्रकाशित करते हैं और कुछ नहीं।

शतपथ ब्राह्मण के उक्त वाक् का शब्दार्थ निम्नलिखित प्रकार है:—

पूर्व काल में देवों ने पुरुष (मनुष्य) रूप पशु को संस्पर्शित किया, उस संस्पर्शित पुरुष की मेधा (बुद्धि) चली और घोड़े में प्रविष्ट हुई तब उन्हों ने

---

* आप्टे की संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी में "आलभ" के निम्नलिखित अर्थ लिखे हुए हैं:—

"आलभ" I. A. I. To touch; गामालभ्यार्कमीक्ष्य वा Ms. 5. 87. 4. 117; B. K. 14. 91 ; सत्ये नायुधमालभे; सत्येन (सत्यं) आत्मानमालभे M. B-2. To get, attain to अतितरां कांतिमालप्स्यते ते (वपुः) Me. 15 V. I, ; Kam. 9. 63-3. To kill, immolate (as a victim in Sacrifices) ; प्रातर्वै पशूनालभंते Sat. Br. ; गर्दभं पशुमालभ्य Y. 3. 280.-4 To take hold of, seize grasp, handle.-5 To gain or win over-Cans. I To touch-2 To Commence.

नोट—ध्यान रखना चाहिए कि इन दिनों के बने हुए कोष मात्र, प्राचीन तथा आधुनिक दोनों प्रकार के अर्थों को प्रकट करते हैं अतः आप्टे ने भी जब कि "आलभ" का अर्थ "संस्पर्श" तथा "प्राप्ति" किया है तो उस का पीछे से वाममार्गियों द्वारा बिगाड़ा हुआ अर्थ "वध" भी लिखदिया है।

(देवों ने) अश्व को संस्पर्शित किया, उस संस्पर्शित अश्व में जो पुरुष की मेधा आई थी वह अश्व में से निकली और गाय में प्रविष्ट हो गई, तब उन्हों ने (देवों ने) गाय को संस्पर्शित किया उस संस्पर्शित गाय में जो पुरुष की मेधा घुसी थी वह उस में से निकली और भेड़ी में प्रविष्ट हो गई, तब उन्हों ने (देवों ने) भेड़ी को संस्पर्शित किया उस संस्पर्शित भेड़ी में जो पुरुष की मेधा आई थी वह उस में से निकली और छाग में प्रविष्ट हो गई, तब देवताओं ने छाग को संस्पर्शित किया उस संस्पर्शित छाग में जो पुरुष की मेधा घुसी हुई थी वह उस में से निकली और इस पृथिवी में प्रविष्ट हो गई, तब इस पृथिवी को खोदते हुए उन्हों ने अन्वेषण किया और उन्होंने व्रीहि (धान, चावल) तथा यव की प्राप्ति की ।

उक्त वाक् में एक गूढ़ अलङ्कार और मानव उन्नति का क्रम दिखलाया गया है । यह सभी ज्ञानी मानते हैं कि वर्तमान सृष्टि की आदि में जो मनुष्य पैदा हुए उन्हों ने एक साथ ही कृषि विद्या नहीं सीख ली । प्रत्युत कृषिविद्या द्वारा नाज उत्पन्न करने के पूर्व उन्हों ने अपना पोषण पालन फलों से किया। वर्त्तमान सृष्टि की आदि में जिन मनुष्यों को परमात्मा के द्वारा ज्ञान मिला उन पवित्र मनुष्य वा ऋषि वा देवों ने अन्य मनुष्यों को जो सर्वथा पशुवत् थे संस्पर्श करना आरम्भ किया अर्थात् उन के साथ हो कर उन्हें शिक्षा देनी आरम्भ की । तब उन पशुतुल्य मनुष्यों की मेधा अर्थात् बुद्धि बढ़ी और घोड़ों में घुसी अर्थात् वे दूर दूर से फल लाने आदि कामों के लिये घोड़ों पर चढ़ने का यत्न करने लगे उक्त देवों ने भी इस कार्य्य में उक्त साधारण मनुष्यों की सहायता की अर्थात् घोड़ों को स्वयम् संस्पर्शित कर घोड़ों को वश में रखने की विधि साधारण मनुष्यों को सिखलाई । तब साधारण मनुष्यों की मेधा घोड़े में से निकली और गाय में प्रविष्ट हुई अर्थात् घोड़े से काम लेना जब वे सीख चुके तो गाय से लाभ उठाने का यत्न करने लगे इस कार्य्य में भी देवों ने साधारण मनुष्यों की सहायता की और साधारण मनुष्य जब गाय से दूध लेने आदि की विधि सीख चुके तब उन की मेधा गाय में से निकल कर भेड़ी में प्रविष्ट हुई अर्थात् भेड़ी के दूध और उस के रोम से जो लाभ उठाए जा सक्ते हैं उन की प्राप्ति के लिए साधारण मनुष्य यत्न करने लगे और इस कार्य्य में भी देवों ने उन की सहायता की और जब साधारण मनुष्य भेड़ी से लाभ उठाना सीख चुके तब उन की मेधा भेड़ी में से निकली और छाग (बकरी) में प्रविष्ट हुई अर्थात् छाग के दूध से जो लाभ उठाए जा सक्ते हैं उन्हें उठाने का यत्न

करने लगे । देवों ने इस कार्य्य में भी साधारण मनुष्यों की सहायता की और जब साधारण मनुष्य छाग से लाभ उठाना सीख चुके तब उन की मेधा (बुद्धि) छाग में से निकली और पृथिवी में प्रविष्ट हुई अर्थात् वे सोचन लगे कि इस पृथिवी से वे क्या २ लाभ उठा सक्ते हैं ! देवों ने इस कार्य्य में भी उन की सहायता की और साधारण मनुष्यों ने पृथिवी को खोदना आरम्भ किया खुदी हुई भूमि जब उर्वरी हो गई तो देवों की शिक्षा से वे इस पृथिवी में व्रीहि और यव बोने लगे और पृथिवी में से उन की बुद्धि के फलरूप व्रीहि और यव नामक अन्न उत्पन्न हुए ।

वर्त्तमान सृष्टि के आरम्भ में मानुषी बुद्धि किस प्रकार क्रमशः उन्नत होती गई इस विषय का कैसा उत्तम यह लेख है ! यह एक दृढ़ सिद्धान्त है कि ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों की व्याख्या रूप हैं परन्तु महाशय रागोज़िन कहते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों के कई भाग वेदों से भी प्राचीन हैं । यदि उन का कथन कोई मान भी ले तो उसे यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ब्राह्मण वाक्यों का अर्थ आर्ष नियमों के अनुसार होगा न कि आधुनिक तान्त्रिक व्यवस्थानुसार ।

" यज्ञमध्वरम् " वेद के इस प्रामण से ज्ञात होता है कि यज्ञ को अध्वर कहते हैं । ' ध्वर ' का अर्थ हिंसा है अतः ' अध्वर ' उस को कहते हैं जिस के साथ हिंसा का सम्बन्ध न हो । क्या कोई बुद्धिमान् विश्वास कर सक्ता है कि जिस यज्ञ के लिये अध्वर शब्द का प्रयोग हो । उस में रक्त बहाने की विधि पाई जा सक्ती है ? हम इस बात को मान लेते यदि यह कहा जाता कि पौराणिक तथा तान्त्रिक साहित्य के लिखने वाले अध्वर के "यौगिक" अर्थ भूल गए होंगे और इस लिए उन लोगों ने पशुहिंसा के साथ भी इस शब्द का सम्बन्ध जोड़ लिया होगा परन्तु वैदिक साहित्य में ही पशुहिंसा के सम्बन्ध में "अध्वर" शब्द का आना शब्दविद्या के स्वीकृत नियमों के सर्वथा विरुद्ध है ।

अतः मिस्टर रागोज़िनादि यूरोपीय विद्वान् यज्ञों में पशुहिंसा के विधान सिद्धि का जो यत्न करते हैं वह सर्वथा अनुचित है ।

वेदों में "गाय" के लिए "अघ्न्या"* शब्द प्रयुक्त हुआ है "अघ्न्या" का

---

* "अघ्न्या—अघ्न्याहन्तव्या भवति, अघघ्नीति वा, तस्य एषा भवति :—

सूय वसाद्भगवती हि भूया अथो वय भगवन्तः स्यामः ।

अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती ॥

ऋग्वेद । मण्डल १, सूक्त १६९, मन्त्र ४० ।

अर्थ है "जो बध के योग्य न हो" जब गायवाची "अघ्न्या" शब्द का धात्वर्थ ही यह बतलाता है कि जो मारने के योग्य न हो फिर कैसे सम्भव हो सक्ता है कि वेद सम्बन्धी साहित्य में गोबध की आज्ञा मिल सके। परन्तु महाशय राजेन्द्रलाल मित्र अपने गुरु मिस्टर कोलब्रुक के सिद्धान्त "यज्ञ में पशुबध" के समर्थन के लिये निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत करते और लिखते हैं कि प्राचीन आर्य्य गोभक्षक थे :—

"सप्तम्यामष्टम्यां वाश्वयुजी पक्षे तु वत्सतरीरेवालभेरन् उक्ष्णो विसृजेयुः" (ताण्ड्य ब्राह्मण)

इस वाक्य में जो 'आलभेरन्' शब्द आया है उस का अर्थ महाशय राजेन्द्रलाल मित्र "बध" के करते हैं। परन्तु वेद सम्बन्धी साहित्य में आए हुए "आलभेरन्" शब्द का अर्थ किसी प्रकार भी "बध" द्योतक नहीं हो सक्ता इसे अभी हम धात्वर्थ तथा कई साहित्य के प्रमाणों से सिद्ध कर आए हैं। क्या कोई भी बुद्धिमान् पुरुष यह स्वीकार कर सक्ता है कि जो प्राचीन आर्य्य गाय को अघ्न्या और यज्ञ को अध्वर कहते थे वे किसी भी दशा में यज्ञ में गोबध की विधि बतला सकते थे ? अतः आलभेरन् (जो आलभ वा आलम्भ का एक रूप है) का अर्थ स्पर्श ही है जैसा कि मनुस्मृति के पूर्व लिखित श्लोक में आलम्भ शब्द से प्रकट होता है। यज्ञ में दान से पूर्व, जो वस्तु दान में दी जांय उन का संस्पर्श एक साधारण नियमहै अतः ब्राह्मण ग्रन्थ सम्बन्धी साहित्य में जहां कहीं गो अथवा गोवत्स के आलम्भन की वार्त्ता आवे वहां उन का संस्पर्श ही अभीष्ट है।

इतना तर्क करने पर भी हम यह लिखे बिना नहीं रह सक्ते कि कई आर्ष ग्रन्थों में यज्ञों के प्रकरण में बाममार्गियों ने पशुहिंसा विधायक अनेक वाक्य मिला दिए हैं परन्तु यह मिलावट प्रकट हुए बिना रह नहीं सक्ती क्योंकि वैदिक शैली से अभिज्ञ याज्ञिकों ने यज्ञ को अध्वर (हिंसा रहित) और गाय को अघ्न्या (अबध) स्पष्टतया अपने लेखों द्वारा प्रसिद्ध कर रक्खा है।

गोबध के पक्ष में यूरोपीय विद्वान् जो एक अन्य प्रमाण देते हैं वह यह हैं कि संस्कृत में अतिथि को 'गोघ्न' कहते हैं। 'गो' के अर्थ महाशय कोलब्रुक और उन के चेले राजेन्द्रलालमित्र गाय के लेते हैं और हन के अर्थ हिंसा के। अतः गोघ्न

हिङ् कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्स मिच्छन्ती मनसाभ्यागात् ।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय ॥
अथर्ववेद, काण्ड ९, अनुवाक ५ सू० १०, मन्त्र ५ ॥

का अर्थ वे करते हैं वह पुरुष (अतिथि) जिस के लिये गाय मारी जाय। यह अर्थ न केवल वैदिक शिक्षा के ही प्रतिकूल है प्रत्युत साधारण बुद्धि के भी विरुद्ध है।

यदि कोई यह मान भी ले कि प्राचीन आर्य्य गोभक्षक थे तो भी किसी की बुद्धि इस बात को स्वीकार नहीं कर सक्ती कि जब कभी किसी प्राचीन आर्य्य के गृह पर अतिथि आता था तो वह अतिथि के लिये गोवध करता था, यूरोप में गोमांस साधारण भोजन है परन्तु वहां भी प्रत्येक घर बूचरखाना नहीं बना हुआ है। भाषाविज्ञान का कोई भी विद्वान् यह नहीं मान सक्ता कि अतिथि के स्वागत और गोवध में कभी इतना गूढ़ सम्बन्ध हो सक्ता था कि अतिथि उसी को कहते थे जिस के लिये गाय अवश्य मारी जाय। यह अर्थ उसी दशा में स्वीकृत हो सक्ता है जब कि गोघ्न शब्द का कोई यथोचित अर्थ न हो। "गोघ्न" शब्द "गो" और "हन" के योग से बना है। "गो" के अनेक अर्थ हैं यथा वाणी, पृथिवी, जल, स्वर्ग वा विशेष सुख, माता, इन्द्रिय, नेत्र सूर्य्य, चन्द्र। "हन" का अर्थ महर्षि पाणिनी "हिंसा" और "गति" बतलाते हैं। और "गति" के अर्थ हैं ज्ञान, गमन और प्राप्ति अतः गोघ्न के निम्नलिखित अर्थ हो सक्ते हैं:—

(१) जिस के लिए जल की प्राप्ति की गई हो अर्थात् जिस के लिए जल का प्रबन्ध किया गया हो।

(२) जिस के लिए सुख की सामग्री प्राप्त की गई हो।

(३) जिस का वाणी से सत्कार किया गया हो।

(४) जिस की ओर आंखें लगी हों।

इन अर्थों को साधारण बुद्धि भी स्वीकार कर सक्ती है, क्योंकि प्रायः सभी सभ्य देशों में जब कभी किसी के घर अतिथि आता है तो उस के स्वागत के के लिए गृहपति घर से बाहर आते हुए कुछ चलता है (गति), उस से प्रिय वचन (वाणी) बोलता है, फिर जल वा दुग्धादि से उस का सत्कार करता है और यथा सम्भव उस के सुख के लिए अन्यान्य सामाग्रियों को भी प्रस्तुत करता है, यह जानने के लिए कि प्रिय अतिथि इन सत्कारों से प्रसन्न होता है वा नहीं, गृहपति की आंखें भी उस की ओर लगी रहती हैं। यदि कोई गृहपति दारिद्री भी हो तो वह भी अपने यहां आए हुए अतिथि का सत्कार मीठे वचन और स्वच्छ जल से अवश्य

ही करता है । जब उक्त सभी अर्थ " गोघ्न " शब्द के हो सक्ते हैं तो फिर न मालूम इस शब्द के अर्थ यूरोपीय विद्वान् इस प्रकार का क्यों करते हैं जो न केवल वेद, शास्त्र, लोकोक्ति, भारतीय मन आवेश ही के विरुद्ध हैं प्रत्युत जिसे साधारण बुद्धि भी स्वीकार नहीं कर सक्ती । जिन लोगों ने भारतवर्ष का साहित्य स्थूलदृष्टि से भी पढ़ा है वे जानते हैं कि जब किसी गृहपति के घर अतिथि आता था तो गृहपति मीठे वचनों से उस का स्वागत करता था । उस को हस्त मुखादि प्रक्षालन तथा आचमन के लिए जल देता था । और उस के भोजन के लिए दुग्ध वा मधुर पक्वान्न प्रस्तुत करता था । अतिथ्य सत्कार किस प्रकार करना चाहिए इस विषय में आपस्तम्ब सूत्र प्रश्न २, पटल २, खण्ड ४ सूत्र ११ तथा १४ में लिखा है " गृहपति को चाहिए कि अन्यों को भोजन देने के पहले अतिथि को भोजन दे, यदि उस के घर में भोजन न हो तो स्थान, जल आसन और प्रिय वाणी (दे) क्योंकि अच्छे मनुष्य के घर में इन वस्तुओं का तो कभी भी अभाव नहीं होता । इस सूत्र में अतिथि के लिए जिन २ वस्तुओं के देने की आज्ञा है प्राय: वे सभी गो शब्द के वाचक हो सक्ते हैं । पुन: आपस्तम्ब सूत्र, प्रश्न २, पटल ३ खण्ड ६, सूत्र १४ में लिखा है " जब कोई अतिथि घर पर आवे तो गृहपति उस से मधुर सम्भाषण करे और दुग्ध वा अन्य पेय पदार्थों तथा भोज्य पदार्थों से उस का सत्कार करे (यदि इन का अभाव हो तो) न्यून से न्यून जल से तो अवश्य ही सत्कार करे । " इस में भी सत्कार की जो २ वस्तुएं बतलाई गई हैं वे सब प्राय: गो वाचक हैं । गौतम सूत्र, अध्याय ५, सूत्र ३५, ३६ तथा ३७ में लिखा है " यदि अतिथि विद्वान् न भी हो परन्तु सदाचारी हो तो उस का भी सन्मान आसन, जल और स्थान से करो, यदि ये भी न हों तो कम से कम प्रिय वाणी से तो अवश्य करो, अतिथि का मान्य अवश्य करो और कभी भी जो भोजन अतिथि को दो उस से उत्तम स्वयम् न खावो " इन सूत्रों में भी जो सन्मान की सामग्रियां लिखी हैं वे प्राय: " गो " के अर्थ बोधक हैं ।

मांस भक्षण के पक्षपाती अपने पक्ष की पुष्टि के लिए आतिथ्य सत्कार के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रमाण शतपथ ब्राह्मण से उद्धृत करते हैं:—

"अथ यस्मादातिथ्यं नाम। अतिथिर्वाऽएष एतस्या गच्छति यत्सोमः क्रीतस्तस्मा एतद्यथा राज्ञे वा ब्राह्मणाय वा महोक्षं वा महाजं पचेत्त दह मानुषꣳहविर्देवानामेव मस्माऽएतदातिथ्यं करोति"

उक्त मांस भक्षण के पक्षपाती कहते हैं कि इस में **महोक्ष** शब्द जो आया है उस का अर्थ है बड़ा बैल और **महाज** शब्द जो आया है उस का अर्थ है बड़ा बकरा और उक्त वाक्य से यह परिणाम निकालते हैं कि प्राचीन समय में जब किसी के घर ब्राह्मण वा राजा अतिथि बन कर आता था तो गृहपति उन के लिए बड़ा बैल वा बड़ा बकरा पकाया करता था।

जो युक्तियां हम ऊपर दे चुके हैं उन से तो स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्राचीन आर्य्य अतिथि पूजा के लिये हिंसा कभी नहीं करतेथे परन्तु शतपथ ब्राह्मण के उक्त वचन में आए हुए **महोक्ष** तथा **महाज** शब्द के यदि बड़े बैल और बड़े बकरे के अतिरिक्त अन्य कोई अर्थ हों ही नहीं तब तो अवश्य ही मांस भक्षण के पक्षपातियों की बातें माननी पड़ेंगी। परन्तु ऐसी अवस्था नहीं है। **महोक्ष** दो शब्दों के योग से बना है "महा" तथा "उक्ष"। "महा" (महत्) का अर्थ है उत्तम और "उक्ष" एक ओषधि का नाम है जो कि विशेष बलवर्द्धक होता है। "उक्ष" को वाचस्पत्य-वृहदभिदान में "ऋषभौषधि" लिखा है जिस का प्रमाण यह भी है "उक्षा, भद्रो, बलीवर्द, ऋषभो, वृषभो, वृषः, अनड्वान्, सौरभे योगौः। शृङ्गीतु ऋषभो वृषः (अमर)। अर्थात् "उक्ष", शृङ्गी वा काकड़ासिंगी नाम ओषधि का नाम है। अब रहा "महाज" शब्द। यह भी "महा" (महत्) और "अज" इन दो शब्दों के योग से बना है। महा के अर्थ उत्तम के हैं और "अज" का अर्थ है अन्न। यथा "बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वा वैदिकी श्रुतिः, अजसंज्ञानि बीजानि छागं नो हन्तु मर्हथ" (महाभारत शान्तिपर्व) अर्थात् अन्न के बीजों से यज्ञ किया जाय यही वैदिकी श्रुति है, अज नाम बीज का है अतः छाग (बकरे) को मारना योग्य नहीं। पञ्चतन्त्र जैसे ग्रन्थ में भी अज का प्रयोग अन्नार्थ में आया है यथा "अजैर्यष्टव्यं तत्राजाव्रीहयः"। अतः शतपथ ब्राह्मण के उक्त वचन का अर्थ यह हुआ कि जब ब्राह्मण वा राजा अतिथि बनें तो उन्हें बलकारक ओषधि रूप भोजन देना चाहिए वा उत्तमोत्तम अन्न खिलाना चाहिये।

वृहदारण्यकोपनिषत् में एक वाक्य है जिसे मांस भक्षण के पक्षपाती सभी यूरोपीय विद्वान् तथा उन के भारतीय शिष्य अपने पक्ष के समर्थन के लिये दिया करते हैं। उस वाक्य को यहां उद्धृत कर तथा जो अर्थ उस का मांस भक्षण के पक्षपाती करते हैं उसे प्रकाशित कर उस का सत्यार्थ भी हम यहां प्रकट किए देते हैं। उक्त वाक्य यह है:—

"अथ य इच्छेत्पुत्रो मे पण्डितो विजिगीतः समितिं गमः शुश्रूषितां वाचं भाषिता जायेत सर्वान्वेदाननुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति माꣳस सौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयित वा औक्षेणेन वा ऋषभेग वा" (बृहदारण्यकोपनिषत्, अध्याय ८, ब्राह्मण ४, वाक् १८)

महाशय रमेशचन्द्रदत्त उक्त वाक्य का अर्थ यह करते हैं "यदि कोई पुरुष चाहे कि उसके घर में विद्वान् पुत्र उत्पन्न हो जो प्रसिद्ध सुवक्तृता करने वाला वेदों को जानने वाला और चिरञ्जीव हो तो उस को और उस की स्त्री को बैल का मास और घी खाना चाहिये ।

हमारी समझ में यह नहीं आता कि बैल के मांस और बच्चे की सुवक्तृता से क्या सम्बन्ध है ।

निरुक्त में "मांस" के अर्थ इस प्रकार लिखे हुए हैं "मांसं" माननं वा मानसं वा मनोऽस्मिन्त्सीदतीति वा (निरुक्त अध्याय ४, पाद १, खण्ड ३) अर्थात् जो मन को भावे उसे मांस कहते हैं । उक्ष और ऋषभ काकड़ासिंगी नाम महौषधि के नाम हैं यह हम ऊपर प्रकाशित कर ही चुके हैं । तथा सुश्रुत के निम्नलिखित प्रमाण से सिद्ध होता है कि काकोल्यादिगण * की सब ओषधियां जिन में काकड़ासिंगी (कर्कटशृङ्गी) भी है गर्भवती स्त्रियों के लिए विशेष लाभकारी हैं:—

"काकोल्यादिरयं पित्त शोणितानिल नाशनः ।
जीवनो बृंहणो वृष्यः स्तन्यश्लेष्मकरस्तथा" ॥

राजनिघण्टु पृष्ठ ४४० में लिखा है "शृंगी, अतिविषा, कर्कट शृंगी, ऋषभश्च" अर्थात् शृंगी ओषधि के अन्य नाम "अतिविषा" "कर्कटशृंगी" और "ऋषभ" हैं । राजनिघण्टु में जहां "गुडूच्यादि" गण का पाठ है अर्थात् जहां गुडूची आदि ओषधियों का वर्णन है वहां "ऋषभ" ओषधि का भी पाठ है वहां इस ओषधि के पर्यायवाची नाम निम्नलिखित दिये हुए हैं:—

ऋषभो गोपतिर्धीरो वृषाणी धूर्धरो वृषः । ककुद्मान् पुंगवो वोढा शृङ्गी धुर्यश्च भूपतिः ॥ १५७ ॥

---

* काकोल्यादि गण की ओषधियां निम्नलिखित हैं:-काकोली चीरकाकोली जीव कर्षभ कमुद्र पर्णी मासपर्णी मेदा महामेदा छिन्नरुहा कर्कट शृङ्गी तुगाचीरी पद्मक प्रपौण्डरी ऋद्धि वृद्धिमृद्वीका जीवन्त्यो मधुकश्चेति (सुश्रुत)

अर्थात् ऋषभौषधि के अन्यान्य नाम गोपति, धरी, वृषाणि, धुर्धर, वृष, ककुद्मान्, पुंगव, वोढा, शृंगी, धुर्य और भूपति भी हैं।

इस में आए हुए "गोपति" तथा "वृष" इन शब्दों का अर्थ साधारण संस्कृत जानने वाला (जो आयुर्वेद के शब्दों से अनभिज्ञ है) सिवाय "बैल" के अन्य नहीं समझ सकेगा परन्तु उसी को जब बतलाया जायगा कि यह प्रकरण गूडूच्यादि गण की औषधियों का है अतः उस गण के भीतर आई हुई ऋषभौषधि के ही ये नामान्तर हैं, यहां ऋषभ का अर्थ बैल नहीं हो सकता तो उसे प्रकरणवित् बनना ही पड़ेगा।

अतः उक्त उपनिषद् वाक्य का यह अभिप्राय हुआ कि जिस किसी पुरुष को पण्डित, सुप्रसिद्ध, सभा में जाने योग्य, सुन्दर प्रगल्भ भाषण करने योग्य, सब वेदों का वक्ता तथा चिरञ्जीव पुत्र की कामना हो उसे चाहिये कि वह तथा उस की पत्नी मांस अर्थात् मनोवांछित भोजन करे और उक्ष नाम महौषधि जिसे ऋषभ भी कहते हैं उस का प्रयोग करे।

हम समझते हैं कि यह सिद्ध होगया कि प्राचीन आर्य्य निरामिषभोजी थे और गोरक्षा वा गाय का न मारना उन के धर्म्म का एक प्रधान अङ्ग था अतः ज्ञात होता है कि प्राचीन आर्ष-साहित्य के जिन वाक्यों के अर्थ यूरोपीय विद्वान् मांस-भक्षण परक करते हैं उन वाक्यों के अर्थ वे नहीं समझे क्योंकि वैदिक अर्थशैली से वे अभिज्ञ नहीं थे।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि प्राचीन आर्य्य हिंसक नहीं थे तो गोमेध, अश्वमेध, नरमेधादि के अर्थ क्या हैं?

इस का समाधान भी हम प्राचीन आर्ष ग्रन्थों से ही करते हैं। शतपथ ब्राह्मण १३, १, ६, ३ में लिखा है " राष्ट्रं वा अश्वमेधः "। शतपथ ब्राह्मण ४, ३, १, २५, में लिखा है "अन्नꣳहि गौः " । उसी शतपथ में लिखा है " अग्निर्वा अश्वः," " आज्यं मेधः " । जिन वचनों का अभिप्राय यह है कि न्यायपूर्वक राज्य करना अश्वमेध है, घी तथा सुगन्धित वस्तुओं का अग्नि में होम करना अश्वमेध है, विद्यादि का दान देना अश्वमेध है। अन्न, इन्द्रियां पृथिवी आदि को पवित्र रखना, सूर्य के किरणों से उपयोग लेना गोमेध है। जब मनुष्य मर जाय तब उस के शरीर का विधि पूर्वक दाह करना ही नरमेध है। अतः जहां कहीं सचमुच

गवादि पशु वा मनुष्य मार कर होम करने की बात लिखी हो उन सब को वैदिक साहित्य विरुद्ध वा प्रक्षिप्त समझना चाहिए ।

जलप्लावन ।

सृष्टि और प्रलय के अनेक प्रकार के वृत्तान्त ब्राह्मण ग्रन्थों तथा अन्यान्य प्राचीन ग्रन्थों में पाए जाते हैं । कहीं खण्डप्रलय और कहीं २ महाप्रलय विषयक लेख आते हैं । कार्य जगत् का कारण जगत् में लीन हो जाने को ऋषिगण महा-प्रलय कहते तथा कभी २ भू-भाग पर एका एक समुद्र के चढ़ आने से वा घोर अतिवृष्टि के कारण भू-भाग के अनेक देशों और क्रोड़ों मनुष्यों तथा इतर प्राणियों के अकस्मात् नष्ट हो जाने को अथवा भूगर्भ की अग्नि वा किसी अन्य अग्नि के प्रकोप से अनेक देशों और क्रोड़ों मनुष्यों तथा इतर प्राणियों के अकस्मात् नष्ट हो जाने को खण्डप्रलय कहते हैं । अथवा स्थल-भाग मात्र का नष्ट हो जाना वा जल स्थल दोनों का नष्ट हो जाना केवल अग्नि का शेष रहना इत्यादि भी अनेक प्रकार के खण्डप्रलय आर्षग्रन्थों में बतलाए गए हैं ।

प्रलय सम्बन्धी वार्त्ताएं केवल आर्य्यों के प्राचीन तथा नवीन ग्रन्थों में ही वर्तमान हों ऐसा नहीं है प्रत्युत इस विषय की कतिपय बातें पुराने कैल्डिया निवासी, तथा पुराने यहूदियों के ग्रन्थों में भी विद्यमान हैं ।

जब तक आर्यों के प्राचीन ग्रन्थों का पता यूरोप निवासियों को नहीं लगा था तब तक वे कहते थे कि भारतवासियों के अग्निपुराण, श्रीमद्भागवत, मत्स्य-पुराण तथा महाभारत में जो जल-प्रलय की बातें लिखी हुई हैं वे ईसाइयों के बाइ-बल (जेनिसिस ८ तथा ९) से आई हैं अथवा कैल्डिया वासियों के ग्रन्थों से आई हैं, परन्तु जब यूरोपीय संस्कृत विद्वानों ने शतपथ ब्राह्मण को अवलोकन किया तो उन में से बहुतों की उक्त सम्मति बदल गई ।

शतपथ ब्राह्मण काण्ड १, अध्याय ८, ब्राह्मण १ में लिखा है:—

मनवे ह वै प्रातः अवनेग्यमुदकमाजह्रुर्यथेदं पाणिभ्यामवनेजनाया हरन्त्येवं तस्या-वनेनिजानस्य मत्स्यः पाणीआपेदे ॥ १ ॥ सहास्मै वाचमुवाद बिभृहि मा पारयिष्यामि त्वेति

कस्मान् मा पारयिष्यसीत्यौघ इमाः सर्वाः प्रजा निर्वोढा ततस्त्वा पारयितास्मीति कथं ते भृतिरिति ॥ २ ॥ सहोवाच यावद्वैक्षुल्लका भवामो बह्वी वै नस्तावन्नाष्ट्रा भवत्युत मत्स्य एव मत्स्यं गिलति कुम्भ्यां माग्रे विभरासि स यदा तामति वर्धा अथ कर्षूं खात्वा तस्यां मा बिभ रासि स यदा तामतिवर्धाऽअथ मा समुद्रमभ्यवहारासि तर्हि वाऽअतिनाष्ट्रो भवितास्मीति ॥ ३ ॥ शश्वद्ध झष आस सहि ज्येष्ठं वर्धतेऽथेति स मां तदौघ आगन्ता तन्मा नावमुपकल्प्योपासासै स औघऽउत्थिते नावमापद्यासैथींथंत-तस्त्वा पारयितास्मीति ॥ ४ ॥ तमेवं भृत्वा समुद्रमभ्यवजहारं सयतिथीं तत्समां परि-दिदेशततितिथिथं समां नावमुपकल्प्योपासांचक्रे स औघऽउत्थिते नावमोपदे तथं समत्स्य उपन्या पुप्लुवे तस्य शृङ्गे नावः पाशं प्रति मुमोच ते नै तमुत्तरं गिरिमातिदुद्राव ॥५ ॥ सहोवाच अपीपरं वै त्वा वृक्षेनावं प्रतिबध्नीष्व तुत्वा मा गिरौ सन्तमुदकमन्तश्छै-त्सीद्यावदुदकथं समवायात्तावत्तावदन्ववसर्पासीति सहतावत्तावदेवान्ववससर्प्प तदप्येतदुत्तरस्य गिरेर्मनोरवसर्प्पणमित्यौघो ह ताः सर्वाः प्रजा निरुवाहाथेह मनुरेवैकः परि-शिशिषे ॥ ६ ॥ सोऽर्चं छ्राम्यंश्चचार प्रजाकामः ।

अध्यापक मैक्समूलर सम्पादित शतपथ ब्राह्मण की अंगरेज़ी टीका में उक्त वाक्यों का अर्थ निम्नलिखित प्रकार अङ्कित हैः—

1. In the morning they brought to Manu water for washing, just as now also they (are wont to) bring (water) for washing the hands. When he was washing himself, a fish came into his hands?

2. It spake to him the word, 'Rear me, I will save thee!' 'Wherefrom wilt thou save me?' 'A flood will carry away all these créatures: from that I will save thee!' How am I to rear thee'?

3. It said, 'As long as we are small, there is great destruction for us: fish devours fish. Thou wilt first keep me in a jar. When I outgrow that, thou wilt dig a pit and keep me in it. When I outgrow that, thou wilt take me down to the sea, for then I shall be beyond destruction.

4. It soon became a ghasha (a large fish); for that grows largest (of all fish.). Thereupon it said, 'In such and such a year that flood will come. Thou shalt then attend to me (*i. e.* to my advice) by preparing a ship; and when

the flood has risen thou shalt enter into the ship, and I will save thee from it.

5. After he had reared it in this way, he took it down to the sea. And in the same year which the fish had indicated to him,[1] he attended to (the advice of the fish) by preparing a ship; and when the flood had risen, he entered into the ship. The fish then swam up to him, and to its horn he tied the rope of the ship, and by that means he passed swiftly up to yonder northern mountain.

6. It then said, 'I have saved thee. Fasten the ship to a tree; but let not the water cut thee off, whilst thou art on the mountain. As the water subsides, thou mayest gradually descend!' Accordingly he gradually descended, and hence that (slope) of the northern mountain is called 'Manu's descent.' The flood then swept away all these creatures, and Manu alone remained here.

7. Being desirous of offspring, he engaged in worshipping and austerities...

१. जिस प्रकार आज कल भी लोग हाथ धोने के लिये जल लाते हैं (उसी प्रकार) लोग प्रातःकाल (हाथ) धोने के लिए मनु के निकट जल लाए। जब कि वह (मनु) (अवनेजन कर रहे थे) अपने को धो रहे थे एक मछली उन के हाथों में आ गई।

२. यह (मछली) उन से (मनु से) यह शब्द बोली "मुझे" सम्वर्धित करो मैं तुम्हारी रक्षा करूंगी !" "किस से तू मेरी रक्षा करेगी ?" "एक जलप्लावन (सैलाब) इन सब जीवों को बहा ले जायगा, उस से मैं तेरी रक्षा करूंगी !" "किस प्रकार मैं तुझे सम्वार्धित करूं ?"

३. इस ने कहा "जब तक हम लोग छोटी रहती हैं, हम लोगों का बड़ा नाश हुआ करता है, मछली मछली को निगल जाती है। तू मुझे पहले एक बड़े पात्र में रख। जब मैं उस से बढ़ जाऊं तब तू एक गढ़ा खोद और उस में मुझे रख दे। जब मैं उस गढ़े से भी बढ़ जाऊं तब तू मुझे समुद्र में (रखने को) ले जाना।

क्योंकि तब तक मैं नाश (की सीमा) से बाहर हो जाऊंगी (नष्ट होने के अयोग्य बन जाऊंगी)

४. यह तुरत ही झष (एक बड़ी मछली) बन गई, क्योंकि यह सब मछलियों से बड़ी हुआ करती है। तब उस ने कहा "अमुक वर्ष में वह जलप्लावन (सैलाब) आएगा तब तू एक बड़ी नौका बना कर मेरी ओर ध्यान देना अर्थात् मेरी शिक्षा की ओर, और जब वह सैलाब उमड़ने लगे तू उस बड़ी नौका में चढ़ जाना और मैं उस (सैलाब) से तुझे बचा दूंगी"।

५. इस प्रकार जब वह [मनु] इसे [उस मछली को] सम्वर्धित कर चुके [तो] उसे वह समुद्र में छोड़ आए, और उस वर्ष जिस वर्ष की सूचना मछली ने उन्हें दी थी वह उस मछली के परामर्श की ओर, एक बड़ी नौका बना कर ध्यान देने लगे, और जब कि सैलाब उमड़ा वह उस बड़ी नौका पर चढ़ गए। तब वह मछली तैरती हुई उन के निकट पहुंची और नौका की रस्सी को उन्हों ने उस मछली की सींघ में बांध दिया और इस उद्योग से वह बड़ी शीघ्रता से सन्मुख के उत्तरीय पर्वत पर पहुंच गए।

६. इस नें [मछली ने] तब कहा "मैंने तेरी रक्षा कर दी है, नौका को एक वृक्ष के साथ बांध, परन्तु ऐसा न हो कि जब कि तू इस पर्वत पर निवास करे जल तुझे बहा ले जाय। ज्यों २ जल घटे त्यों २ तू धीरे २ उतरना।" तदनुसार वह [मनु] धीरे २ उतरे और इसी कारण उस उत्तरीय पर्वत के उस भाग को "मनोरवसर्प्पणम्" (मनु का उतार) कहते हैं। तब वह सैलाब इन सब प्राणियों को बहा ले गया और केवल मनु यहां रह गए।

७. प्रजा की कामना से [मनु] अर्चा और तपश्चर्य्या में संलग्न हुए........

यद्यपि यूरोपीय वह संस्कृत विद्वान् जो आर्य्यों के प्राचीन ग्रन्थों को कुछ गौरव की दृष्टि से देखते हैं, शतपथ ब्राह्मण के उक्त वाक्यों को पढ़ कर आश्चर्य्यान्वित हो रहे हैं परन्तु हमारा विश्वास है कि उक्त वाक्यों के अर्थ यूरोपीय विद्वान् अभी तक समझ नहीं सके। उक्त वाक्यों के अर्थ हम भी अभी तक ठीक २ नहीं समझ सके परन्तु अनुमान है कि इन वाक्यों के अवश्य ही कोई गूढ़ अर्थ हैं क्यों कि इसी प्रकरण में "मनु" से उत्पन्न हुई ईडा के अर्थ लिखे हैं (१) सप्तहोत्र यज्ञ अर्थात् वह यज्ञ जिस में सात होता हों (२) प्राण (३) द्यावापृथिवी आदि आदि।

अनुमान है कि वैदिक-साहित्य में वर्णित सूर्य्य और मेघ के प्राकृतिक रूपक न समझने के कारण जिस प्रकार पुराणों में वृत्रहासुरादि की कथाएं अङ्कित हो गई हैं उसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण के उक्त वाक्यों को न समझ लोगों ने इन से जलप्लावन की कथा प्रचलित करली है।

जलप्लावन और महाभारत।

महाभारत क्या है और कितना है इस का वर्णन तो महाभारत के प्रकरण में होगा यहां जलप्लावन सम्बन्धी उस कथा को हम संक्षेपतः लिखते हैं जो वर्तमान महाभारत में पाई जाती है:—

" विवस्वत के पुत्र मनु नाम एक महर्षि थे·······चीरिणी नदी के किनारे [जब कि वह तपस्या कर रहे थे] एक मीन [मछली] उन के निकट आया और बोला " प्रभो ! मैं एक छोटा मीन हूं मुझे बलवान् मछलियों से डर लगता है उन से कृपया मेरी रक्षा कीजिए, बलवान् मछलियां निर्बल मछलियों को निगल जाती हैं, अनन्त काल से हम लोगों के जीवन धारण का यही नियम है, इस भय की बाढ़ से मेरी रक्षा कीजिए, मैं भी आप के उपकार का प्रत्युपकार करूंगा "। यह सुन कर मनु का हृदय दया से भर गया और उन्हों ने उस मीन को एक स्वच्छ बर्तन में रख दिया। इस पात्र में भली भांति पोषित होने के कारण मीन बड़ा हुआ और क्रमशः इतना बढ़ गया कि वह उस पात्र में अटने न लगा। तब मनु को देख कर मीन फिर बोला " ताकि मैं भली भांति बढ़ सकूं मुझे दूसरी जगह ले चलिए"। तब मनु ने उसे मीन को पात्र से निकाल कर एक बड़े जलाशय में फेंक दिया। यहां कई वर्षों तक वह मीन बढ़ता रहा। यद्यपि यह जलाशय दो योजन लम्बा तथा एक योजन चौड़ा था परन्तु यह मीन इतना बड़ा हो गया कि उस के फिरने के लिए उस जलाशय में स्थान न रहा तब उस ने फिर मनु से कहा "मुझे गङ्गा में ले चलिए उस में ही मैं रहूंगा"। तब मनु उसे गङ्गा में ले गए और कुछ दिन मीन ने वह व्यतीत किया। फिर मीन मनु से बोला "दीर्घकाय हो जाने के कारण अब मैं गङ्गा में नहीं घूम सक्ता कृपा कर अब मुझे समुद्र में पहुंचायें"। मनु ने उसे गङ्गा से निकाल समुद्र में पहुंचा दिया जब मीन समुद्र में पड़ गया तब मनु से बोला " महा प्रभो ! तू ने हर प्रकार मेरी रक्षा की है, अब मुझ से सुन कि जब समय आएगा तो तुझे क्या करना चाहिए, थोड़े ही दिनों में यह सब पार्थिव पदार्थ चर

और अचर नष्ट हो जायंगे, संसार की शुद्धि का समय अब आन पहुंचा है । अतः मैं तुझे बताता हूं जो कि तेरी भलाई के लिए है..........अपने लिए एक दृढ़ नौका बना और उस में एक रस्सा लगा दे, इस में सप्तर्षियों के साथ चढ़ जा और इस में उन सब बीजों को जिन का वर्णन प्राचीन काल में ब्राह्मणों के द्वारा हो चुका है यत्न पूर्वक सञ्चय कर । जब नौका पर चढ़ लो तो मेरी ओर ध्यान लगावो, मैं पहुंचूंगा और मुझ में सींग होने के कारण तुम पहचान लोगे । बस इस प्रकार करना मैं तुझे नमस्कार करता हूं और विदा होता हूं । इन महाजलों को मेरी सहायता के बिना कोई लांघ नहीं सक्ता, मेरे वचनों का अविश्वास न करो" मनु ने कहा "मैं वैसा ही करूंगा जैसा कि तुम ने बतलाया है" । एक दूसरे से विदा होकर प्रत्येक ने अपना २ रास्ता लिया । तब परामर्शानुसार मनु बीजों को अपने साथ लेकर नौका पर आरूढ़ हुए और नौका तरङ्गमय सागर पर बहने लगी तब उन्होंने उस मीन का ध्यान किया जिस ने मनु की इच्छा जान ली और बड़ी शीघ्रता से मनु के निकट अपने शृंग से अपना परिचय देता हुआ पहुंचा । जब मनु ने उस शृंगी मीन के पर्वत की तरह जल पर तैरते हुए देखा तो उन्हों ने अपनी नौका के रस्से को उस मीन के शृंग में बांध दिया । नौका के इस प्रकार बंध जाने पर वह मीन उस नौका को ऊर्म्मिमय सागर के गर्जते हुए लहरों तथा नाचते हुए तरङ्गों को चीरता हुआ बड़े वेग से ले चला । उस समय न तो भूभाग और न संसार की दिशाएं दिखाई देती थीं, सिवाय आकाश, पवन और जल के अन्य कुछ भी नहीं था । ऐसे भयङ्कर जगत् में सप्तर्षि, मनु और वह मीन दिखाई देते थे । इस प्रकार वह मीन अनेक वर्षों तक जल पर उस नौका को चलाता रहा और अन्त में उसे हिमवान् पर्वत के सब से उच्च शिखर के समीप पहुंचा दिया । तब वह मीन मुसकराते हुए ऋषियों से बोला " नौका को अब शीघ्रता से इस चोटी में बांध दो । " उन्होंने वैसा ही किया । और हिमवान् की वह सब से ऊंची चोटी अभी तक 'नौका-बन्धन' के नाम से विख्यात है । तब उस मीन ने उन ऋषियों से कहा "मैं ब्रह्म प्रजापति हूं जिस से बढ़ कर प्राप्तव्य कोई अन्य नहीं है । मीन का रूप धारण कर मैंने इस महदापत्ति से तुम्हारी रक्षा की है । मनु सब प्राणियों को, देव, असुर, मनुष्य, जगत् और सब चराचर वस्तुओं को उत्पन्न करेंगे । मेरी कृपा तथा अपने उग्र तपोबल से अपने सृष्टि कर्तृत्वकर्म्म में पूरी अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर लेंगे और मोह को प्राप्त न होंगे " इस प्रकार कथन कर मीन

क्षण मात्र में लुप्त हो गया । प्राणियों को उत्पन्न करने की इच्छा से मनु ने उग्र तपस्या की और तब प्रकट रूप से सब प्राणियों को उत्पन्न करने लगे.........

जलप्लावन और मत्स्यपुराण ।

मत्स्यपुराण में लिखा है कि सूर्य्य के पुत्र मनु एक प्रतापवान् महाराज थे। वह अपने पुत्र को राज सौंप तपस्या करने चले गए । एक समय जब कि मनु अपने आश्रम में पितृतर्पण कर रहे थे उन के हाथ में जल के साथ एक मत्स्य आ गया । वह मत्स्य बोला हे मनु मेरी रक्षा करो । मनु ने पहिले उसे एक छोटे बर्तन में फिर एक बड़े गढ़े में, फिर कूंए में, फिर एक झील में, फिर गङ्गा में रक्खा और फिर जब कि वह मीन बहुत बड़ा हो गया तो उसे ले जाकर समुद्र में फेंका। परन्तु जब कि मनु ने देखा कि मछली ने तो अपना आयतन बढ़ा सारे समुद्र को घेर लिया तो वह डरे और उस मत्स्य की इस प्रकार स्तुति करने लगे " तू कोई देवता है वा वासुदेव है ? कैसे सम्भव है कि कोई अन्य इस प्रकार का बन सके ? हे विश्वपति ! तुझे नमस्कार है ।" स्तुति सुन मत्स्यरूप जनार्दन बोले " तुम ने मेरी अच्छी स्तुति की और मुझे पाहिचाना, थोड़े ही समय में भूतल अपने पर्वत, कुञ्ज और बनों सहित सागर में डूब जायगा, यह नौका सब देवताओं के पुरुषार्थ से तय्यार हुई है ताकि प्राणियों के वृहत् समूह की रक्षा होवे, सब प्राणियों को चाहे वे पिण्डज हों वा अण्डज वा स्वेदज वा उद्भिज उन्हें इस नौका पर चढ़ा कर आपत्ति से बचाना, युग की समाप्ति पर जब भयङ्कर पवन के प्रकोप से यह नौका बहने लगे तब इसे तुम मेरी सींघ के साथ बांध देना, जब प्रलय समाप्त हो जायगा तब तुम चर और अचर जगत् के प्रजापति बनाए जावोगे" मत्स्यरूप वासुदेव अर्थात् विष्णु ने जिस समय की सूचना दी थी जब वह आन पहुंचा तो प्रलयारम्भ हो गया, और वासुदेव शृंगी मत्स्य के रूप में प्रकट हुए और अनन्त नाम सर्प रस्सों की तरह मनु के निकट पहुंचे.........मनु ने उस अनन्त सर्परूप रस्से से उस नौका को मत्स्य के शृंग में बांधदिया

जलप्लावन और श्रीमद्भागवत ।

श्रीमद्भागवत में लिखा है कि सत्यव्रत नाम एक राजर्षि थे, एक समय जब कि वह कृतमाला नदी के तट पर पितृ-तर्पण कर रहे थे, उन की अञ्जलि में जल

के साथ एक मीन आ गया। उस ने सत्यव्रत से प्रार्थना की कि मेरी रक्षा करो। तद्-नुसार सत्यव्रत उस की पालना करने लगे। जब वह मत्स्य दीर्घकाय हो गया तो सत्यव्रत ने उसे पहचाना कि यह तो साक्षात् विष्णु हैं। तब सत्यव्रत ने मत्स्यरूप विष्णु से पूछा कि भगवन्! आप ने यह रूप क्यों धारण किया? तब मत्स्य ने उत्तर दिया "आज से सातवें दिन तीनों लोक प्रलय के महासागर में डूब जायंगे, जब प्रलयारम्भ होगा तो मेरी भेजी हुई एक बड़ी नौका तेरे निकट पहुंचेगी, अपने साथ वनस्पतियों और भिन्न भिन्न प्रकार के बीजों को लेकर तथा सप्तर्षियों और अन्य सब को साथ लेकर उस बड़ी नौका पर चढ़ जाना और निर्भय होकर अन्धकारावृत महासागर पर नौका को डोलने देना, जब भयङ्कर पवन के प्रकोप से नौका डगमगाने लगे तब इसे अनन्त सर्परूप रस्से से मेरी सींघ में बांध देना क्यों कि मैं उस समय तेरे निकट पहुंच जाऊंगा"। मत्स्य ने जैसा कुछ कहा था वैसा ही हुआ और जब प्रलय समाप्त हो गया तब मत्स्यरूप विष्णु ने हयग्रीव नाम राक्षस को मार उस से 'वेदों' को छीन लिया और राजर्षि सत्यव्रत विष्णु की कृपा से वर्तमान युग के मनु बने।

जलप्लावन और अग्नि-पुराण।

अग्नि-पुराण में भी जलप्लावन की कथा है परन्तु अति संक्षिप्त है। श्रीमद्भागवत की जलप्लावन की कथा तथा अग्नि-पुराण की जलप्लावन की कथा इतनी अधिक मिलती जुलती हैं कि उसे फिर यहां लिखने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

जलप्लावन और बाइबिल।

बाइबिल के जेनिसिस ७ से ९ तक में लिखा है कि:—"........और ईश्वर ने पृथिवी की ओर दृष्टि की और देखा कि यह पापमय है......और ईश्वर ने नोआ (नूह) से कहा..........मैं पृथिवी पर जलप्लावन (सैलाब) लाता हूं........ और जो कुछ पृथिवी पर है वह सब मर जायगा........तू आर्क अर्थात् नौका पर चढ़ना तू अपने साथ अपने लड़कों अपनी स्त्री और अपने लड़कों की स्त्री को [भी चढ़ाना] और उस नौका पर प्रत्येक प्रकार के जीवधारी में से उन्हें जीवित रखने के लिए (लाना)........अभी तक सात दिन शेष हैं तदनन्तर मैं पृथिवी पर वृष्टि लाऊंगा.......... और प्रत्येक जीवित वस्तु को जिसे हम ने बनाया है नष्ट

करदूंगा·······और सात दिनों के पश्चात् ऐसा हुआ कि बाढ़ (सैलाब) का जल पृथिवी पर चढ़ आया···········(सैलाब की समाप्ति पर) ईश्वर ने नोआ और उस के पुत्रों को आशीर्वाद दिया और उन से कहा कि फलो और बढ़ो और पृथिवी को फिर से भली भांति बसाओ ।

जलप्लावन और प्राचीन काल्डिया वालों के डैल्यूज टैबलेट ।

काल्डिया वालों के डैल्यूज टैबलेट में लिखा है················" ईया " नाम ईश्वर ने अपने मुझ दास से कहा " मनुष्यों ने मेरे विरुद्ध विद्रोह मचा रक्खा है और मैं उन के विरुद्ध निष्पत्ति दूंगा····आकाश से प्रलय की वृष्टि होगी····नियत समय अब आन पहुंचा है····मैं साथ लाया प्रत्येक प्रकार के जीवन के बीज को अंपने परिवार, अपने चाकर तथा चाकरनियों तथा अपने अति निकटवर्ती मित्रों को और नौका में चढ़ गया·······

जलप्लावन और यूनानी—यूनानियों के पुराने ग्रन्थों में लिखा है कि प्रोमिथिउस का पुत्र डिउकेलियन जब कि थेसेलीकेफ़थिया राज्य पर शासन कर रहा था उस समय जूपिटर देव के कोप से यूनान में जलप्लावन आया डिउकेलियन (पहले से शिक्षा पाये रहने के कारण) अपनी धर्म्मपत्नी पाइरा के साथ एक बड़ी नौका में सवार हो गया । ९ दिनों तक जल की बाढ़ उमड़ती ही रह गई जिस में यनान के सब प्राणी नष्ट हो गए । अन्त को डिउकेलियन की नौका पर्नासिस पर्वत पर जा लगी । इस जलप्लावन से केवल ये ही दो नरनारी बचे (देखिये केसल्स कानसाइज़ साइक्लोपीडिया पृष्ठ ३९९) क्या इन कथाओं को जगत् के भिन्न २ पुस्तकों में पढ़ कर कोई शङ्का कर सकता है कि जगत् की मनुष्य जातियां प्राचीन-काल में भी एक दूसरे के साथ सम्बन्धित न थीं ? परन्तु वह सम्बन्ध कैसा थी यह जगदितिहास लिखने वाले का काम है कि दर्शाए अतः उस विषय की चर्चा हम यहीं छोड़ते हैं ।

प्राचीन काल में शुद्धि

ताण्ड्य महाब्राह्मण के सत्तरहवें अध्याय में " व्रात्यों " का वर्णन है । वहां लिखा है:—

"हीना वा एते हीयन्ते ये व्रात्यां प्रवसन्ति न हि ब्रह्मचर्य चरन्ति न कृषिन्न वाणिज्यं षोडशो वा एतत् स्तोम समाप्तुमर्हति"

जो पुरुष व्रात्य हैं वे हीनता को प्राप्त हैं। क्योंकि न तो वे ब्रह्मचर्य-व्रत की पालना करते न कृषि और वाणिज्य करते हैं उन के सुधार के लिए सोलह स्तोमों की आवश्यकता है।

"गरगिरो वा एते ये ब्रह्माद्यञ्जन्यमन्नमदन्त्य दुरुक्तवाक्यं दुरुक्तमाहुरदण्ड्यं दण्डेन घ्नन्तश्चरन्त्यदीक्षिता दीक्षितवाचं वदन्ति षोडशो वा एतेषां स्तोमः पाप्मानन्निर्हन्तुमर्हति"

गरल (विष) के खाने वाले, ब्राह्मणों के अन्न को जो बलात् खा जाते हैं, शोभायुक्त वाक्यों के स्थान में जो दुष्टवाक्यों का प्रयोग करते हैं जो अदण्ड्य अर्थात् निरपराध पुरुष हैं उन को जो दण्ड से (डाकू की तरह) पीटते फिरते हैं जो स्वयं हैं तो अदीक्षित परन्तु अपने को दीक्षित बताते हैं (ऐसे बहुरूपिया विपरीत आचरण वाले व्रात्य) यदि शुद्ध होना चाहें तो षोडश स्तोम का सेवन करें वह उन के दोषों को दूर कर सकता है।

ताण्ड्य ब्राह्मण के उक्त सत्तरहवें अध्याय में ही आगे चल कर उस विधि का वर्णन है जो शुद्ध होने वाले व्रात्यों को धारण करनी पड़ती थी। अतः सिद्ध होता है कि प्राचीन समय के आर्य उन २ पुरुषों को भी सुधारने की पूरी चेष्टा करते थे जो आर्यविगर्हित-पथ अवलम्बन कर भ्रष्ट हो जाया करते थे।

द्वितीयोभागः सम्पूर्णः ॥
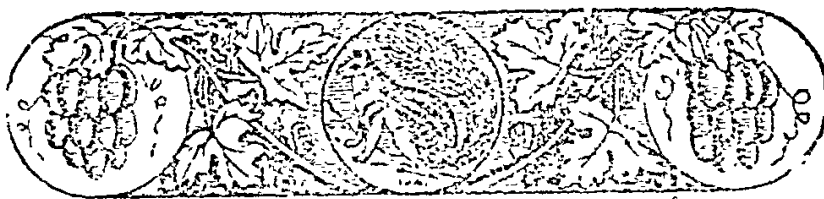
तृतीय भाग

मनुस्मृति के समय का इतिहास

प्रथम परिच्छेद

मनुस्मृति का निर्म्माण

मनुस्मृति कब बनी—यवन, काम्बोज और शक–मनुस्मृति के श्लोक महाभारत में–मनुस्मृति के श्लोक बाल्मीकिरामायण में–मनुस्मृति के परस्पर विरुद्ध श्लोक–असल श्लोकों की जाच की कसौटी–पुराकालीन ऐतिहासिक घटनाओं के निरूपण में भ्रम का कारण–ब्रह्मा, विराट्, मनु, मरीचि, भृगु, स्वायम्भुवमनु–मनुस्मृति की उत्पत्तिविषयक दो अनुमान और हमारी अन्तिम सम्मति–प्रायः तीन सौ श्लोक मनुस्मृति से निकल गए हैं और प्रायः ४०० श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

श्लोकबद्ध मनुस्मृति जिस में आज कल प्रायः २६८४ श्लोक* मिलते हैं हमें किन २ ऐतिहासिक बातों की शिक्षा देती है इस विषय पर विचार करने के पूर्व आवश्यक है कि हम यह निर्णय करलें कि यह मनुस्मृति कब बनी।

श्लोकबद्ध मनुस्मृति कब बनी–योरोपीय ऐतिहासिक आनरेब्ल एलफिंस्टन साहब अपने ग्रन्थ हिस्ट्री आफ़ इंडिया (पञ्चमावृत्ति) के पृष्ठ ११–१२ में लिखते हैं:—

"The first complete picture of the state of society is afforded by the code of laws which bears the name of Manu and which was probably drawn up in the 9th century before Christ".

अर्थात् सामाजिक दशा का प्रथम पूर्णचित्र उस धर्मशास्त्र से ज्ञात होता है

---

* देखिए सन् १८८७ ई० की मुम्बई "निर्णयसागर" प्रेस की छपी हुई मनुस्मृति जिस पर कुल्लूकभट्ट की टीका है।

जिस पर मनु का नाम है और जो कदाचित् ईसा के जन्म से पूर्व नवीं शताब्दी में निर्मित हुआ था (अर्थात् अब से प्रायः २८०० अट्ठाइस सौ वर्ष पूर्व) ।

इसी विषय में ऐतिहासिक डाक्टर हंटर साहब अपने ग्रन्थ "दि इण्डियन एम्पायर" (द्वितीयावृत्ति) के फुर्स्टवाल्यूम (प्रथम खण्ड) के पृष्ठ ११३ में लिखते हैं:—

"It is a compilation of the customary law current probably about the 5th century B. C.........the present code must have been compiled between 100 and 500 A. D"

अर्थात् व्यावहारिक नियमों का यह (मनुस्मृति) एक संग्रह है जो (नियम) कि ईसा के जन्म से पूर्व प्रायः पांचवीं शताब्दी में प्रचरित थे............परन्तु वर्त्तमान (श्लोकबद्ध) धर्म्मशास्त्र तो १०० एक सौ से ५०० पांच सौ ईसवी के बीच ही संगृहीत हुआ होगा ।

इसी विषय में सरडवलिउजोंस साहब, हफ्टंस इंस्टिटिउट्स आफ़ हिन्डूला की भूमिका पृष्ठ १० में लिखते हैं:—

"The laws of Manu very probably were considerably older than those of Solon or even of Lycurgus, although the promulgation of them, before they were reduced to writing, might have been coeval with the first monarchies established in Egypt and India."

अर्थात् मनु के रामनियम, अधिक सम्भव है कि सोलन अथवा लाइकरगस * के राजनियमों से भी बहुत पुराने हों, यद्यपि लेखबद्ध होने के पूर्व मनु के राजनियम (उक्त काल से भी अधिक प्राचीन समय से अर्थात्) उस समय से भी प्रचरित हों जब कि मिश्र † तथा भारत में प्रथम २ राज्य स्थापित हुए थे ।

---

* सोलन और लाइकरगस यूनान के दो राज व्यवस्थापक थे जिन में से सोलन ईसा के जन्म से प्राय: ६०० छ: सौ वर्ष पूर्व विद्यमान था और लाइकरगस ईसा के जन्म से प्रायः ९०० नौ सौ वर्ष पूर्व था ।

† 'थियाजोनी आफ़ दि हिन्दूज़' नामग्रन्थ के पृष्ठ ४५ में लिखा है कि:-"The oldest king found on the Egyptian tables of Matho (viz the head of the Tinite Thebaine

इसी विषय में प्रोफ़ेसर जीबुहलर साहब अपनी पुस्तक लाजआफ़मनुकी भूमिका पृष्ठ ११४ तथा ११७ में लिखते हैं:—

"As the Yavanas are named together with the Kambojas of Kabulis exactly in the same manner as in the edicts of Asoka, it is highly probable that Greek subjects of Alexander's successors, and especially the Bactrain Greeks are meant...........I think it so far to rely more on the mention of the Yavanas, Kambojas, and Sakas and to fix the remoter limit of the work about the beginning of the 2nd century A. D. or somewhat earlier. This estimate of the age of the Bhrigu Samhita, aocording to which it certainly existed in the 2nd century A. D. and seems to have been composed between that date and the 2nd century. B. C., agrees very closely with the views of Professor Cowell and Mr. Talboys Wheeler."

अर्थात् क्योंकि यवनों का नाम काम्बोज * वा काबुलियों के साथ ठीक ठीक उसी प्रकार आया है जिस प्रकार कि (ये नाम) अशोक के शिलालेख में आए हैं अत: अधिक सम्भव है कि इस से (यवन शब्द से) अलक्षेन्द्र के उत्तराधिकारियों की ग्रीक प्रजा और विशेषकर बैकट्रियन ग्रीक लक्षित हों....मैं समझता हूं कि यह अधिकतर (रक्षित) ठीक होगा कि यवन, काम्बोज और शक (शब्दों) के वर्णन पर अधिकतर निर्भर किया जाय और इस ग्रन्थ का पिछला समय प्राय: द्वितीय ईसवी शताब्दी का आरम्भ अथवा कुछ पूर्व निश्चित किया जाय। भृगुसंहिता (श्लोकबद्ध मनुस्मृति) के समय की यह (आनुमानिक) गणना (जिस के अनुसार

---

dynasty) who reigned 5867 years B. C. and 2000 year before Saufi the founder of the Gizeh Pyramid" अर्थात् मैंथो की मिश्रियों की सूची से ज्ञात होता है कि उन का सब से प्राचीन राजा अर्थात् तिनित थी वेन वंश का आदि पुरुष ईसा के जन्म से ५८६७ वर्ष पूर्व राज करता था अर्थात् "गिज़ह" की समाधि के संस्थापक 'सौफी' के समय से २००० दो सहस्र वर्ष पूर्व।

* नोट:—प्रोफ़ेसर बुहलर साहब का यह कथन कि काम्बोज काबुलियों को कहते थे किसी प्रमाण से पोषित दीख नहीं पड़ता। मिस्टर जे एफ़ ह्वाइट साहब के "उत्तरीयभारत के प्राचीन इतिहास" विषयक लेख जो रायल एशियाटिक सोसायटी के १८८८ तथा १८८९ के जर्नल में छपे हैं और जिन्हें बड़ी प्रशंसा के साथ ऐतिहासिक मिस्टर रागोज़िन ने अपनी

द्वितीय ईसवी शताब्दी में यह अवश्य ही विद्यमानथी और जिस के अनुसार यह उक्त समय तथा ईसा के जन्म से पूर्व द्वितीय शताब्दी के बीच निर्म्मित हुई ज्ञात होती है) प्रोफेसर काउएल तथा मिस्टर टाल्वोयाज़्ह्वीलर के मन्तव्यों के साथ बहुत अधिक मिलती है।

श्लोकबद्ध मनुस्मृति के निर्माणकाल के विषय में हमने जो उक्त चार योरोपीय ऐतिहासिकों की सम्मति उद्धृत की है उस से ज्ञात होगा कि ये एक दूसरे का खण्डन कर रहे हैं। जब कि डाक्टर हंटर इसे १०० तथा ५०० ईसवी के बीच बनी हुई बतलाते हैं, सरडबलिउजोंस साहब इसे ईसा के जन्म से कम से कम ९०० नौ सौ वर्ष पूर्व का बना हुआ मानते हैं और इस के नियमों का प्रचार ईसा के जन्म से प्राय: ५८६७ वर्ष पूर्व भी मानते हैं।

आनरेब्लएलफिस्टन साहब ने मनुस्मृति के निर्माणकाल का जो अनुमान प्रस्तुत किया है उस के लिये उन्होंने कोई पुष्ट प्रमाण नहीं दिया। ज्ञात होता है कि उन्हों ने वेदों का संग्रहकाल जो ईसाके जन्मसे प्राय: १४०० वर्ष पूर्व माना है इसी कारण उन्हें मनुस्मृति का काल उक्त १४०० वर्ष के पीछे मानना पड़ा है। क्योंकि उक्त कालों का अनुमान उक्त ऐतिहासिक ने किसी पुष्ट प्रमाण पर निर्भर नहीं दिखलाया इस कारण उन की सम्मति उन की निज सम्मतिमात्र समझी जायगी। वह अन्यों के लिए भी ऐतिहासिक घटना की तरह माननीय नहीं हो सकती।

डाक्टर हंटर साहब ने मनुस्मृति के निर्माण का काल जो १०० एक सौ तथा ५००, पांच सौ ईसवी के बीच बतलाया है उन्होंने भी अपने कथनों की पुष्टि में सिवाय इस के और कुछ नहीं लिखा कि इस विषय में अमुक योरोपीय विद्वान् की यह सम्मति है और अमुक विद्वान् की यह, और जिन २ विद्वानों की सम्मति आप

पुस्तक वैदिक इण्डिया पृष्ठ २८८ में उद्धृत किया है उन से तो पता लगता है कि 'काम्बोज' ब्रह्मपुत्र तथा ऐरावती नदियों के किनारे आसाम देश के निकट रहते थे, यथा:—Their (Kolarian's) languages are allied to those used on the Brahmaputra and the Irrawady by the Kambojans and the Assamese" अर्थात् कोलेरियों की भाषा उस भाषा से मिलती है जिसे ब्रह्मपुत्र तथा ऐरावती के किनारे बसने वाले काम्बोज और आसामी बोलते हैं (ध्यान रहे कि यूरोपीय ऐतिहासिक कोलेरियों को भारत में आर्यों से भी पूर्व आया हुआ मानते हैं, परन्तु जहां तक हमें ज्ञात है उन के इस कथन की पुष्टि आर्य्यावर्त्त के किसी भी प्राचीन ग्रन्थसे नहीं होती)।

ने लिखी है वे भी मनुस्मृति को भिन्न २ समयों में बना हुआ बतलाते हैं अतः डाक्टर हंटर साहब का भी मनुस्मृति के निर्माणकालविषय का लेख मान्य दृष्टि से नहीं देखा जा सकता ।

हां, सरडबलिउ जोंस साहब मनुस्मृति की प्राचीनता के कुछ पोषक ज्ञात होते हैं और वह अनुमान करते हैं कि कोई भी राज्यशासन राजनियमों के विना नहीं चल सकता और मनुस्मृति से पुराना आर्यों का कोई राजनियम दिखलाई नहीं देता और क्योंकि आर्यों ने अति प्राचीनकाल में राज्यस्थापन किया था, अतः सम्भव है कि मनु के नियम ईसा के जन्म से प्रायः ९८६७ वर्ष पूर्व प्रचरित हों, अस्तु । यद्यपि सरडबलिउजोंस की बातें आर्य्यकर्णों को अन्यों के कथनों की अपेक्षा मधुर ज्ञात होंगी तथापि प्रमाणों के सन्मुख प्रस्तुत नहीं रहने से इतिहास का प्रेमी ऐसे कथनों पर भी श्रद्धा नहीं कर सकता (सम्भव है कि सरडबलिउजोंस ने किसी अन्य पुस्तक में इस विषय में कुछ विशेष लिखा हो परन्तु हमें कोई वैसी पुस्तक नहीं मिली इस कारण अपनी यह सम्मति लिखनी पड़ी) ।

अब शेष रह गई प्रोफ़ेसर जी बुहलर साहब की सम्मति की समालोचना।योरोपीय ऐतिहासिक इन्हें अच्छा संस्कृतज्ञ समझते हैं और इन्होंने मनुस्मृति पर अंग्रेजी टीका भी लिखी है और मनुस्मृति के निर्माणकालविषय में कतिपय प्रमाण भी प्रस्तुत किए हैं अतः इन के कथनों पर विशेष सावधानता से विचार करना चाहिए । प्रोफ़ेसरजी बुहलर साहब जो मनुस्मृति का निर्माण काल "ईसा के जन्म से दो शताब्दी पूर्व" और "ईसा के पश्चात् सन् ईसवी दूसरी शताब्दी" के बीच (२०० बी, सी से २०० ए, डी के बीच) अनुमान करते हैं और उस में वह जो हेतु देते हैं उस का सारांश यह है कि मनुस्मृति अध्याय दश के श्लोक ४४ चवालीस "पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः। पारदापह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः" में जो "काम्बोजा यवनाः शकाः" पाठ आया है वह सिद्ध करता है कि जिस समय भारतवासियों का सम्बन्ध अलक्षेन्द्र (अलकज़ेंडर वा सिकन्दर) के उत्तराधिकारियों की यूनानी (यवन) प्रजा और विशेष करि बैक्ट्रिया राज्य की यूनानी प्रजा के साथ हुआ तब यह मनुस्मृति बनी ।

अलक्षेन्द्र के सेनापति सैल्यूकस का राज्य बैक्ट्रिया में भी था जहां कुछ यूनानी बसते थे । सैल्यूकस ने जब से महाराज चन्द्रगुप्त से सन्धि की तब से

बैक्ट्रिया पर चन्द्रगुप्त पुनः उन के पुत्र विन्दुसार और पुनः विदुन्सार के पुत्र अशोक का प्रभाव क्रमशः बढ़ता गया और बैक्ट्रिया के यूनानी (यवनों) का वारम्वार गमनागमन भारत में होने लगा और क्योंकि महाराज अशोक का राज्य ईसा के जन्म से प्राय: २६० वर्ष पूर्व आरम्भ हो गया था इसी कारण ज्ञात होता है कि प्राफेसेर जी बुहलर साहब यवनों के साथ भारतवासियों का विशेष सम्बन्ध ईसा के जन्म से प्राय: दो सौ वर्ष पूर्व से मानते हैं और इसी आधार पर यवन शब्द को मनुस्मृति में देख कर अनुमान करते हैं कि इस सम्बन्ध के बाद मनुस्मृति बनी होगी जिस का समय "ईसा के जन्म से दो सौ वर्ष पूर्व" से ले कर "ईसा के बाद सन् ईसवी दो सौ" तक के बीच होगा।

मनुस्मृति में आए हुए "यवन" शब्द का अर्थ विशेष कर बैक्ट्रिया की यूनानी प्रजा है इस की पुष्टि में महाराज अशोक के पञ्चम शिलालेख को प्रोफ़ेसर बुहलर साहब प्रस्तुत करते और लिखते हैं कि क्योंकि मनुस्मृति में यवनों का नाम कम्बोज वा काबुलियों के साथ ठीक २ उसी प्रकार आया है जिस प्रकार कि (ये नाम) अशोक के शिलालेख में आए हैं अतः अधिक सम्भव है कि इस से (यवन शब्द से) अलक्षेन्द्र के उत्तराधिकारियों की ग्रीक (यूनानी) प्रजा और विशेष कर बैक्ट्रियन ग्रीक लक्षित हों। *

---

* नोट यवन, काम्बोज, और शक शब्द विदेशी भाषा के नहीं प्रत्युत शुद्ध संस्कृत के हैं। देखिए वाचस्पत्य कोष पृष्ठ ४७७६ वहां "यवन" शब्द की व्युत्पत्ति "यु" धातु से बतलाई है और यह भी लिखा है कि यह शब्द "वेग" और "गोधूम" अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, हां इस का अर्थ देश विशेष वा वहां के निवासी वा वहां का राजा भी लिखा है। अतः मनु के अध्याय दश श्लोक ४३ तथा ४४ का अभिप्राय यही ज्ञात होता है कि यवनादि कई जातियों की उत्पत्ति क्षत्रियों से ही हुई थी परन्तु ज्ञानी ब्राह्मणों का सत्संग छूटने से ये वृषलत्व वा भ्रष्टता को प्राप्त हो गए।

"काम्बोज" शब्द भी शुद्ध संस्कृत का है। वाचस्पत्य कोष पृष्ठ १९०६ में काम्बोज का अर्थ लिखा है "कम्बोजोऽभिजनो यस्य" अर्थात् कम्बोज है देश जिन का वे काम्बोज कहलाते हैं और "सोमवल्के", "पुण्यागवृक्षे", "श्वेतखदिरे", "गुञ्जायां" इन अर्थों में भी काम्बोज शब्द का प्रयुक्त होना लिखा है।

"शक" शब्द भी शुद्ध संस्कृत का है। वाचस्पत्यकोष पृष्ठ ५०७२ में इस शब्द का अर्थ लिखा है "जातिभेदे स च व्रात्यक्षत्रियः" एक प्रकार की जाति के लोग जो कि व्रात्यक्षत्रिय थे।

प्रोफ़ेसर बुहलर साहब का केवल इतना कथन ठीक है कि यवन शब्द ग्रीक वा यूनानी प्रजा का बोधक है (परन्तु स्मरण रहे कि यवन शब्द का अपभ्रंश यूनानी शब्द है अर्थात् यवन शब्द से यूनानी शब्द की उत्पत्ति हुई है न कि यूनानी शब्द से यवन शब्द की । अर्थात् जो लोग पहले यवन कहलाते थे इन्हीं में से कुछ लोग पीछे से जिस देश में जा बसे होंगे उस का नाम यवनीय Ionia पड़ा होगा और पुनः वही जाति यवनानी वा यूनानी कहलाने लगी होगी और देश का नाम भी यूनान पड़ गया होगा) परन्तु उन का यह अनुमान ठीक नहीं कि भारतवासी और यवनों का विशेष सम्बन्ध ईसा के जन्म से प्रायः दो सौ वा तीन सौ वर्ष पूर्व से ही आरम्भ हुआ ।

ग्रन्थ महाभारत में जहां सम्राट् युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ का वर्णन है तथा जहां कौरव पाण्डवों के युद्ध का वर्णन है उन प्रकरणों को देखिए तो ज्ञात होगा कि कितने विदेशी महाराज उक्त समयों पर भारत में आए थे। वहां स्पष्ट लिखा है कि विडालाक्ष नाम यवन राजा पधारे थे । क्या यह घनिष्ट सम्बन्ध नहीं कि सम्राट् युधिष्ठिर निमन्त्रण वा संदेशा भेजें और यवनराज उन के यज्ञ वा युद्ध में सम्मिलित हों ?

इन प्रकरणों के अतिरिक्त "यवन" जाति का नाम महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय ३३, श्लोक २१ में भी आया है और साथ ही "काम्बोज" और "शक" जातियों के भी नाम आए हैं यथाः—

शका यवनकाम्बोजास्तास्ताः क्षत्रियजातयः ।
वृषलत्वं परिगता ब्राह्मणानामदर्शनात् ॥

पुनः महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ६५, श्लोक १३ में भी "यवन" जाति का नाम आया है और साथ ही "शक" जाति का नाम भी पुनः । श्लोक १४ में काम्बोज जाति का नाम भी आया है यथाः—

यवनाः किराता गान्धाराश्चीनाः शवरबर्बराः ।
शकास्तुषाराः कङ्काश्च पह्लवाश्चान्ध्रमद्रकाः ॥
पौण्ड्राः पुलिन्दा रमठाः काम्बोजाश्चैव सर्वशः ।
ब्रह्मक्षत्रप्रसूताश्च वैश्याः शूद्राश्च मानवाः ॥

पुनः महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय ३९ श्लोक १८ में भी यवन शब्द का पाठ है यथाः—

किराता यवनाश्चैव तास्ताः क्षत्रियजातयः ।
वृषलत्वमनुप्राप्ता ब्राह्मणानाममर्षणात् ॥

महाभारत के उक्त श्लोकों में यवन, काम्बोज और शक जातियों के नाम देख-कर भी यदि कोई कहे कि मनुस्मृति की तरह महाभारत भी ईसा के जन्म से प्रायः दो सौ वर्ष पूर्व बना तो उस के कथनों को कोई भी इतिहास का प्रेमी कैसे स्वीकार कर सकता है ?

योरोपीय ऐतिहासिक आनरेब्ल ऐलफिंस्टन साहब महाभारत के युद्ध के विषय में अपने ग्रन्थ हिस्ट्री आफ़ इंडिया पञ्चमावृत्ति के पृष्ठ २२७ में लिखते हैं:-

"The date of the war has already been discusséd. It was probably in the fourteenth century before Christ"

अर्थात् उस (महाभारत) युद्ध की तिथि पर विचार हो चुका। सम्भव है कि यह ईसा के जन्म से पूर्व चौदहवीं शताब्दी में हुआ हो ।

एवं अन्यान्य योरोपीय ऐतिहासिक भी महाभारत युद्ध को ईसा के जन्म से २०० वर्ष पूर्व से भी विशेष पूर्व का मानते हैं । अतः सम्राट् युधिष्ठिर के समका-लीन यवनराजा विडालाक्ष का सम्बन्ध एवं यवनों का घनिष्ट सम्बन्ध भारत से उन योरोपीय ऐतिहासिकों को भी ईसा के जन्म से २०० वर्ष पूर्व से भी बहुत पूर्व का मानना चाहिये था ।

इटैली के प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ गौरीशिव Gorresio रामायण के अपने अनुवाद की भूमिका में लिखते हैं:—

The name of Yavanas may have been anciently used by the Indians to denote the nations situated to the west of India; more recently, that is after the time of Alexander, it was applied *principally* to the Greeks.

ऐसा हो सकता है कि भारतवासियों ने "यवन" नाम का प्रयोग प्राचीन समय में उन सब मनुष्यजातियों के लिए किया हो जो भारत से पश्चिम की ओर बसते हैं और पिछले दिनों अर्थात् अलक्षेन्द्र के समय के पीछे इस शब्द का विशेष प्रयोग यूनानियों के लिए करते हों ।

एवं काम्बोज और शक जातियों का भी सम्बन्ध भारत से अति प्राचीनकाल से चला आता है।

आगे चल कर पञ्चमभाग में जब हम महाभारत का विषय लिखेंगे तो बतलाएंगे कि महाभारत युद्ध के समय निरूपण में योरोपीय ऐतिहासिक किस प्रकार भूल करते हैं और यह भी सिद्ध करेंगे कि यह युद्ध अब से प्रायः पांच सहस्र वर्ष पूर्व हुआ था।

मनुस्मृति के श्लोक महाभारत में—श्लोक बद्ध मनुस्मृति को जो लोग बहुत प्राचीन मानते हैं उन की ओर से निम्नलिखित प्रकार तर्क किया जा सकता है:—

मनुस्मृति में कहीं भी महाभारत वा महर्षि व्यास का नाम नहीं आया है और महाभारत में राजर्षि मनु का नाम बड़ी प्रतिष्ठा के साथ बारम्बार आया है, यथा:—

१—"मनुनाऽभिहितं शास्त्रं यच्चापि कुरुनंदन!"
(महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय ४७ श्लोक ३९)

२—"तैरेवमुक्तोभगवान् मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्"
(महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३६, श्लोक ९)

३—"एष दायविधिः पार्थ! पूर्वमुक्तः स्वयम्भुवा"
(महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय ४७ श्लोक ९८)

४—"सर्वकर्मस्वहिंसां हि धर्म्मात्मा मनुरब्रवीत्"
(महाभारत, शान्तिपर्व, मोक्षधर्म) इत्यादि इत्यादि।

अतः सिद्ध होता है कि महाभारत के पूर्व मनुस्मृति विद्यमान थी जिस महाभारतरचयिता ने राजर्षि मनु के कथनों को प्रमाणरूप से महाभारत में लिखा है।

परन्तु प्रतिवादी तर्क कर सकता है कि महाभारत के उक्त श्लोकों से यह तो निस्सन्देह सिद्ध होता है कि राजर्षि मनु महाभारत से पहले विद्यमान थे परन्तु यह सिद्ध नहीं होता कि श्लोक बद्ध मनुस्मृति भी महाभारत के पूर्व विद्यमान थी, सम्भव है कि आपस्तम्बादि सूत्रग्रन्थों में जिस मानवधर्म्मसूत्र का नाम आया है उस धर्म्म सूत्र के रचयिता राजर्षि मनु का नाम महाभारत में आया हो।

इस का उत्तर यह है कि मनुस्मृति अध्याय ९ का निम्नलिखित ३२१ वां श्लोक:—

अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम् ।
तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥

महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ५६ में ज्यों का त्यों आता है जहां कि इस श्लोक की संख्या २४ है और इस चौबीसवें श्लोक के पूर्व जो तेईसवां श्लोक है उस में लिखा है " मनुना चैव राजेद्र ! गीतौ श्लोकौ महात्मना " अर्थात् हे राजेद्र ! मनु नाम महात्मा ने इन श्लोकों को कहा है। जब कि मनुस्मृति के श्लोक को महाभारत में उद्धृत करता हुआ पुरुष लिखता है कि यह श्लोक मनु का है तब क्यों न माना जाय कि श्लोकबद्ध मनुस्मृति महाभारत से पहले विद्यमान थी?

मनुस्मृति अध्याय ९ के उक्त ३२१ वें श्लोक के अतिरिक्त मनुस्मृति के निम्नलिखित श्लोक भी ज्यों के त्यों महाभारत में आते हैं:—

१—यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये ।
अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति ॥
(मनु ११।७।)

द्रष्टव्यः—यह श्लोक ज्यों का त्यों महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय १६५ में आता है जहां इस की संख्या ५ है (पांचवां श्लोक है)

२—योऽनाहिताग्निः शतगुरयज्वा च सहस्रगुः ।
तयोरपि कुटुम्बाभ्यामाहरेदविचारयन् ॥
(मनु ११।१४।)

द्रव्यष्टः—यह श्लोक भी ज्यों का त्यों महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय १६५ में आता है जहां इस श्लोक की संख्या ९ है।

३—संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन् ।
याजनाऽध्यापनाद्यौनान्नतु यानासनाशनात् ॥
(मनु ११।१८०।)

द्रष्टव्यः—यह श्लोक भी ज्यों का त्यों महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय १६५ में आता है जहां इस श्लोक की संख्या ३७ है।

४—नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् ।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा ॥
(मनु ६।४५।)

द्रष्टव्यः—यह श्लोक ज्यों का त्यों महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय २४५ में आया है जहां यह १५ वां श्लोक है।

५—ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति ।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते ॥
(मनु २।१२०।)

द्रष्टव्यः-यह श्लोक ज्यों का त्यों महाभारत अनुशासनपर्व अध्याय १०४ में आया है जहां यह ६४ वां श्लोक है। मुम्बई वाले महाशय गणपतिकृष्णा जी के छपाए महाभारत में तो "प्रत्युत्थान" ही पाठ है परन्तु कलकत्ते के महाशय प्रतापचन्द्र राय जी के छपाए महाभारत में "अभ्युत्थान" पाठ है।

मनुस्मृति के उक्त श्लोक जो ज्यों के त्यों महाभारत में आए हैं इन के अतिरिक्त मनुस्मृति के निम्नलिखित श्लोक किञ्चित् परिवर्त्तनों के साथ महाभारत में आए हैं:—

१—यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥
(मनु० अ० २, श्लोक १५७)

१—यथा दारुमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
ब्राह्मणश्चानधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥
(महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३६ श्लोक ४७)

द्रष्टव्यः—जो अर्थ मनुस्मृति के श्लोक १५७ का है वही अर्थ महाभारत में आये हुए श्लोक ४७ का है।

२—सर्वरत्नानि राजा तु यथार्हं प्रतिपादयेत् ।
ब्राह्मणान् वेदविदुषो यज्ञार्थं चैव दक्षिणाम् ॥
(मनु अ० ११, श्लोक ४)

२—सर्वरत्नानि राजा हि यथार्हं प्रतिपादयेत् ।
ब्राह्मणा एव वेदाश्च यज्ञाश्च बहुदक्षिणाः॥
(महाभारत, शान्तिपर्व, अ० १६५, श्लोक ४)

३—यो वैश्यः स्याद् वहुपशुर्हीनक्रतुरसोमपः।
कुटुम्बात्तस्य तद् द्रव्यमाहरेद्यज्ञसिद्धये॥
(मनु, अ० ११, श्लोक १२)

३—यो वैश्यः स्याद् वहुपशुर्हीनक्रतुरसोमपः।
कुटुम्बात्तस्य तद्वित्तं यज्ञार्थं पार्थिवो हरेत्॥
(महाभारत, शान्तिपर्व, अ० १६५, श्लोक ७)

४—नरके हि पतन्त्येते जुह्वन्तः स च यस्य तत्।
तस्माद्वैतानकुशलो होता स्याद् वेदपारगः॥
(मनु० अ० ११, श्लोक ३७)

४—नरके निपतन्त्येते जुह्वानाः स च यस्य तत्।
तस्माद्वैतानकुशलो होता स्याद् वेदपारगः॥
(महाभारत, शान्तिपर्व अध्याय, १६५, श्लोक २२)

५—पुमांसं दाहयेत् पापं शयने तप्त आयसे।
अभ्यादध्युश्च काष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत्॥
(मनु० अ० ८, श्लोक ३७२)

५—पुमांसमुन्नयेत्प्राज्ञः शयने तप्त आयसे।
अभ्याददीत दारूणि तत्र दह्येत पापकृत्॥
(महाभारत, शान्तिपर्व, अ० १६५, श्लोक ६३)

६—पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः।
गुरुराहवनीयस्तु साऽग्नित्रेता गरीयसी॥
(मनु अ० २, श्लोक २३१)

६—पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः।
गुरुराहवनीयोऽग्निः साऽग्नित्रेता गरीयसी॥
(महाभारत, शान्तिपर्व, अ० १०८, श्लोक ७)

७—पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥
(मनु० अ० ९, श्लोक ३)

७—पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने।
पुत्राश्च स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥
(महाभारत, अनुशासनपर्व, अ० ४६, श्लोक १४)

८—पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः॥
(मनु० अ० ३, श्लोक ५५)

८—पितृभिर्भ्रातृभिश्चापि श्वशुरैरथदेवरैः।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभीः॥
(महाभारत, अनुशासनपर्व, अ० ४६, श्लोक ३)

अनुमान है कि महाभारत के भिन्न २ स्थलों में कम से कम पचास श्लोक ऐसे होंगे जो मनुस्मृति से ज्यों के त्यों वा किञ्चित् परिवर्तनों के साथ उद्धृत किए गए हों। *

इतने प्रमाणों के प्रस्तुत रहते हुए कौन कह सक्ता है कि श्लोकबद्ध मनुस्मृति महाभारत से पूर्व विद्यमान न थी?

मनुस्मृति के श्लोक वाल्मीकिरामायण में:—

और महाभारत ही क्यों वाल्मीकि रामायण किष्किन्धाकाण्ड सर्ग १८ को देखिये वहां भी मनु के श्लोकों का वर्णन आता है। जहां, श्री रामचन्द्रजी अत्याचारी बाली को घायल कर उस के आक्षेपों के उत्तर में अन्याय कथनों के साथ २ यह भी कहते हैं कि तूने अपने छोटे भाई सुग्रीव की स्त्री को बलात् हरण कर और उसे अपनी स्त्री बना अनुज भार्याभिमर्श का दोषी बन चुका जिस के लिए (धर्म्म शास्त्र में) बध दण्ड की आज्ञा है इस पृथिवी के स्वामी महाराज भरत हैं (अतः तू भी उन

---

* मनुस्मृति में पाठभेद होता आया है। मनुस्मृति की टीका करने वाले मेधातिथि के समय में ५०० पांच सौ के लग भग पाठभेद मिलते थे। दूसरे टीकाकार कुल्लूकभट्ट के समय प्रायः ६५० छसौ पचास पाठभेद थे और तीसरे टीकाकार राघवानन्द के समय भी ३०० तीनसौ के लग भग पाठभेद मिलते थे और चौथे टीकाकार नन्दन के समय भी १०० एक सौ के लग भग पाठभेद थे। अतः सम्भव ह कि महाभारत में मनु के कोई २ श्लोक जो किञ्चित् परिवर्तनों के साथ आते हैं परन्तु जिस परिवर्तन वा पाठभेद से अर्थ में कुछ भेद नहीं होता, वे श्लोक महाभारत में जिस समय आए हों उस समय मनुस्मृति में भी उसी प्रकार के हों।

की प्रजा है) मैं उन की आज्ञापालन करता हुआ विचरता हूं फिर मैं तुझे यथोचित दण्ड कैसे न देता ? जैसा कि:—

" श्रूयते मनुना गीतौ श्लोकौ चारित्रवत्सलौ ।
गृहीतौ धर्म्मकुशलैस्तथा तच्चरितं मया ॥ ३० ॥
राजभिर्धृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः ।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥ ३१ ॥
शासनाद्वापि मोक्षाद्वा स्तेनः पापात्प्रमुच्यते ।
राजा त्वशासन् पापस्य तदवाप्नोति किल्बिषम् ॥ ३२ ॥"

(वाल्मीकिरामायण, किष्किन्धा काण्ड, सर्ग १८, श्लोक ३०, ३१,३२)

मनु के कहे हुए इन दो श्लोकों से ज्ञात होता है (सुना जाता है) (जो श्लोक कि चरित्रप्रतिपादन में तत्पर हैं तथा जिन्हें धार्म्मिक पुरुषों ने धारण किया है और जिन के अनुसार ही वह कर्म (तुम्हें दण्ड देने का) मैंने किया है कि " पाप किए हुए मनुष्य जब राजा से उचित दण्ड पा लेते हैं तब वे भी निर्मल हो कर सुकृत सन्तों की तरह स्वर्ग वा सुख विशेष को प्राप्त होते हैं, दण्ड पाने से वा (राजा के द्वारा)छोड़ दिए जाने से चोर अपने पाप से छूट जाता है परन्तु यदि राजा पाप के लिए चोर को दण्ड नहीं देता तो वह चोर के (पाप के फल) दुःख को प्राप्त होता है " (तात्पर्य यह है कि यदि मैं तुझे दण्ड न देता तो न तू पाप-मुक्त होता और न मैं पापी को न दण्ड देने के अपराध से बचता)

रामायण किष्किन्धाकाण्ड सर्ग १८ के उक्त श्लोक ३० तीस में मनु का नाम आया है और श्लोक ३१ तथा ३२ मनु के बतलाए गए हैं, अब परीक्षा करनी चाहिए कि रामायण का उक्त लेख कहां तक ठीक है, श्लोक ३१ तथा ३२ मनुस्मृति में कहीं मिलते हैं अथवा नहीं । उक्त दोनों ही श्लोक किञ्चित् पाठभेद से (परन्तु जिस से अर्थ में कुछ भी भेद नहीं आया) मनुस्मृति के अध्याय ८ आठ में मिलते हैं जिन की संख्या (कुल्लूकभट्ट की टीका वाली मनुस्मृति में) ३१८ तथा ३१६ है । यथा:—

१—राजभिर्धृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः ।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥
(रामायण किष्किन्धाकाण्ड सर्ग १८ श्लोक ३१)

१—राजनिर्धूतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः ।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥

[मनुस्मृति अध्याय ८ श्लोक ३१८]

२—शासनाद्वापि मोक्षाद्वास्तेनः पापात्प्रमुच्यते ।
राजा त्वशासन् पापस्य तद्वाप्नोति किल्बिषम् ॥

(रामायण किष्किन्धाकाण्ड सर्ग १८ श्लोक ३२)

२—शासनाद्वा विमोक्षाद्वा स्तेनः स्तेयाद् विमुच्यते ।
अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्याप्नोति किल्बिषम् ॥

(मनुस्मृति अध्याय ८ श्लोक ३१६)

अतः सिद्ध हुआ कि श्लोकबद्ध मनुस्मृति वाल्मीकिरामायण के पूर्व विद्यमान थी । यदि कोई कहे कि यह क्यों न माना जाय कि वाल्मीकिरामायण से ही उक्त दोनों श्लोक मनुस्मृति में आए हैं तो इस का उत्तर यह है कि मनुस्मृति में कहीं भी श्रीरामचन्द्र की वा महर्षि वाल्मीकि वा रामायण की वार्ता नहीं आई है और रामायण में स्पष्टतः मनु के श्लोकों (मनुना गीतौ श्लोकौ) की प्रशंसा विद्यमान है । अतः सिद्ध होता है कि मनुस्मृति रामायण के काल से भी पहले की है ।

उक्त प्रकार हमने संक्षेपतः यह दिखला दिया कि योरोपीय विद्वान् मनुस्मृति को थोड़े दिनों की बनी हुई सिद्ध करने के लिए किस तरह तर्क करते हैं तथा मनुस्मृति के प्राचीन होने के पक्ष में कौन २ से प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं ।

अब हम यह दिखलाना चाहते हैं कि इस विषय में

हमारी सम्मति ।

क्या है । यदि कोई वर्त्तमान मनुस्मृति को आद्योपान्त पढ़ जाय तो उसे ज्ञात होगा कि इस मनुस्मृति में **परस्पर विरुद्ध** श्लोक अनेक भरे पड़े हैं यथाः—

मांस मदिरा विषयक ।

नाऽकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥ मनु ५ । ४८ ॥

अर्थात् प्राणियों की हिंसा के विना मांस नहीं उत्पन्न होता और प्राणियों के वध से सुख नहीं मिलता अतः मांस ग्रहण योग्य नहीं है।

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥ मनु ५। ५६॥

मांस खाने, मदिरा पीने तथा मैथुन में दोष नहीं है क्यों कि इन में लोगों की प्रवृत्ति है परन्तु यदि इन्हें छोड़दें तो महापुण्य होता है।

ऊपर के श्लोक में दिखलाया है कि मदिरापान में भी दोष नहीं है परन्तु मनुस्मृति का निम्नलिखित श्लोक इसे महापाप वतलाता और मद्यप के लिये कठिन प्रायश्चित्त नियत करता है:—

सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णां सुरां पिवेत्।
तया सकाये निर्दग्धे मुच्यते किल्विषात्ततः॥ मनु ११। ९०॥

जिस द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य ने मोहवश मदिरा पी लिया हो उसे चाहिए कि आग के समान गर्म की हुई मदिरा को पीवे ताकि उस से उस का शरीर जले और वह मद्यपान के पाप से छूटे।

प्रतिष्ठा और अप्रतिष्ठा विषयक:—

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम विभ्रति॥ मनु २। १५७।

जैसे कि काष्ठ का हाथी और चमड़े का मृग होता है वैसे ही बिना पढ़ा ब्राह्मणकुलोत्पन्न है ये तीनों नाम मात्र को धारण करते हैं।

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥ मनु २। १६८॥

जो द्विजकुलोत्पन्न वेदों को विना पढ़े अन्यकार्यों में श्रम करता है वह जीता हुआ ही पुत्रादि सहित शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है।

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद् वैश्यात्तथैवच॥ मनु १०। ६५॥

(अर्थात् अत्युत्तम गुण कर्म्म स्वभाव धारण करने से) शूद्रकुलोत्पन्न पुरुष, ब्रा-

ह्मण हो, जाता है, (वैसे ही निकृष्ट गुण कर्म्म स्वभाव धारण करने से) ब्राह्मण-कुलोत्पन्न, शूद्रता को प्राप्त हो जाता है, (एवं ब्राह्मण वा शूद्र के गुण कर्म स्वभाव वाले होने से) क्षत्रिय और वैश्यकुलोत्पन्न, ब्राह्मण वा शूद्र हो जाते हैं। (जब कि एक शूद्रकुलोत्पन्न ब्राह्मण तक बन जाता था तो दूसरा शूद्रकुलोत्पन्न क्षत्रिय वा वैश्य भी बन जाता ही होगा एवं यदि एक वैश्यकुलोत्पन्न ब्राह्मण बन सक्ता था तो दूसरा वैश्यकुलोत्पन्न ब्राह्मणपद से नीचे क्षात्रपद को प्राप्त कर सक्ता ही होगा एवं कोई क्षात्रकुलोत्पन्न जब कि शूद्र तक बन जाता था तो अन्य क्षात्रकुलोत्पन्न के लिए शूद्रपद से एक पद ऊपर वैश्य बनना कठिन न होगा)।

उक्त तीनों श्लोकों के विपरीत मनुस्मृति के निम्नलिखित दो श्लोक हैं।

अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत्।
प्रणीतश्चाऽप्रणीतश्च यथाऽग्निर्दैवतं महत्॥ मनु ९। ३१७॥
एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्त्तन्ते सर्वकर्मसु।
सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत्॥ मनु ९। ३१९॥

चाहे अविद्वान् हो वा विद्वान् ब्राह्मण महती देवता है जिस प्रकार कि अग्नि प्रणीत हो वा अप्रणीत वह महती देवता है। यद्यपि ब्राह्मण इस प्रकार सब नीच कर्म्मों में लगे रहते हैं तो भी वे सब प्रकार पूजनीय ही हैं क्यों कि उन में बड़ा भारी देवत्व है।

एवं परस्परविरुद्ध श्लोक कई उद्धृत किए जा सकते हैं और प्रश्न हो सकता है कि जिस मनुस्मृति में उत्तमोत्तम ज्ञान की बातें भरी पड़ी हैं, जिस में तर्क और प्रमाणों की आवश्यकता बतलाई गई है उस के बनाने वाले क्या ऐसे मूर्ख थे कि उन्होंने अपनी पुस्तक के एक स्थल में जिस बात को कहा उसी को दूसरे स्थल में खण्डन कर दिया? ऐसा काम तो पागल का होता है, जिस का मस्तिष्क ठीक नहीं अथवा उस पुरुष का जिस की विद्या और स्मरणशक्ति बहुत ही अल्प होती है और जो अपनी उत्तरदायिता को कुछ भी नहीं समझता, अस्तु। अब विचारना यह चाहिए कि मनुस्मृति में जो परस्परविरुद्ध कई श्लोक मिलते हैं उन में से किस प्रकार के श्लोक असल ग्रन्थ के हैं और किस प्रकार के श्लोक अन्यों के प्रक्षेप किए हुए हैं।

असल श्लोकों की जांच की कसौटी ।

मनुस्मृति अध्याय २ श्लोक ८ में लिखा हुआ है ।

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा ।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै ॥

अर्थात् विद्वान् को चाहिए कि इस सब को (इस धर्मशास्त्र को) ज्ञान के नेत्रों से तथा वेद के प्रमाण से जांचे और अपने धर्म वा कर्त्तव्य में संलग्न हो जाय ।

इस प्रमाण से स्पष्ट ज्ञात होता है कि मनुस्मृति के वास्तविक श्लोकों में जो कुछ लिखा गया है वह वेदानुकूल एवं ज्ञान से परिमार्जित कर लिखा गया है और उक्त श्लोक कहता है कि जिस की इच्छा हो वह जांच ले कि यह ग्रन्थ वेदानुकूल एवं ज्ञानमय है वा नहीं ।

पुनः मनुस्मृति अध्याय १२ श्लोक १०५ में लिखा है:—

प्रत्यक्षं चाऽनुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् ।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥

अर्थात् जो कोई धर्म (वा धर्मशास्त्र)की यथार्थता जानना चाहे उसे चाहिए कि प्रत्यक्षप्रमाण, अनुमानप्रमाण तथा विविधप्रकार के आगम शास्त्र (शब्दप्रमाण) इन तीनों को भली भांति जान ले ।

इस श्लोक से तात्पर्य यह निकलता है कि इस ग्रन्थ (धर्म्म शास्त्र में प्रत्यक्ष, अनुमान वा शब्दप्रमाण के विरुद्ध कुछ भी नहीं लिखा गया है ।

पुनः मनुस्मृति अध्याय १२ के श्लोक १०६ में लिखा है:—

आर्षं धर्म्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना ।
यस्तर्केणाऽनुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥

अर्थात् जो कोई आर्षग्रन्थों तथा धर्मोपदेशों को वेद शास्त्र से अविरुद्ध तर्कों के द्वारा (अर्थात् कुतर्कों द्वारा नहीं) विचारता है वही धर्म्म का जानने वाला पुरुष होता है अन्य नहीं ।

उक्त श्लोक मानों लोगों को विस्पष्ट बतला रहा है कि इस धर्म्मशास्त्र को भी

तर्क की कसौटी पर चढ़ाओ और देखो कि विचार के पश्चात् यह कैसा ठहरता है ।

अतः सिद्ध यही होता है कि मनुस्मृति के वास्तविक श्लोकों में जो कुछ लिखा गया है वह तर्क से जांच कर, प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाणों की तुलाओं पर तोल कर लिखा गया है और इसी कारण लोग बराबर समझते आए हैं कि मनुस्मृति वेदविरुद्ध नहीं है ।

अतः इस मनुस्मृति में जितनी बातें तर्कविरुद्ध वा प्रत्यक्ष अनुमान तथा शब्द-प्रमाणों के विरुद्ध हैं (अर्थात वेदानुकूल नहीं हैं) वह सब की सब असल ग्रन्थ की नहीं प्रत्युत अन्यान्य अल्पज्ञों की हैं । बस इसी कसौटी पर मनुस्मृति के श्लोकों को चढ़ाइये और जो ठीक ठहरें उन्हें आर्ष और जो वे ठीक हों उन्हें अनार्ष समझिये ।

परन्तु मनुस्मृति के सब श्लोकों की जांच वह पुरुष कर सकता है जो मनुस्मृति पर भाष्य लिखे । यह काम हमारा नहीं अतः हम अपने प्रकरण की ओर आते हैं ।

पुराकालीन ऐतिहासिक घटनाओं के निरूपण में भ्रम का कारण—

यदि हम भी मनुस्मृति पर सम्मति प्रकाशित करने वाले डाक्टर बुहलर आदि कतिपय यूरोपीय विद्वानों की भांति तर्क करें तो हमें कहना पड़ेगा कि यह मनुस्मृति तब बनी जब कि ब्राह्मण लोग सब प्रकार के दुराचारों में फंसे हुए थे । क्योंकि मनुस्मृति अध्याय ९, श्लोक ३१९ में लिखा है कि:—

"एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु
सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्या परमं दैवतं हि तत् ॥

अर्थात् यद्यपि ब्राह्मण इस प्रकार सब नीचकर्म्मों में लगे रहते हैं तो भी वे सब प्रकार पूजनीय ही हैं क्योंकि उन में बड़ा भारी देवत्व है, परन्तु जब कोई हमारे सन्मुख मनु अध्याय २, के निम्नलिखित श्लोक २८:—

"स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥

(जिस का अर्थ है सकल विद्या पढ़ने पढ़ाने, (ब्रह्मचर्य सत्यभाषणादि) नियम पालने, होम करने (अर्थात् अग्निहोत्र करने वा सत्य के ग्रहण और असत्य के

त्याग तथा सत्यविद्याओं के दान देने), (वेदस्थ कर्म्मोपासना ज्ञान) इन तीन प्रकार की विद्याओं के ग्रहण, इज्या अर्थात् पक्षेष्ट्यादि करने, सुसन्तानोत्पत्ति करने, (ब्रह्म, देव, पितृ, वैश्वदेव तथा अतिथि नाम) पञ्चमहायज्ञों और (अग्निष्टोमादि तथा शिल्पविद्या विज्ञानादि) यज्ञों के सेवन से इस शरीर को ब्राह्मी अर्थात् (वेद और परमेश्वर की भक्ति का आधाररूप) ब्राह्मण का शरीर किया जाता है। कोई प्रस्तुत करेगा और हम से पूछेगा कि मनुस्मृति के अनुसार तो कोई पुरुष ब्राह्मण बन ही नहीं सकता जब तक कि उक्त प्रकार तप न करले, आप कैसे कहते हैं कि मनुस्मृति उस समय बनी जब कि ब्राह्मण लोग सब कुकर्मों में लिप्त थे ? तो सिवाय मौनसाधन करने के हम से कुछ उत्तर नहीं दिया जा सकेगा, और जब कि प्रश्नकर्त्ता यह कहने लगेगा कि मनुस्मृति अध्याय २ के उक्त श्लोक २८ में क्योंकि यह लिखा है कि बड़े तप से मनुष्य ब्राह्मण बनता है अतः मनुस्मृति उस समय बनी जब कि बड़े तपस्वी ही सर्वोपरि पूज्य माने जाते थे तब भी हम उस के कथनों का खण्डन नहीं कर सकेंगे।

तात्पर्य्य यह है कि कतिपय यूरोपीय ऐतिहासिकों तथा उन के कतिपय भारतीय शिष्यों की यह शैली है कि वह जब संस्कृत-ग्रन्थों में किन्हीं एक वा दो आधुनिक बातों को भी पा लेते हैं तो प्रायः उसी आधार पर उस ग्रन्थ का निर्म्माणकाल निश्चित करने लगते हैं। ग्रन्थ का काल निश्चित करने के समय जिस प्रकार वह आधुनिक बातों की ओर पूरा २ ध्यान रखते हैं उसी प्रकार उन्हें प्राचीन बातों की ओर भी पूरा २ ध्यान रखना चाहिए यदि वह आधुनिक बातों के साथ २ प्राचीन बातों का कुछ विवेचन भी करते हैं तो उन का प्राचीनकालविषयक अनुमान उन के आधुनिक काल से अधिक दूर जाने नहीं पाता कारण इस का यह है कि अनेक यूरोपीय ऐतिहासिक (जिन का नाम हम इस अध्याय के आरम्भ में ले चुके हैं वे भी) बाइबल प्रतिपादित सृष्टि समय पर विश्वास करने वाले हैं जो कि ईसाइयों के मताऽनुसार ईसा के जन्म से केवल कतिपय सहस्र वर्ष पूर्व था। यदि किसी आर्षग्रन्थ की कोई बात ईसाइयों के अनुमित सृष्टि काल से पूर्व की कही जाती है तो बाइबल के विश्वासी ऐतिहासिक उसे बाइबल विरुद्ध समझते हुए असम्भव मानने लगते हैं यही कारण है कि यूरोपीय ऐतिहासिक आर्ष ग्रन्थों के निर्म्माणकाल के निरूपण में अभी तक कृतकार्य्य नहीं हुए। मन्वन्तरों और चतुर्युगियों तथा ब्राह्मदिन की बातें जिन्हें संकल्पद्वारा प्रत्येक भारतीय कर्म्मकाण्डी कण्ठस्थ रखता है

उन्हें महान् असम्भव प्रतीत होती हैं परन्तु हर्ष की बात है कि भूगर्भविद्या के आविष्कार सृष्टि की प्राचीनता को धीरे २ पोषण कर रहे हैं और अनेक यूरोपीय विद्वान् उस पर अब श्रद्धा करने लगे हैं। अस्तु।

गत शताब्दी के संस्कृत विद्या के सब से बड़े विद्वान् स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने जब तक आर्ष और अनार्ष ग्रन्थों का लक्षण कर यह नहीं बतलाया था कि अनेक आर्षग्रन्थों में भी बहुत सी अनुचित बातें वाममार्गियों के समय से मिलती हुई चली आती हैं तब तक लोगों को संस्कृत के सत्याऽसत्य ग्रन्थों की ठीक कसौटी प्राप्त नहीं हुई थी। आर्ष ग्रन्थों में स्वार्थपरता मद्यमांससेवनादि कुत्सितकर्मों के विधायक जितने वचन हैं वे सब के सब वाममार्गियों के मिलाए हुए हैं क्योंकि ऐसे कुत्सित वाक्य उन्हीं आर्षग्रन्थों की महोत्तम शिक्षाओं से विरुद्ध दिखाई देते हैं। एवं मनु अध्याय ५ श्लोक ५६: —

> **न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।**
> **प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥ मनु ५। ५६॥**

को देख कर यह निश्चित नहीं करना चाहिए कि मनुस्मृति उस समय बनी जब कि वाममार्गियों की शिक्षा फैल चुकी थी। परन्तु ऐतिहासिक को कोई इस परिणाम के निकालने से नहीं रोक सकता कि मनुस्मृति उस समय भी विद्यमान थी जब कि वाममार्ग का प्रचार हो रहा था, अस्तु।

मनुस्मृति की उत्पत्ति।

(ब्रह्मा, विराट्, मनु, मरीचि, भृगु, स्वायम्भुव मनु)

प्राचीन संस्कृतग्रन्थों के अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि वर्तमान सृष्टि के आरम्भकाल में ब्रह्मा नाम एक महर्षि हुए थे, उन के पुत्र का नाम विराट् था और विराट् के पुत्र मनु हुए थे। मनु के समय में कुछ राजनैतिक चर्चा चली थी। मनु के पुत्र मरीचि भृग्वादि दश हुए जिन में से मरीचि को कुछ राजप्रबन्ध सौंपा गया था परन्तु जब इन के वंशज "स्वायम्भुवमनु" राज करने लगे तब राज प्रबन्ध की ओर लोगों का ध्यान पूर्वापेक्षा अधिकतर आकर्षित हुआ। क्योंकि कोई भी राजप्रबन्ध मौखिक वा लिखित राजव्यवस्था के बिना नहीं हो सकता अतः अनुमान किया जाता है कि जब से राजनैतिक चर्चा आरम्भ हुई तभी से राजव्यवस्था भी बननी

आरम्भ हुई। छान्दोग्य ब्राह्मण में जो यह लिखा है कि " मनुर्वै यत्किञ्चिद्-वदत् तद्भेषजं भेषजतायाः " जो कुछ मनु ने कहा है वह ओषधियों की भी ओषधि है वह अधिक सम्भव है विराट् के पुत्र मनु के विषय में ही हो, क्योंकि केवल " मनु " नाम से विशेष ज्ञानी सब से प्रथम वही प्रख्यात हुए थे। आप-स्तम्बादि धर्म्मसूत्रों में मानवधर्म्मसूत्र के वचन उद्धृत हैं इस से सिद्ध होता है कि मनु के नाम से कोई धर्म्मसूत्र भी प्रवृत्त था। परन्तु हमारे पास कोई ऐसा प्रमाण इस समय नहीं है जिस से हम सिद्ध कर सकें कि मानवधर्म्मसूत्र ही महर्षि मनु का अपना कथन है। यदि मानवधर्म्मसूत्र कहीं मिलता तो इस विषय की मीमांसा हो जाती परन्तु शोक कि वह अमूल्य रत्न भी लुट गया और इस समय उस का पता कहीं नहीं चलता। हमारा अनुमान है कि जिस धर्म्मशास्त्र को मनु ने बनाया होगा उस के "आधार पर महाराज स्वायम्भुव मनु" के समय राजप्रबन्ध की विशेष वृद्धि हो जाने के कारण अवश्य ही कुछ नये नियम बने होंगे। एवं आर्य्यों का राज्य ज्यों २ विस्तृत होता गया होगा और ज्यों २ उन के सन्मुख अनेक नूतन प्रश्न उपस्थित होते गए होंगे त्यों २ आर्य्य लोगों ने मानवधर्म्म शास्त्र के आधार पर उन प्रश्नों की मीमांसा की होगी और अधिक २ नूतन नियम भी बनाए होंगे, वर्तमान मनुस्मृति के देखने से ज्ञात होती है कि महर्षि भृगु तथा स्वा-यम्भुव मनु का नाम मानवधर्म्मशास्त्र के सम्बन्ध में बारम्बार आता है। जिस का कारण यही है कि महर्षि भृगु मानवधर्म्म-शास्त्र के प्रथम प्रचारक तथा स्वायम्भुव मनु मानवधर्म्म शास्त्र के नियमों को भली भांति कार्य्य परिणत करने वाले प्रथम बड़े राजा हुए हैं। सम्भव है कि मानवधर्म्मशास्त्र के सम्बन्ध में इन लोगों ने इतना श्रम किया हो कि उक्त शास्त्र के साथ साथ इन लोगों का नाम सम्बन्धित रखना इन से पीछे की प्रजा ने आवश्यक समझ लिया हो।

(१) **एक अनुमान**—किसी २ का एक अनुमान तो यह है कि मानव-धर्मशास्त्र के निर्माण के एक दीर्घकाल के पश्चात् जब कि किसी पुरुष ने मानवधर्मशास्त्र को श्लोकबद्ध मनुस्मृति के आकार में परिणत किया तब उस ने ही महर्षि भृगु तथा महाराज स्वायम्भुव मनु के मानवधर्मशास्त्र सम्बन्धी कथनों को भी साथ ही साथ रख दिया जिस कारण मनुस्मृति में कहीं तो मनु के नाम से लिखा है कि—

" यः कश्चित् कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥ मनु २। ७॥

अर्थात् जो कुछ जिस किसी के लिए धर्म मनु ने कहा है वह सर्व वेद में (मूलरूप से वर्तमान है क्योंकि वेद सर्व ज्ञानमय है । कहीं भृगु के नाम से लिखा है कि—

स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन् मानवो भृगुः ।
अस्य सर्वस्य शृणुत कर्मयोगस्य निर्णयम् ॥ मनु १२ । २ ॥

अर्थात् उस धर्मात्मा मनु के पुत्र भृगु ने महर्षियों से कहा कि इन सब कर्मयोग के निर्णय को सुनिए, और कहीं स्वायम्भुव मनु के नाम से लिखा है कि—

अलावुं दारुपात्रं च मृण्मयं वैदलं तथा ।
एतानि यतिपात्राणि मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥ मनु ६।५४ ॥

अर्थात् स्वायम्भुव मनु ने कहा है कि यतियों के भिक्षापात्र तूंबी, लकड़ी, मट्टी तथा बाँस के होते हैं ।

एवं इस मनुस्मृति में महर्षि मनु तथा उन के धर्मशास्त्र के आधार पर कहे हुए महर्षि भृगु तथा महाराज स्वायम्भुव मनु के कथन भी मिश्रित हैं । परन्तु इस अनुमान पर कोई भी पुरुष तब कुछ श्रद्धा कर सकता है जब कि मनुस्मृति में मनु वा भृगु वा स्वायम्भुव मनु के नाम से आए हुए कई श्लोक जो भ्रष्ट हैं प्राक्षिप्त मान लिए जांय ।

(२) **द्वितीय अनुमान**—दूसरों का अनुमान यह है कि जिन २ श्लोकों के साथ मनु वा भृगु वा स्वायम्भुव मनु लिखा है वह सब के सब प्राक्षिप्त हैं । जब मानवधर्मशास्त्र श्लोकबद्ध बन चुका तो लोग पीछे से "मनु" वा "भृगु" वा स्वायम्भुव मनु के नाम से जिन २ विषयों को अपने मन के अनुकूल चाहा मिश्रित कर दिया क्योंकि उन्होंने यह समझा होगा कि जिन श्लोकों के साथ मनु वा भृगु वा स्वायम्भुव मनु का नाम होगा वह तो अवश्य ही माननीय समझे जायंगे । अतः मनु वा भृगु वा स्वायम्भुव मनु के नाम से आए हुए श्लोक तथा वह सब श्लोक जो मनुस्मृति में ही प्रतिपादित सर्वहितसाधक सिद्धान्तों के प्रतिकूल तथा वेदाशयविरुद्ध हैं मनुस्मृति में से निकाल दिए जांय तो शेष मनु के शुद्ध उपदेश समझे जांयगे । अस्तु ।

हमारी सम्मति—वर्त्तमान मनुस्मृति के निर्माणकाल के विषय में यह है कि यह एक समय में नहीं बनी । प्रथम २ मानवधर्मशास्त्र श्लोकबद्ध

शुद्ध मनुस्मृति के रूप में कब परिणत हुआ यह अब ठीक २ निश्चित नहीं हो सकता। मनुस्मृति के सैकड़ों ऐसे श्लोक हैं जो उपनिषद् वाक्यों की भांति विशद और उच्चभावों के वर्णन करने वाले हैं। उदाहरण के लिये निम्नलिखित दो श्लोकों पर ही विचार कीजिए—

(१) प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥ मनु १२ । १२२ ॥

अर्थात् जो सब को शिक्षा देने हारा सूक्ष्म से सूक्ष्म स्वप्रकाशस्वरूप समाधिस्थ बुद्धि से जानने योग्य है उस को परम पुरुष जानना चाहिये।

(यह श्लोक "अणोरणीयान्......" "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं......" "दृश्यते त्वग्रया बुद्धया....." आदि उपनिषद् के श्लोकों से कितना मिलता है !)

(२) एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ मनु १२ । १२३ ॥

अर्थात् इस को कोई तो (स्वप्रकाशस्वरूप होने से) अग्नि कोई (विज्ञान स्वरूप होने से) मनु, कोई (सब का पालन करने और परमैश्वर्यवान् होने से) इन्द्र, कोई (सब का जीवनमूल होने से) प्राण, और कोई इसे (निरन्तर व्यापक होने से) ब्रह्म कहते हैं।

(यह श्लोक यजुर्वेद के ३२ वें अध्याय के प्रथममन्त्र—"तदेवाऽग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदुचन्द्रमाः । तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः" तथा ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त १६४ के ४६ वें मन्त्र 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः" के साथ कितना मिलता है।

क्या कभी सम्भव था कि ईश्वर तथा वेद के नाम से स्वार्थी पुरुषों के द्वारा अनेक अनर्थ जब कि बुद्धदेव के समय (ईसा के जन्म से प्रायः ५५० साढ़े पांच सौ वर्ष पूर्व) प्रवृत्त हो रहे थे तथा बुद्धदेव के समय से शताब्दियों पूर्व जब कि पशुहिंसामय यज्ञ बारम्बार हुआ करते थे ऐसे ज्ञानमय श्लोकों की रचना की ओर रुचि हुई हो ?

यदि कोई ऐसा कहे भी कि उत्तम वा निकृष्ट पुस्तक सभी समयों में बन सक्ते हैं तो भी मनुस्मृति में जगह २ जो उपनिषदों की सी ज्ञानमय लहरें चल रही हैं वह

हमें बाध्य करती हैं कि हम उन्हें उस प्राचीन समय की वतलाएं जब कि भारत में ईर्षाद्वेषरहित उपनिषदों में वर्णित शुद्ध सात्विकभाव का प्रवाह वह रहा था । परन्तु हमारा यह कथन हमारे हृदय का भावमात्र है, अन्यों को भी इस भाव के धारण करने के लिए हम वाधित नहीं कर सकते ।

इस तृतीय भाग के आरम्भ में वहुत से श्लोक मनुस्मृति के जो महाभारत में तथा रामायण में उद्धृत दिखाए गए हैं उन के विषय में जब तक कोई यह न सिद्ध करदे कि वे श्लोक महाभारत तथा रामायण से मनुस्मृति में गए तब तक यही मानना पड़ेगा कि श्लोकबद्ध मनुस्मृति महाभारत वा वाल्मीकिरामायण की रचना के पूर्व भी विद्यमान थी ।

इस मनुस्मृति में केवल महर्षि मनु के समय की वार्ता हो अथवा महाराज स्वायम्भुव मनु के समय तक की वार्ता हो ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि मनुस्मृति में आर्य्यावर्त की जो सीमा लिखी है:—

"आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्य्यावर्तं विदुर्बुधाः ॥ मनु० २।२२

वह सिद्ध कर रही है कि जब पूर्व समुद्र से पाश्चिम समुद्र तक (अर्थात् वर्तमान अर्वसागर से वंगाल की खाड़ी तक) के बीच के देश में तथा विन्ध्यगिरि के आस पास के भी वहुत से भागों में जब कि आर्य्य बस चुके थे तब यह श्लोक रचा जा सका, क्योंकि स्वायम्भुव मनु के वहुत दिन पीछे महाराज इक्ष्वाकु आर्य्यावर्त को बसाने लगे थे अतः आर्य्यावर्त की सीमासूचक उक्त श्लोक निस्सन्देह महाराज इक्ष्वाकु के समय वा उन के समय से भी पीछे बन सका होगा । इस के अतिरिक्त मनुस्मृति के श्लोकः—

"शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः ।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥ मनु १० । ४३॥
पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः ।
पारदाः पल्लवाश्चीनाः किराता दरदाःखशा ॥ मनु १० । ४४ ॥

(जिन का अर्थ है कि क्रियाओं के लोप होने से और ब्राह्मणों के न मिलने से ये क्षत्रिय जातियां धीरे २ वृषलत्व को प्राप्त हो गईं अर्थात् पतित हो गईं, "उन क्षत्रिय जातियों के नाम हैं" पौण्ड्रक, औड्र, द्रविड, काम्बोज, यवन, शक, पारद,

पल्लव. चीन, किरात, दरद और खश) सिद्ध कर रहे हैं कि आर्य्यावर्त के धर्म-परायण ब्राह्मणों का प्रचार जब किसी कारण रुक गया और उक्त चीनादि जातियां पूर्ण धर्म्मशिक्षा प्राप्त न करने लगीं तब पतित हो गईं । अर्थात् उक्त दोनों श्लोक उस समय के पश्चात् बने जब कि आर्य्यावर्त भली भांति बस चुका और इस के ब्राह्मण कुछ काल तक भली भांति धर्म्मप्रचार कर किसी कारण कुछ काल के लिए इधर उधर जाने से रुक गए । क्योंकि उक्त दशाएं महर्षि मनु वा उन के पुत्र महर्षि भृगु वा मरीचि वा उन के वंशज स्वायम्भुव मनु के समयों की नहीं हो सकीं, अतः निश्चय है कि उक्त श्लोक जो आशय प्रकट करते हैं वह उक्त महानुभावों के समयों के बहुत पीछे के हैं । इसी प्रकार के अन्यान्य भी कई श्लोक ऐसे हैं जिन के भाव तो अति उत्तम हैं परन्तु वे मनु वा भृगु वा स्वायम्भुवमनु के समयों के नहीं हो सकते । वाममार्ग की शिक्षा वाले श्लोक यथा:—

"न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ मनु० ५।५६ ॥

तथा मनुस्मृति तृतीयाध्याय के वह सब श्लोक जो भिन्न २ पशुओं के मांसों से पितरों के लिए पिण्डप्रदान की शिक्षा देते हैं तथा वह सब श्लोक जो स्वार्थपरता तथा अन्यान्य क्षुद्राशयों की शिक्षा देते हैं जो मनुस्मृति के गम्भीर आशययुक्त सर्वहितकारी सिद्धान्तों के सर्वथा प्रतिकूल हैं निस्सन्देह बहुत पीछे से मनुस्मृति के भाग बने हैं ।

इन सब कथनों को श्रवण कर कदाचित् कोई ऐसा प्रश्न करे कि यह क्यों न माना जाय कि मनुस्मृति उक्त सब अवस्थाओं के व्यतीत हो जाने पर पीछे से नवीनकाल में बनी ? तो उस का उत्तर यह है कि यदि नवीनकाल में ही मनुस्मृति बनी रहती तो इस के प्रमाण महाभारत तथा वाल्मीकि रामायण में नहीं मिलते । परन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है कि सारी की सारी वर्तमान मनुस्मृति प्राचीनकाल में विद्यमान थी क्योंकि इस में जो क्षेपकरूप आधुनिक वार्ताएं हैं वह प्राचीन काल की नहीं मानी जा सकतीं ।

मनुस्मृति से निकले हुए तथा उस में प्रक्षेप किये हुए श्लोकों की संख्या—

इस के अतिरिक्त निरुक्त अध्याय ३, पा० १ में लिखा है:—

" अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥

परन्तु यह श्लोक वा इस आशय का कोई अन्य श्लोक अब मनुस्मृति में नहीं मिलता । इसी प्रकार शङ्करादिग्विजय, मिताक्षरा, निर्णयसिन्धु, स्मृतिरत्नाकर, पराशर-माधव, स्मृतिचन्द्रिका, विवादभङ्गार्णव, प्रायश्चित्तमयूख आदि अनेक ग्रन्थों में मनु के नाम से पचासों वचन उद्धृत हैं परन्तु उन का पता वर्तमान मनुस्मृति में नहीं लगता इस से सिद्ध होता है कि मनुस्मृति में पहले बहुत से श्लोक ऐसे भी थे जिन्हें वा जिन के आशयों को अन्यान्य ग्रन्थकारों ने उद्धृत किया था परन्तु किसी कारण वे श्लोक निकल गए । ऐसा भी सम्भव है कि क्षेपक भरने वालों ने ही मनुस्मृति से श्लोकों को निकाला हो और उन के स्थानों में अपने श्लोक रख दिए हों जिस में गणना में भेद न होने पावे । परन्तु पाप एक न एक दिन प्रकट होता ही है । तदनुसार उन की अनुचित कार्य्यवाही दिनों दिन अधिक २ प्रकट होती जाती है । मनु के वचन जो अन्यान्य ग्रन्थों में मिलते हैं परन्तु अब वे मनुस्मृति में नहीं हैं उन की संख्या प्रायः ३०० तीन सौ तक अद्यावधि जानी गई है तथा जो श्लोक मनुस्मृति में क्षेपकरूप से वाममार्ग के प्रचारकाल के कुछ समय पूर्व वा पीछे से मिलाए गए हैं उन की संख्या प्रायः ४०० चार सौ तक है ।

हमारे ऊपर के लेख को अवलोकन कर तथा अधीर हो कर कोई ऐसा भी कह सक्ता है कि जब कि मनुस्मृति इस प्रकार जोड़ तोड़ और काट छांट के भीतर पड़ चुकी है तो उस पर श्रद्धा करना भी व्यर्थ ही है । परन्तु ऐसे कथन करने वाले को हम सम्मति देंगे कि वह एक वार आद्योपान्त मनुस्मृति को पढ़ जावे पुनः मनुस्मृति के बहूमूल्य रत्न जो कूड़े करकट के साथ २ भी दमक रहे हैं वे आप ही उन के मन को आकर्षित करलेंगे । अब इन बातों को छोड़ कि इस मनुस्मृति में अमुक २ श्लोक मनु वा भृगु वा स्वायम्भुव मनु की प्राचीन शिक्षाऽनुसार कहे जा सक्ते हैं तथा अमुक २ श्लोक श्रीमान् महाराज इक्ष्वाकु के समय के पीछे के किसी धार्म्मिक विद्वान् वा विद्वानों के कहे हुए तथा अमुक २ श्लोक वाममार्ग के प्रचार के कुछ समय पूर्व वा पीछे के किन्हीं साधारण पढ़े लिखे तथा स्वार्थप्रिय लोगों के हैं, हम २६८४ श्लोक पूर्ण वर्तमान मनुस्मृति से कतिपय लाभकारी विषयों को संक्षेपतः अङ्कित करते हैं ॥

द्वितीयपरिच्छेद।

वर्णाश्रमधर्म।

आर्य्य और दस्यु—द्विजाति और शूद्र—व्रात्य—अनुलोमज, प्रतिलोमज, वर्णसङ्कर चारवर्ण—ब्राह्मण—क्षत्रिय—वैश्य—शूद्र—क्या शूद्र ही आर्य्यावर्त के आदि निवासी हैं? शूद्र वा गुलाम—चारों वर्णों के सामान्यधर्म—आश्रमों की व्यवस्था—ब्रह्मचर्य्याश्रम—गुरु और शिष्य—अनध्याय—गुरु ही वर्ण व्यवस्थापक था—गृहस्थाश्रम—एक पुरुष की एक पत्नी—स्वयम्वरविवाह—कन्याविक्रय का निषेध—पञ्चमहायज्ञ—खाद्याऽखाद्य—साधारण स्वच्छता सम्बन्धी नियम—मान्य के नियम—स्त्रियों की स्थिति—वानप्रस्थ—संन्यास—सब आश्रमियों के सामान्यधर्म।

आर्य्य और दस्यु—मनुस्मृति अध्याय दश के निम्नलिखित पैंतालीसवें श्लोक से ज्ञात होता है कि संसार की मनुष्य जाति के मुख्य दो भेद थे। एक भेद के अन्तगर्त ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र थे और दूसरे भेद के अन्तर्गत वह सब मनुष्य थे जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वा शूद्रों से उत्पन्न हो कर भी (चाहें वे समवर्ण के स्त्री पुरुषों से उत्पन्न हुए हों वा विषमवर्ण के स्त्री पुरुषों से उत्पन्न हुए हों) भ्रष्टाचार के कारण दुष्ट वा दस्यु कहलाते थे। यथा:—

मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥ (मनु १०।४५।)

अर्थात इस संसार में ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों से उत्पन्न हुई परन्तु (भ्रष्टाचार के कारण) उन से बहिष्कृत हुई जो जातियां हैं चाहे वे म्लेच्छ-भाषा बोलती हों वा आर्य्यभाषा बोलती हों वे सब की सब दस्यु नाम से पुकारी गई हैं*

---

* मालूम होता है कि दस्युओं के भीतर केवल वही दुराचारी लोग सम्मिलित नहीं थे जो अतिमूर्ख होने से "आर्य्यवाचः" उस समय की आर्य्यभाषा अर्थात् संस्कृत के शब्दों को विस्पष्ट उच्चारण नहीं कर सकने के कारण म्लेच्छ भाषा बोलते हों प्रत्युत दस्युओं के भीतर उन दुराचारियों की भी गणना थी जो आर्य्यभाषा भली भांति बोल भी सक्ते थे। महर्षि पाणिनी अपने धातुपाठ में लिखते हैं "म्लेच्छ अव्यक्ते शब्दे" अर्थात् म्लेच्छ धातु का प्रयोग अविस्फुट भाषण अर्थ में होता है जिस से पता लगता है कि जो लोग अतिमूर्ख रहने के कारण संस्कृत शब्दों का ठीक २ उच्चारण नहीं कर सके और संस्कृत शब्दों को बिगाड़ २ कर बोलने लगे उन्हीं की भाषा म्लेच्छ (अविस्फुट) कहलाने लगी। क्योंकि आर्य्यावर्त तथा उस के आसपास के स्थानों से भिन्न देशों में संस्कृत का प्रचार वैसा नहीं रह सका जैसा कि आर्यावर्त में तथा इस के आस पास रहा इस कारण अन्यान्य देशों में म्लेच्छ-भाषा

इस लोक से यह भी प्रकट होता है कि संसार के मनुष्य मात्र एक दूसरे के साथ सम्बन्धित हैं क्योंकि दस्युओं की उत्पत्ति भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों से ही हुई है, दोनों कोटि के मनुष्यों में भेद केवल सदाचार और दुराचार का ही है।

जब कि उक्त श्लोकानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों से उत्पन्न हुए मनुष्य भी दुराचार के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र नहीं रह सके तो निश्चय है कि सदाचार के धारण करने पर दस्यु नामाङ्कित मनुष्य वा उन की सन्तान भी नीच नहीं बनी रह सक्ती ।

क्या वर्तमान आर्य्य, मनुस्मृति की उक्त शिक्षा पर ध्यान देंगे और अपने पुरुषाओं से बिछुड़े हुए दस्युओं की सन्तानों के बीच भी सदाचार का प्रचार कर पुनः उन्हें श्रेष्ठ बनाने की चेष्टा करेंगे ?

द्विजाति और शूद्र—मनुस्मृति अध्याय दश के निम्नलिखित चतुर्थ श्लोक से ज्ञात होता है कि वर्ण केवल चार ही होते हैं:—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः ॥ मनु १०।४ ॥

अर्थात ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीन वर्ण "द्विजाति" हैं और चौथा शूद्र "एक जाति" है (इन के अतिरिक्त) पांचवां कोई वर्ण नहीं है । ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य द्विजाति अर्थात् दो जन्म वाले इस कारण कहलाते हैं कि उन्हों ने शरीर सम्बन्धी एक जन्म तो अपने पिता माता से धारण किया था और दूसरा ज्ञानसम्बन्धी जन्म उन्हों ने गुरुनामक पिता और सावित्री नामक माता से ग्रहण किया और शूद्र एकजाति अथात् एक जन्म वाला इस कारण कहलाता है कि वह

अधिकतर फैल गई और उस के भी अनेक भेद होगये । क्योंकि जिस स्थल में जिस वस्तु की अधिकता होती है वह स्थल प्रायः उसी नाम से पुकारा जाता है यथा जिस ग्राम में अधिक वणिक हों और ब्राह्मण,क्षत्रिय और शूद्र कम हों तो उस ग्राम को प्रायः वणिकों का ग्राम कहते हैं उसी प्रकार संस्कृतभाष्यों के देश आर्य्यावर्त तथा उसके आस पास के स्थानों से भिन्न २ देशों में म्लेच्छ भाषा (मूर्खों की भाषा) बोलने वालों की अधिकता के कारण उन देशों का नाम भी म्लेच्छ देश पड़गया और इसी कारण मनुस्मृति अध्याय २ श्लोक २३ में लिखा है "म्लेच्छदेशस्ततःपरः" अर्थात् आर्य्यभाषियों के देश से म्लेच्छ देश परे है । क्योंकि दस्युओं के भीतर आर्यभाषी कम और म्लेच्छभाषी अधिक थे इस कारण सम्भव है कि कालांतर में दस्युओं का नाम म्लेच्छ भी पड़ गया हो ।

शरीरसम्बन्धी केवल एक जन्म अपने पिता माता से ग्रहण कर सका और गुरु की शरण में उपस्थित हो ज्ञानसम्बन्धी दूसरा जन्म धारण न कर सका । परन्तु ऐसा नहीं समझना चाहिये कि जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वा शूद्रकुल में उत्पन्न हुआ वह सदा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वा शूद्र ही बना रहेगा क्योंकि मनुस्मृति अध्याय दश श्लोक ६५ में यह लिखा है:—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥ मनु । १०।६५

जिस का तात्पर्य यह है कि शूद्रकुल में उत्पन्न हो के ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य के समान गुण कर्म स्वभाव वाला हो तो वह शूद्र, ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य हो जाय वैसे ही जो ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्यकुल में उत्पन्न हुआ हो और उस के गुण कर्म स्वभाव शूद्र के सदृश हों तो वह शूद्र हो जाय वैसे ही क्षत्रिय वा वैश्यकुल में उत्पन्न हो कर ब्राह्मण वा शूद्र के समान होने से ब्राह्मण वा शूद्र भी हो जाता है।

इस श्लोक से यह भी भाव टपकता है कि शूद्रों की उन्नति में प्राचीन समय किसी प्रकार की रुकावट नहीं डाली जाती थी। यदि रुकावट डाली जाती तो ब्राह्मण बनने के लिए जो पूर्णज्ञान और तपश्चरण की अवश्यकता है उसे शूद्रकुमार किस प्रकार धारण कर सकता!

इस श्लोक के भाव के विरुद्ध जो श्लोक मनुस्मृति में आते हैं वे प्रक्षिप्त हैं क्योंकि मनुस्मृति का उद्देश्य क्या है, इस विषय को वर्णन करते हुए मनुस्मृति में लिखा है:—

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै ॥ मनु० २ । ८ ।

अर्थात् विद्वान् को चाहिए कि इस सब को [इस धर्मशास्त्र को] ज्ञान के नेत्रों से तथा वेद के प्रमाणों से जांचे और अपने धर्म वा कर्त्तव्य में संलग्न हो जाय।

और क्योंकि यह परम प्रसिद्ध बात है कि वेद के मन्त्र—

"यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ब्रह्मराजन्याभ्याᳬं शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय" में शूद्रों के लिए भी वैदिक ज्ञान की शिक्षा की आवश्यकता

बतलाई है अतः मनुस्मृति का श्लोक "शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्। क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च" वेदानुकूल होने से प्रामाणिक और इस से विरुद्धभाव वाले श्लोक अप्रामाणिक हैं। चारों वर्णों का धर्म वर्णन करते समय शूद्रों के विषय में पुनः लिखा जायगा उसे भी अवलोकन कर लेना चाहिए।

व्रात्य— मनुस्मृति अध्याय १० श्लोक २० बीस में व्रात्यों की उत्पत्ति इस प्रकार बतलाई गई है—

> द्विजातयः सवर्णासु जनयन्त्यव्रतांस्तु यान्।
> तान् सावित्रीपरिभ्रष्टा न व्रात्यानिति विनिर्दिशेत्॥ (मनु १०।२०।)

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपने २ वर्ण की स्त्री में जिन ऐसे सन्तानों को उत्पन्न करते हैं जो ब्रह्मचर्यादि व्रतों को धारण नहीं करते उन गायत्री मन्त्रादि उपदेश रहित सन्तानों को व्रात्य कहते हैं। इस से सिद्ध होता है कि द्विजों से उत्पन्न हुए पुत्र शिक्षा रहित होने के कारण व्रात्य कहलाते थे। शूद्रकुमार भी जब शिक्षारहित होते थे तो शूद्र ही रह जाते थे अतः व्रात्य और शूद्रों में सिवाय द्विज पिता माता और शूद्र पिता माता से जन्म धारण करने के और कोई भेद न था। दोनों प्रायः समान ही माने जाते थे। हां, यदि व्रात्य यज्ञोपवीत धारण तथा वेदारम्भसंस्कार नियत अवधि * तक न करने के अपराध के लिए प्रायश्चित्त कर लेते थे और वे उक्त संस्कारों के योग्य समझे जाते थे तो उन का यज्ञोपवीत तथा वेदारम्भसंस्कार पुनः होता था। परन्तु जो प्रायश्चित्त कर उक्त संस्कार नहीं कराते थे वे पतित कर दिये जाते थे यथाः—

---

* नोटः—मनु अध्याय २, श्लोक ३८ में लिखा है:—

आषोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्त्तते।
आद्वाविंशात् क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः॥ मनु० अ० २, श्लोक ३८॥

अर्थात् (अधिक से अधिक) सोलह वर्ष की आयु तक ब्राह्मणकुमार २२, वर्ष की आयु तक क्षत्रियकुमार, तथा २४ वर्ष की आयु तक वैश्यकुमार के सावित्री धारण अर्थात् वेदारम्भ संस्कार का समय बना रहता है। (मनु० अ० २, श्लोक ३७ के अनुसार तो ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य कुमारों के यज्ञोपवीत तथा वेदारम्भसंस्कार का उत्तम समय पांच वर्ष से आठ वर्ष तक की आयु तक बतलाया गया है परन्तु उक्त वर्षों में वा उन के कुछ काल उपरांत तक यज्ञोपवीत तथा वेदारम्भ न हो सकने की दशा में इन संस्कारों का समय अधिक से अधिक १६, २२ तथा २४ वर्ष की आयु तक नियत किया गया है।

अतः ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः ।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः ॥ मनु० २।३९ ॥
नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित् ।
ब्राह्मान्यौनांश्च सम्बन्धान्नाचरेद्ब्राह्मणः सह ॥ मनु० २।४० ॥

इस के पश्चात् (अर्थात् क्रमशः १६, २२ तथा २४ वर्षों के पश्चात्) तीनों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यकुमार) यथा समय संस्कृत न होने के कारण सावित्री के उपदेश के अयोग्य अर्थात् वेदारम्भसंस्कार के योग्य नहीं रहते, व्रात्य हो जाते हैं और आर्य इन्हें घृणित मानते हैं। इन पवित्रता रहित (प्रायश्चित्त से न शुद्ध हुए) व्रात्यों के साथ आपत्काल में भी ब्राह्मणादि वर्ण के लोग विद्यासम्बन्ध वा विवाह-सम्बन्ध न करें।

जिस प्रकार द्विजकुलोत्पन्न कुमार वेदारम्भसंस्कार रहित होने के कारण व्रात्य हो जाते थे उसी प्रकार वेदारम्भसंस्कार रहित द्विजकन्याएं भी व्रात्या हो जाती थीं। इन की जो सन्तति होती थी उन के भेद मनु० अध्याय १०, श्लोक २१, २२ तथा २३ में इस प्रकार वर्णित हैं:—

व्रात्यात्तु जायते विप्रात् पापात्मा भूर्जकण्टकः ।
आवान्त्यवाटधानौ च पुष्पधः शैख एव च ॥ मनु० १०।२१ ॥
झल्लो मल्लश्च राजन्याद् व्रात्यान्निच्छिविरेवच ।
नटश्च करणश्चैव खसो द्रविड एव च ॥ मनु० १०।२२॥
वैश्यात्तु जायते व्रात्यात्सुधन्वाचार्य्य एव च ।
कारुषश्च विजन्मा च मैत्रः सात्वत एव च ॥ मनु० १०।२३ ॥

अर्थात् ब्राह्मणकुलोत्पन्न व्रात्य से जो घृणित सन्तति होती है उस की संज्ञा भूर्ज-कण्टक, आवान्त्य, व्राटधान, पुष्पध, शैख है। क्षत्रियकुलोत्पन्न व्रात्यों की सन्तति की संज्ञा झल्ल, मल्ल, निच्छिवि, नट, करण, खस, द्रविड है। वैश्यकुलोत्पन्न व्रात्यों की सन्तति सुधन्वाचार्य, कारूष, विजन्मा, मैत्र, सात्वत है।

निश्चय है कि उक्त सन्तति की उक्त संज्ञाएं तभी तक बनी रहती होंगी जब तक कि वे अपने मूर्ख पिता माता की भांति ही मूर्ख बने रहते होंगे। परन्तु जब कि वे ब्रह्मचर्यादि व्रतों तथा अन्यान्य तपों को धारण कर विद्वान् और पवित्र हो कर एवं श्रेष्ठवर्ण की पदवी योग्य बन कर उच्चकुलों के साथ विवाहादि सम्बन्ध कर-

लेते होंगे तो उन में किसी प्रकार की भी नीचता नहीं मानी जाती होगी । इस विषय में मनु०, अध्याय दश, श्लोक ४१ तथा ४२ में इस प्रकार का लेख है:—

स्वजातिजानन्तरजाः षट् सुता द्विजधर्मिणः ।
शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः ॥ मनु० १०।४१॥
तपोबीजप्रभावैस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे ।
उत्कर्षं चापकर्षं च मनुष्येष्विह जन्मतः ॥ मनु० १०।४२ ॥

(द्विजातियों के) समवर्ण के पुरुष स्त्री से (अर्थात् ब्राह्मण ब्राह्मणी, क्षत्रिय क्षत्रियाणी, वैश्य वैश्या से उत्पन्न हुई तीन प्रकार की सन्तान तथा (द्विजों के) विषमवर्णों के नर नारी से अनुलोमज तीन प्रकार की सन्तान (अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिया से १, ब्राह्मण वैश्या से १, क्षत्रिय वैश्या से १) जो कि द्विजधर्म्म वा द्विजसंस्कारों वाली होती हैं तथा अपध्वंसज अर्थात् नीच वर्ण वाले पुरुष और उच्चवर्ण वाली स्त्री के विवाह से उत्पन्न हुई प्रतिलोमज सन्तति अर्थात् शूद्र से ब्राह्मणी वा क्षत्रिया वा वैश्या में, वैश्य से ब्राह्मणी वा क्षत्रिया में, क्षत्रिय से ब्राह्मणी में उत्पन्न सन्तति और अन्यान्य वह सन्तति भी जो विगर्हित नर नारियों के घृणित विवाह से उत्पन्न हुई हों जो कि शूद्रधर्म वा शूद्रसंस्कारों वाली होती हैं वह सब की सब तप और बीज के प्रभाव से प्रत्येक युग में अर्थात् सभी समय इस संसार में मनुष्यों के बीच जन्म धारण करने के कारण अर्थात् मनुष्य होने के कारण उच्चता और नीचता को प्राप्त होती हैं ।

उक्त श्लोकों में वर्णित अनुलोमज और प्रतिलोमजों के विषय में तो हम आगे लिखेंगे । यहां इन श्लोकों के उद्धृत करने का अभिप्राय यह है कि व्रात्यों की सन्तान जो प्रायः शूद्र संस्कार वाली शूद्रवत् मानी जाती थी उन्हें भी तप करने का अधिकार प्राप्त था (**ऋतं तपः सत्यं तपो दमस्तपः स्वाध्यायस्तपः**) अर्थात् ब्रह्मचर्य्यादि व्रत धारण कर स्वाध्याय में प्रवृत्त हो अपने को तपस्वी एवं धर्म्मात्मा वा ब्राह्मणादि बनाने का अधिकार उन्हें प्राप्त था (देखिए विशेष तप के प्रभाव को राजर्षि मनु अध्याय ११, श्लोक २३६ में कितना महान् बतलाते हैं) । अतः कदाचित् ही कोई व्रात्यकुमार जिस की बुद्धि जन्म से ही विशेष कुण्ठित होती होगी वह अपने को उन्नत करने की चेष्टा न करता हो तो न करता हो, परन्तु अन्यान्य प्रायः सभी व्रात्यकुमार जिन सत्वों को वे प्राप्त कर सकते होंगे उन की प्राप्ति के लिए अवश्य ही चेष्टा करते होंगे ।

यद्यपि मनुस्मृति के देखने से ज्ञात होता है कि व्रात्य नाम नीच नर नारी भी

भारत में विद्यमान थे परन्तु मनुस्मृति अध्याय ७ के श्लोक १५१ तथा १५२ के कारण ज्ञात होता है कि प्राचीनभारत में व्रात्यों की संख्य अत्यन्त ही न्यून होती होगी।

मध्यंदिनेऽर्धरात्रे वा विश्रान्तो विगतक्लमः।
चिन्तयेद्धर्मकामार्थान् सार्धं तैरेक एव वा। मनु ७। १५१॥
परस्परविरुद्धानां तेषां च समुपार्जनम्।
कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम्॥ मनु ७। १५२॥

अर्थात् (राजा को चाहिये कि) मध्यदिन वा मध्यरात्रि के समय जब कि वह शरीर और मन के क्लेशों से रहित हो धर्म, अर्थ और काम के विषय में स्वयं अकेले वा अपने मन्त्रियों के साथ चिन्तन करे। यदि धर्म, अर्थ, कामसम्बन्धी किन्हीं कार्यों में इन का परस्पर विरोध भान होवे तो उस विरोध का परिहार कर उन से सम्बन्ध रखने वाले कार्यों को सिद्ध करे (और ऐसे ही शान्तिमय विचार के समय अपने मन्त्रियों के साथ वा स्वयं अकेले ही) (अपने राज्य की) कन्याओं को कन्यादानयोग्य बनाने तथा कुमारों की (सुशिक्षादि द्वारा) रक्षण करने के विषय में भी (चिन्तन किया करे)।

जब कि प्राचीन समय के आर्य्यराजा का यह कर्त्तव्य था कि वह अपने देश के सभी कुमारों तथा कन्याओं को योग्य बनाने की यथाशक्ति चेष्टा करे तो कैसे सम्भव हो सक्ता है कि देश का कोई भी कुमार वा कन्या अपठित रहे सक्ती हो। हां, केवल वही कुमार वा कन्या अपठित रहती होगी जो जन्म से ही कुण्ठित बुद्धि वाली हो। जिस आत्मा को उस के पूर्व पापों के कारण परमात्मा ने ही अतिमन्द बुद्धि दी हो उस की शिक्षा के लिए राजा वा कोई अन्य मनुष्य ही क्या कर सक्ता है? अतः ज्ञात होता है कि प्रायः वही कन्या वा कुमार व्रात्य होते होंगे जिन की बुद्धि अत्यन्त ही मन्द होती होंगी। यद्यपि ऐसी कन्याएं वा कुमार बहुत ही कम होते होंगे तथापि कुछ न कुछ होते ही होंगे अतः उन थोड़ों के लिए भी व्रात्य सम्बन्धी नियम बनाने ही पड़े।

अनुलोमज, प्रतिलोमज, वर्णसङ्कर—संसार का कोई भी समय ऐसा न था जब कि इस में विद्या और अविद्या दोनों विद्यमान न हों। बड़े २ अन्धकार के समय भी जब कि अविद्या की काली घटा गर्ज रही थी, विद्या की विद्युत् कभी न कभी चमक ही जाती थी। एवं जिन दिनों विद्या और सदाचार का

बड़ा प्रचार था, जिधर देखिए उधर ही ज्ञानियों की गोष्ठी दीख पड़ती थी, उन दिनों भी किसी न किसी कोने में कोई न कोई अश्रेष्ठ पुरुष दिखाई देता ही था, जिस समय भारत में वर्णाश्रमधर्म का पालन राजा और प्रजा दोनों मिल कर बड़ी तत्परता के साथ करते थे उस समय भी असम्भव नहीं कि वर्णाश्रमधर्म विरुद्ध कोई २ अश्रेष्ठ कर्म्म कभी २ किसी २ से हो जाते हों। मनुस्मृति का एक वाक्य है:—

"बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपिकर्षति"

अर्थात् बलवती इन्द्रियां विद्वानों को भी खींचती हैं। सम्भव नहीं कि सभी विद्वान् उस आकर्षण से आकर्षित हो जांय परन्तु कभी २ कोई २ आकर्षित हो जांय तो आश्चर्य भी नहीं है। विवाहविषय में यद्यपि यह विस्पष्ट आज्ञा थी कि सम गुण कर्म्म स्वभाव वाले अर्थात् समवर्ण के पुरुष स्त्री का विवाह हो और प्रायः ऐसा ही होता भी था तथापि कोई २ (चाहे लाख में एक ही क्यों न हो) ऐसे नर नारियों का भी सम्बन्ध हो जाता था जो विषमवर्ण के होते थे, और क्योंकि ऐसे नर नारियों के योग से भी सन्तति उत्पन्न होती ही थी अतः समाज को नियमबद्ध रखने के लिए आवश्यक था कि व्यवस्थापक उन के विषय में भी कुछ न कुछ विशेष नियम बनावें।

सन्तान का जन्म और उस का पोषण पालन तभी सम्भव हो सक्ता है जब कि पिता माता जीवित रहें। मनु अध्याय ८ श्लोक ३७१ तथा ३७२ से ज्ञात होता है कि व्यभिचारिणी स्त्री तथा व्यभिचारी पुरुष को राजा मरवा डालता था* अतः जारकर्म्म से सन्तानोत्पत्ति प्रायः असम्भव थी। अतः विषमवर्ण के नर नारी का जो सम्बन्ध होता था वह विवाहसम्बन्ध (चाहे गान्धर्वविवाह ही हो) के सिवाय

---

* नोटः—भर्तारं लङ्घयेद्या तु स्त्रीज्ञातिगुणदर्पिता।
तां श्वभिः खादयेद्राजा संस्थाने बहुसंस्थिते॥ मनु ८। ३७१॥

पुमांसं दाहयेत् पापं शयने तप्त आयसे।
अभ्यादध्युश्च काष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत्॥ मनु ८। ३७२॥

अर्थात् यदि स्त्री अपनी जाति और गुण के अभिमान से अपने पति को छोड़ अन्य से व्यभिचार करे तो उस स्त्री को राजा बहुत से मनुष्यों के सन्मुख कुत्तों से कटवाकर मरवा डाले, और जो व्यभिचारी पुरुष हो उस को आग से उत्तप्त लोहे के पलंग पर सुलाकर जला देवे, उस जलते हुए पर काष्ठ डाल दिया जाय ताकि पापी भली भांति जल जावे।

अन्य कोई सम्बन्ध न था। ऐसे विवाहों में भी उच्चवर्ण के पुरुष और नीचवर्ण की स्त्री का सम्बन्ध नीचवर्ण के पुरुष और उच्चवर्ण की स्त्री के सम्बन्ध से अच्छा समझा जाता था। ऐसे विवाहों के विषय में ही मनुस्मृति, अध्याय ३ तीन श्लोक १२ तथा १३ में लिखा है :—

सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि ।
कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशो वराः ॥ मनु ३ । १२ ॥
शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते ।
ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाऽग्रजन्मनः ॥ मनु ३ । १३ ॥

अर्थात् विवाहविषय में प्रथम तो प्रशस्त बात यह है कि द्विजाति अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपने २ वर्ण की कन्या से विवाह करें परन्तु इन द्विजों में से जो कोई इच्छापूर्वक (विशेष स्वतन्त्रता से) विवाह करना चाहते हों तो उन के लिए ये (कन्याएं) क्रमशः श्रेष्ठ हैं, शूद्र के लिए शूद्रा, वैश्य के लिए वैश्या वा शूद्रा, क्षत्रिय के लिए क्षत्रियाणी वा वैश्या वा, शूद्रा, ब्राह्मण के लिए ब्राह्मणी वा क्षत्रिया वा वैश्या वा शूद्रा ।

इन श्लोकों से यह पता लगता है कि सवर्णविवाह जो प्रजावृद्धि और धर्म्मवृद्धि के विचार से किया जाता था वह सर्वोत्तम था। और अपने से एक निचले वर्ण की कन्या के साथ विवाह यथा वैश्य का शूद्रा के साथ अथवा क्षत्रिय का वैश्या के साथ अथवा ब्राह्मण का क्षत्रिया के साथ सवर्णविवाह से निचले कोटि का माना जाता था और अपने से दो कोटि निचली कन्या के साथ विवाह यथा क्षत्रिय का शूद्रा के साथ अथवा ब्राह्मण का वैश्या के साथ, " एक कोटि निचली वर्ण की कन्या के साथ जो विवाह होता था " उस से निचली कोटि का समझा जाता था और ब्राह्मण का जो विवाह शूद्रा से होता था वह उक्त सब विवाहों से निचली कोटि का माना जाता था। परन्तु वह विवाह अधम समझे जाते थे जो विवाह कि एक शूद्र और एक ब्राह्मणी वा क्षत्रिया वा वैश्या से, अथवा एक वैश्य और एक ब्राह्मणी वा क्षत्रिया से अथवा एक क्षत्रिय और एक ब्राह्मणी से होता था।

जिस में विवाह समगुण कर्म स्वभाव वा समवर्ण वाले पुरुष स्त्रियों का हुआ करे जिस में गृहस्थाश्रम, नर नारी दोनों के एक प्रकार की वृत्ति वाले होने से सुख-धाम बना रहे, समवर्ण के विवाहों को अत्युत्तम समझा जाता था। विषमवर्ण के

विवाहों से जो सन्तति उत्पन्न होती थीं उन की संज्ञा पृथक् २ बांधी जाती थी। यथा जो सन्तति उच्चवर्ण के पुरुष से नीचवर्ण की स्त्री में उत्पन्न होती थी (जो कि केवल छः प्रकार की हो सक्ती थी) उन सब को अनुलोमज वा अपसद कहते थे इन अपसदों में से ब्राह्मण से क्षत्रिया में जो सन्तति उत्पन्न होती थी उस की अनुलोमज वा अपसद के अतिरिक्त कोई अन्य विशेष संज्ञा नहीं होती थी एवं जो क्षत्रिय से वैश्या में अथवा वैश्य से शूद्रा में अर्थात् एक वर्ण नीची कन्या में एक वर्ण ऊंचे पुरुष से जो सन्तति होती थीं उन सब की भी अनुलोमज वा अपसद के अतिरिक्त अन्य कोई विशेष संज्ञा नहीं होती थी परन्तु जो सन्तति ब्राह्मण से वैश्या में उत्पन्न होती थी उस की संज्ञा अपसद वा अनुलोमज के अतिरिक्त अम्बष्ट भी पड़ती थी एवं ब्राह्मण से शूद्रा में उत्पन्न हुई सन्तान की संज्ञा निषाद वा पारशव, क्षत्रिय से शूद्रा में उत्पन्न हुई सन्तान की संज्ञा उग्र पड़ती थी, और जो सन्तति नीचवर्ण के पुरुष तथा उच्चवर्ण की स्त्री से उत्पन्न होती थी उन्हें (क्षत्रिय से ब्राह्मणी में) सूत, (वैश्य से क्षत्रियाणी में) मागध, (वैश्य से ब्राह्मणी में) वैदेह (शूद्र से वैश्या में) आयोगव, (शूद्र से क्षत्रिया में) क्षत्ता, तथा (शूद्र से ब्राह्मणी में) चाण्डाल कहते थे । इन छहों का एक नाम प्रतिलोमज वा अपध्वंसज भी था ।

उक्त प्रकार के नर नारियों के विवाहों के अतिरिक्त कभी कभी कोई २ ऐसे कामी नर नारियों का भी विवाह हो जाता था जो एक ही गोत्र के हों। ऐसे घृणित विवाह से जो सन्तति उत्पन्न होती थी उसे वर्णसङ्कर कहते थे। वर्णसङ्कर अन्यान्य भी कई प्रकार के होते थे ।

परन्तु चाहे कैसे भी नीच नर नारी से सन्तति उत्पन्न हुई हो उस के लिए भी उन्नति का मार्ग खुला रहता था और नीच पिता माता की सन्तान भी अपनी उन्नति कर उत्तमोत्तम पदवियों को प्राप्त करती थी जिस की साक्षी मनुस्मृति के निम्नलिखित श्लोक दे रहे हैं ।

सजातिजानन्तरजाः षट् सुता निजधर्मिणः ।
शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः ॥ मनु ॥ १० । ४१ ॥
तपोबीजप्रभावैस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे ।
उत्कर्षं चापकर्षं च मनुष्येष्विह जन्मतः ॥ मनु १० । ४२ ॥

(द्विजातियों के) समवर्ण के पुरुष स्त्री से (अर्थात् ब्राह्मण ब्राह्मणी, क्षत्रिय, क्षत्रिया, वैश्य वैश्या) उत्पन्न हुई तीन प्रकार की सन्तान तथा (द्विजों) के विषमवर्णों के नर नारी से अनुलोमज तीन प्रकार की सन्तान (अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिया से १, ब्राह्मण वैश्या से १, क्षत्रिय वैश्या से १) जो कि द्विजधर्म्म वा द्विजसंस्कारों वाली होती हैं तथा अपध्वंसज अर्थात् नीचवर्ण वाले पुरुष और उच्चवर्ण वाली स्त्री के विवाह से उत्पन्न हुई प्रतिलोमज सन्तति (अर्थात् शूद्र से ब्राह्मणी वा क्षत्रिया वा वैश्या में, वैश्य से ब्राह्मणी वा क्षत्रिया में, क्षत्रिय से ब्राह्मणी में उत्पन्न सन्तति) और अन्यान्य वह सन्तति भी जो विगर्हित नर नारियों के घृणित विवाह से उत्पन्न हुई हों जो कि शूद्रधर्म्म वा शूद्रसंस्कारों वाली होती हैं वह सब की सब तप और बीज के प्रभाव से प्रत्येक युग में अर्थात् सभी समय इस संसार में मनुष्यों के बीच उत्पन्न होने के कारण (मनुष्यशरीर धारण करने के कारण) नीचता और उच्चता को प्राप्त होती हैं ।

और क्योंकि आर्य्य राजा मनुस्मृति अध्याय ७ श्लोक १९२ में लिखे वचन "**कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम्**" के अनुसार अपने देश में उत्पन्न हुई कन्याओं को सुशिक्षणादि द्वारा कन्यादानयोग्य बनाने तथा सुशिक्षणादि द्वारा कुमारों की रक्षा करने में तत्पर रहता था अतः चारों वर्णों की कन्याएं और कुमारों के अतिरिक्त वह साधारण वर्णसङ्करों और अतिनीच वर्णसङ्करों तथा व्रात्यों एवं उस के राज्य में बसने वाले दस्युओं की कन्याओं और कुमारों को भी यथा सम्भव योग्य बनाने की चेष्टा किया करता था और इस प्रकार नीचकुलों की भी बहुत सी कन्याएं और कुमार ब्रह्मचर्य्यद्वारा तपश्चरण कर उत्तमोत्तम बनजाते थे और समाज का विकृतभाग शुद्ध होता जाता था केवल वही निर्बुद्धि वा दुष्टाचारी जो अपने को उच्च बनाने में अयोग्य थे शूद्रों से भी नीच कोटि की दशा को भोगा करते थे और उन्हें उन नियमों का अनुसरण करना पड़ता था जो उन के लिये निर्धारित किए जाते थे ताकि बृहत्समाज मण्डल की उत्तरोत्तर उन्नति में बाधा न पड़े ।

चारवर्ण—मनुस्मृति के प्रमाणों से हम पूर्व ही अङ्कित कर चुके हैं कि वर्ण केवल चार भागों में विभक्त था जिन भागों के नाम हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। चारों वर्णों के लोग एक दूसरे के साथ ऐसे संगठित थे जैसे कि शरीर के भिन्न भिन्न अङ्ग एक दूसरे के साथ सम्बन्धित रहते हैं। अतः प्रत्येक वर्ण के लोग अपना कल्याण अन्य वर्णों के कल्याणों के साथ ही सम्मिलित स-

मझते थे और इसी कारण प्रत्येक स्त्री पुरुष अपनी २ योग्यतानुसार समाजोन्नति में प्रवृत्त हो जाता था चारों वर्णों के कुमार समाज के कुमार समझते जाते थे और जिन २ की बुद्धि विद्याध्ययन करने योग्य होती थी उन सब को साधारण शिक्षा से लेकर उच्च से उच्च शिक्षा तक विना मूल्य ही गुरुकुलों के द्वारा मिलती थी किसी भी कुमार को अपने भरण पोषण की चिन्ता न थी क्योंकि गृहस्थ मात्र ब्रह्मचारी कुमारों को भोजन देकर स्वयं भोजन करना अपना धर्म समझते थे, और इन सब कुमारों के शिक्षण और रक्षण तथा सब कन्याओं को सुशिक्षादि द्वारा कन्यादान योग्य बनाने के प्रबन्धों की ओर ध्यान रखना राजा के मुख्य कर्त्तव्यों में से एक कर्त्तव्य था जैसा कि मनुस्मृति के लेख–"**कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम्**" के द्वारा हम दिखा आये हैं। कोई भी कुमार चाहे वह शूद्र का पुत्र ही क्यों न हो अपनी बुद्धिबल, तपोबल और शिक्षाबल से जिस पद योग्य बन जाता था वही पद उसे मिल जाता था जैसा कि "शूद्रो ब्राह्मणतामेति" नाम श्लोक द्वारा हम पूर्व ही दर्शाचुके हैं। जिस में सब के साथ निष्पक्ष न्याय हो इस लिए यदि ब्राह्मण कुमार वा क्षत्रियकुमार वा वैश्यकुमार बुद्धिहीनतादि कारणों से शिक्षा प्राप्त नहीं कर सक्ते थे तो उन कुमारों को शूद्रपदवी ही मिलती थी जैसा कि "**ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्**" आदि प्रमाण द्वारा हम पूर्व प्रदर्शित कर चुके हैं। तात्पर्य्य यह है कि सब के लिए उन्नति का मार्ग खुला हुआ था योग्यता प्राप्त कर जो कोई चाहे ब्राह्मण वा क्षत्रिय वा वैश्य बन सक्ता था । जो कोई अपनी बुद्धिहीनतादि कारणों से उक्त पदों के योग्य अपने को बना नहीं सक्ता था उसे शूद्र कहलाना पड़ता था परन्तु उस के लिए भी आवश्यक था कि वह किसी भी दशा में दुराचारी न हो। दुराचारी बनने पर वह शूद्रकोटि से भी पतित कर दिया जाता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों तथा अनुलोमजों और प्रतिलोमजों के परस्पर सम्बन्धों से जो सन्तति उत्पन्न होती थीं और जो वर्णसङ्करादि नामों से पुकारी जाती थीं उन के लिए भी उन्नति का मार्ग बन्द न था जैसा कि हम "**शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः**" तथा "**तपो बीजप्रभावैस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे। उत्कर्षं चापकर्षं च मनुष्येष्विह जन्मतः**" इन प्रमाणों द्वारा प्रकट कर चुके हैं।

अब हम संक्षेपतः यह लिखना चाहते हैं कि किन २ प्रकार के गुण कर्म्म स्वभावों के धारण करने से किस २ वर्ण की योग्यता प्राप्त होती थी।

ब्राह्मण—बनने के लिए किन किन साधनों में प्रवृत्त होना पड़ता था यह मनुस्मृति के लिम्नलिखित श्लोक से ज्ञात होता है:—

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनु ॥ मनु० २।२८ ॥

(स्वाध्यायेन) सकल विद्याओं के पढ़ने पढ़ाने से, (व्रतैः) ब्रह्मचर्य सत्य-भाषणादि व्रतों के पालन करने से, (होमैः) अग्निहोत्रादि होम, सत्य के ग्रहण, असत्य के त्याग और सत्यविद्याओं के दान देने से "हू=दानादनयोः", (त्रैविद्येन) वेदस्थ कर्मोपासना और ज्ञान, इन तीन प्रकार की विद्याओं के ग्रहण से, (इज्यया) पक्षेष्ट्यादि करने से, (सुतैः) सुसन्तानोत्पत्ति से, (महायज्ञैः) ब्रह्म, देव, पितृ, वैश्वदेव और अतिथियों के सेवनरूप पञ्चमहायज्ञों के करने से, (यज्ञैः) अग्निष्टोमादि, तथा शिल्पविद्या विज्ञानादि यज्ञों के सेवन से (ब्राह्मीयं क्रियते तनुः) इस शरीर को ब्राह्मी अर्थात् वेद और परमेश्वर की भक्ति का आधार रूप ब्राह्मण का शरीर किया जाता है ।

उक्त प्रमाण स्पष्ट सिद्ध कर रहा ह कि ब्रह्मचर्य्यव्रत धारणपूर्वक जो कोई उग्र तपश्चरण कर एवं पूर्णधार्म्मिक और विद्वान् बन गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होता था और गृहस्थ रहता हुआ भी विद्यादानादि कर्म्म जो ऊपर गिना आए हैं करता था वही ब्राह्मण माना जाता था अन्य नहीं ।

ऐसे ब्राह्मणों के विषय में निम्नलिखित बातें भी मनुस्मृति में अङ्कित हैं:—

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥ अ० २ । १६२ ॥
सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते ।
सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ॥ अ० २ । १६३ ॥
वेदमेव सदाऽभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन् द्विजोत्तमः ।
वेदाऽभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥ अ० २ । १६६ ॥
सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत् ।
सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः ॥ अ० ४ । १२ ॥
वेदोदित स्वकं कर्म्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।
तद्धि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ अ० ४ । १४ ॥
इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः ।
अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा संनिवर्त्तयेत् ॥ अ० ४ । १६ ॥

सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः ।
यथा तथाध्यापयंस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥ अ० ४ । १७ ॥
क्लृप्तकेशनखश्मश्रुर्दान्तः शुक्लांऽम्बरः शुचिः ।
स्वाध्याये चैव युक्तः स्यान्नित्यमात्महितेषु च ॥ अ० ४ । ३५ ॥
वैणवीं धारयेद्यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम् ।
यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे रौक्मे च कुण्डले ॥ अ० ४ । ३६ ॥
अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चैव षट्कर्म्माण्यग्रजन्मनः ॥ अ० १० । ७५ ॥
प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसंगं तत्र वर्जयेत् ।
प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति ॥ अ० ४ । १८६ ॥
प्रतिग्रहाद् याजनाद्वा तथैवाऽध्यापनादपि ।
प्रतिग्रहः प्रत्यवरः प्रेत्य विप्रस्य गर्हितः ॥ अ० १० । १०९ ॥
शिलोञ्छमप्याददीत विप्रोऽजीवन्यतस्ततः ।
प्रतिग्रहाच्छिलः श्रेयांस्ततोऽप्युञ्छः प्रशस्यते ॥ अ० १० । ११२ ॥
न ब्राह्मणो वेदयेत किञ्चिद्राजनि धर्मवित् ।
स्ववीर्येणैव तान् शिष्यान् मानवानऽपकारिणः ॥ अ० ११ । ३२ ॥
वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः ।
अहिंसा गुरुसेवा च निश्रेयस्करं परम् ॥ अ० १२ । ८३ ॥
सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम् ।
तद्ध्यग्रं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥ अ० १२ । ८५ ॥
धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः ।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥ अ० १२ । १०९ ॥

इन सब का भावार्थ यह है-ब्राह्मण (ब्रह्म अर्थात् वेद और ब्रह्म अर्थात् परमात्मा इन का जानने वाला) को चाहिए कि वह सम्मान को विष समझता हुआ उस से सदा डरता रहे और अपमान को अमृत समझता हुआ उस की सदा कामना करता रहे (अर्थात् वही ब्राह्मण समग्रवेद और परमेश्वर को जानता है जो प्रतिष्ठा से विष के तुल्य सदा डरता है और अपमान की इच्छा अमृत के समान किया करता है, (अर्थात् ब्राह्मण सम्मान के लोभ से वा अपमान के भय से कभी भी स्वधर्म से पतित नहीं होता) क्योंकि जो कोई अपमानित किए जाने पर भी दुःख

नहीं मानता वह सुखपूर्वक शयन करता है सुखपूर्वक जागता है और लोगों के बीच सुखपूर्वक विचरता है तथा जो अपमान करने वाला है वह नाश को प्राप्त हो जाता है। (विशेष) तप की इच्छा करने वाले ब्राह्मण को चाहिए कि वह सदा वेदाभ्यास में लगा रहे क्योंकि ब्राह्मण के लिए वेदाभ्यास ही सर्वोपरि तप बतलाया गया है। यदि सुख चाहता है तो स्वस्थचित्त बना हुआ संतोष धारण करे क्योंकि सुख का मूल संतोष और दुःख का मूल असन्तोष ही है। अपने वैदिक (नित्य-नैमित्तिक) कर्मों को आलस्य रहित हो कर सदा सेवन करता रहे क्योंकि यथाशक्ति उन कर्मों के करने से वह परमगति अर्थात् मोक्ष (भी) प्राप्त कर सकता है। (भोग की) कामना से इन्द्रियों के विषयों में न फंसे (अर्थात् केवल शरीररक्षणार्थादि विशेष आवश्यकताओं के लिए विषयों से उपयोग ले) प्रत्युत विषयों में आसक्त न होने के लिए उन की भावना को भी मन से हटा देवे। स्वाध्याय के विरोधी जो जो अर्थ हों उन सब को परित्याग कर दे और येन केन प्रकारेण (वेदों के) पढ़ाने में लगा रहे क्योंकि यही उस की कृतकृत्यता है। शीश के बाल नख और दाढ़ी मुंडवाये हुए (मन और इन्द्रियों को) दमन किए हुए श्वेतवस्त्र धारण किए हुए (अन्तःकरण और शरीर से) पवित्र (ब्राह्मण को चाहिए कि) स्वाध्याय में तथा आत्मा (अपने तथा दूसरों के आत्मा के) के हित चिन्तन में लगा रहे * बांस की छड़ी, जलसहित कमण्डलु, यज्ञोपवीत तथा वेद (ग्रन्थ) धारण करे और कानों में सुन्दर सोने के दो कुण्डल (पहने रहे)। पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना ये छः कर्म ब्राह्मण के हैं। परन्तु दान लेने की योग्यता रखता हुआ भी दानग्रहण से पृथक रहे, क्योंकि दान लेने से उस का ब्रह्मतेज शीघ्र ही नष्ट हो जाता है (अर्थात् उस का आत्मा दाता के सन्मुख संकुचित हो जाता है)।

दान लेना, यज्ञ कराना तथा पढ़ाना इन में से दान लेना अन्य दो की अपेक्षा घृणित है क्योंकि यह शरीर छोड़ने पर भी बाधक होता है † जो ब्राह्मण अपनी

---

* नोट—(शीश के बाल मुंडवाए रहना, श्वेत वस्त्र धारण करना आदि जो बाह्य चिन्ह हैं उन के न रहने से किसी का ब्राह्मणत्व नष्ट नहीं हो सकता। क्योंकि ब्राह्मण प्रायः उक्त वेष में रहते थे इस कारण उन का बाह्य चिन्ह भी यहां लिख दिया गया है)

† तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण यदि जीविका के अभाव से अर्थात् दरिद्रता के कारण अपने तथा कुटुम्बियों के भरणपोषण के लिए कुछ उपार्जन करना ही चाहे तो दान लेकर अथवा

वृत्ति द्वारा जीविका प्राप्त न कर सके वह इधर उधर से शिल और उञ्छसम्बन्धी अन्नों को एकत्रित करे, दान लेने की अपेक्षा शिल अच्छा है और शिल से भी अच्छा उञ्छ है * । जो कोई अपकारी पुरुष ब्राह्मण की कुछ हानि करदे तो धर्मात्मा ब्राह्मण को चाहिए कि उस हानि की सूचना राजा को न दे प्रत्युत (अहिंसादि वृतों के साधन से जो उसने द्रोहनिग्रह की शक्ति प्राप्त करली है उस) अपने बल से ही उन अपकारक पुरुषों को शिक्षा दे (अर्थात् ऐसा करे जिस से उन की अपकारक वृत्ति ही नष्ट हो जावे) । वेदाभ्यास, तप, ज्ञान, इन्द्रियसंयम, अहिंसा, गुरुसेवा ये (सब के सब) परम निश्रेयस्कर हैं (परन्तु) इन सब में आत्मज्ञान सर्वोपरि है, वही सब विद्याओं में अग्र्य अर्थात् मुख्य है क्योंकि इसी के द्वारा अमृत अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति होती है । जिन्होंने धर्म्म का आचरण कर वेदार्थबोधक वेद के अङ्ग उपाङ्ग आदि द्वारा वेद को भली भांति पढ़ लिया है वे ही शिष्ट ब्राह्मण कहलाने योग्य हैं क्योंकि इन्हीं के द्वारा वेद के गूढ़ रहस्य प्रकट हो सक्ते हैं † ।

यज्ञ कराकर और उस में दक्षिणा प्राप्त कर अथवा अपने पढ़ाए हुए स्नातक ब्रह्मचारियों से "गुरुदक्षिणा" लेकर अपना निर्वाह करे परन्तु निश्चय जाने कि उक्त तीनों में से दान लेना बहुत ही बुरा है जो कि उस के आत्मा को इस लोक में दीन बनाता है और परलोक में एक प्रकार का उपकार या अहसान होने के कारण एक प्रकार के ऋण के रूप में कल्याण का यथा सम्भव बाधक बनता है ।

* नोटः—जब कृषक खेत से पक्के हुए अन्नों को काटता है तो कुछ अन्न खेत में भी गिर जाता है । किसान के इन छोड़े हुए अन्नों को दरिद्री लोग चुन लेते हैं । इस चुनने को "शिल" कहते हैं और किसी के एक वार चुन लेने के पश्चात् जब कोई उसी खेत में पुनः अन्न चुनने जाता है तो उस चुनने को "उञ्छ" (अर्थात् चुने हुए पर चुनना) कहते हैं । जीविका रहित ब्राह्मण के लिए मनुस्मृति में यह भी लिखा है:—

कल्पयित्वाऽस्य वृत्तिं च रक्षेदेनं समन्ततः ।
राजा हि धर्म षड्भागं तस्मात्प्राप्नोति रक्षितात् ॥ मनु० अ० ११ । २३ ॥

अर्थात् इस (जीविका रहित ब्राह्मण) की जीविका नियत कर (राजा को चाहिए कि) इस की भली भांति रक्षा करे क्योंकि इस रक्षा के कारण ही राजा (उस ब्राह्मण के किए हुए) धर्म का छठा भाग प्राप्त करता है ।

† नोटः—ब्राह्मणपदवीधारी धार्मिक विद्वानों की प्राचीन काल में इतनी प्रतिष्ठा थी कि राजा भी उन की पूजा करते थे यथाः—

आवृत्तानां गुरुकुलाद्विप्राणां पूजको भवेत् ।
नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मोऽभिधीयते । (मनु० अ० ७ । ८२)

परमात्मा कृपा करें कि बहुत से आत्मा ज्ञान और तप के प्रभाव से शिष्ट ब्राह्मणपद को प्राप्त कर वेदों के गूढ़ रहस्य मनुष्यों को समझावें ताकि संसार से अविद्या दूर होवे और एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को अपना भाई समझे और सब, सब के उपकार में प्रवृत्त हो जावें ।

क्षत्रिय—मनुस्मृति अध्याय १, श्लोक ८९ में क्षत्रिय के लक्षण इस प्रकार बतलाए गए हैं:—

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥ मनु० १ । १८ ॥

अर्थात् प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना, विषयों में न फंसना ये संक्षेपतः क्षत्रिय के कर्म्म हैं ।

"राजधर्म्म" प्रकरण में इस विषय में विशेष लिखा जायगा ।

वैश्य—मनुस्मृति अध्याय १, श्लोक ९० में वैश्य के लक्षण इस प्रकार बतलाए गए हैं:—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ मनु०।१। ९० ॥

पशुओं का पालन पोषण करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना, वाणिज्य करना सूद लेना तथा खेती करना ये वैश्य के कर्म्म हैं । पुन वैश्यों के विषय में मनुस्मृति अध्याय ९ श्लोक ३२९, ३३०, ३३१, ३३२ तथा ३३३ में लिखा है:-

मणिमुक्ताप्रवालानां लौहानां तान्तवस्य च ।
गन्धानां च रसानां च विद्यादर्घबलाबलम् ॥ अ०९।३२९॥
वीजानामुप्तिविच्च स्यात् क्षेत्रदोषगुणस्य च ।
मानयोगं च जानीयात् तुलायोगांश्च सर्वशः ॥ अ०९।३३०॥
सारासारं च भाण्डानां देशानां च गुणागुणान् ।
लाभालाभं च पण्यानां पशूनां परिवर्धनम् ॥ अ०९।३३१॥

अर्थात् (राजा को चाहिए कि) गुरुकुल से (स्नातक बन कर) आए हुए ब्राह्मणों की पूजा किया करे (क्योंकि) राजाओं को यह ब्रह्मनिधि ही नाश को प्राप्त नहीं होती ।

भृत्यानां च भृतिं विद्याद् भाषाश्च विविधा नृणाम् ।
द्रव्याणां स्थानयोगांश्च क्रयविक्रयमेव च ।। अ०९।३३२।।
धर्मेण च द्रव्यवृद्धावातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम् ।
दद्याच्च सर्वभूतानामन्नमेव प्रयत्नतः ।। अ०९।३३३।।

अर्थात् वैश्य को चाहिए कि वह मणि, मोती, मूंगा, लोहा (धातुवों) कपड़ा सुगन्धित द्रव्यों, रसों (मीठे नमकीन आदि छः प्रकार के स्वाद वाले पदार्थों) इन सवों के सस्ते महगे होने के कारणों को जाने सब प्रकार के बीजों के वोने की रीति, खेत के दोष और गुण तथा सब प्रकार के मापों और तौलों को भी भली भांति जानें, विक्रय वस्तुओं की उत्तमता वा निकृष्टता देशों के गुण और अवगुण (अर्थात् किस देश में वस्तु विशेष के विक्रय से लाभ और किस देश में विक्रय होने से हानि होगी) पण्यों के लाभालाभ अर्थात् विशेष वस्तुओं के विक्रय से कितना लाभ वा कितनी हानि होगी, पशुओं की वृद्धि की (विधि) जाने भृति अर्थात् किस पद के नौकरों को क्या वेतन मिलना चाहिए (अथवा किस जगह श्रम जीवी कितना दैनिक वा मासिक लेकर कार्य्य कर सक्ते हैं) इस बात को, (भिन्न २ देशों के) मनुष्यों की भिन्न २ भाषाओं को, विक्रय की वस्तु को कैसे स्थान में किस प्रकार सुरक्षित रखना चाहिए इस बात को तथा क्रय विक्रय (बेचने और मोल लेने) के नियमों को जाने । (वैश्य को चाहिए कि) धर्म्म से द्रव्य बढ़ाने के लिए उत्तमोत्तम यत्नों में लगा रहे (अधर्म्म से कभी भी धन न कमावे) और बड़े यत्नों से सब प्राणियों को अन्न देता रहे ।

आहा ! धन वृद्धि, पुरुषार्थ, स्वार्थत्याग और परोपकार की कैसी उत्तमोत्तम ये शिक्षाएं हैं । धन वृद्धि के लिए पूर्ण यत्न करने की तो शिक्षा है परन्तु अधर्म्म से धन कमाने का सर्वथा निषेध है ! और जो धन वृद्धि को प्राप्त हो उस के द्वारा वैश्य (**सर्व भूतानां**) प्राणिमात्र को अन्न देवे ऐसी शिक्षा है मानो प्राचीन काल के वैश्य केवल अपने ही लिए द्रव्योपार्जन नहीं करते थे प्रत्युत प्राणिमात्र के भोजन के लिए । ऐसे परोपकारी पुरुषों के रहते हुए कोई भी प्राणी भूख की ज्वाला से काहे को दग्ध होता होगा ? ये वैश्य, देशमात्र के कैसे प्यारे पुरुष समझे जाते होंगे ! वैश्य धर्म्म के ह्रास से आज संसार कितना पीड़ित हो रहा है, शोक !

शूद्रः—अतिप्राचीन काल में जो लोग आचार्य्य की शिक्षाओं को धारण कर श्रेष्ठ बनजाते थे वे आर्य्य कहलाते थे और जो शिक्षाओं को धारण नहीं कर सक्ते

थे वे शूद्र बने रहते थे। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि सभी अविद्वानों की सन्तति मन्दबुद्धि ही हो अथवा सभी विद्वानों की सन्तान उत्तम बुद्धि वाली ही हो अतः अविद्वानों वा शूद्रों की वह सन्तान जो अच्छी बुद्धिवाली हुई और विद्याध्ययन कर सकी वह आर्य्य बनती गई और उन की जो सन्तति विद्याध्यन न कर सकी वह अविद्वानों वा शूद्रों की कोटि में ही रहती गई। एवं विद्वानों की वह सन्तानें जो विद्याध्ययन कर सकीं वह आर्य्य और जो विद्योपार्जन न कर सकीं शूद्र कहलाती गईं। मानो एक ही जाति के विद्वान् लोग आर्य्य और अविद्वान् लोग शूद्र कहलाने लगे। इस अनुमान की पुष्टि में ब्राह्मणग्रन्थादि से कवषऐलूषादिविषयक कई ऐतिहासिक प्रमाण हम प्रस्तुत कर चुके हैं। उक्त अनुमान की पुष्टि मनुस्मृति के श्लोक भी करते हैं। मनुस्मृति अध्याय २ श्लोक १७२ में लिखा है "**शूद्रेण हि समस्तावद् यावद् वेदे न जायते**" अर्थात् (द्विजों के कुमार भी) तब तक शूद्र के ही बराबर हैं जब तक वे वेद पढ़ने से द्विज नहीं बनते, और सच मुच जो द्विजकुमार वेदारम्भसंस्कार करा कर वेदाध्ययन नहीं करता था वह व्रात्य कहलाने लगता था (देखिये म० अ० १० श्लोक २०) और वह द्विजकोटि से गिर कर शूद्र बन जाता था। अतः शूद्रवर्ण के भीतर शूद्रनामधारी केवल वही पुरुष नहीं थे जो शूद्रपिता से उत्पन्न तथा शूद्रसमान मन्दबुद्धि वाले होते थे, प्रत्युत शूद्रों के भीतर उन द्विज सन्तानों की भी गणना थी जो स्वाभाविक मन्दबुद्धि होने के कारण विद्यारहित रह जाते थे। "**शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्**" आदि मनुस्मृति के अनेक प्रमाणों द्वारा हम यह सिद्ध कर आए हैं कि ज्ञान और तप के अभाव से ब्राह्मणकुमार शूद्र और ज्ञान और तप के प्रताप से शूद्रकुमार ब्राह्मण बन जाता था एवं द्विजाति और शूद्र बिल्कुल मिले जुले भाई भाई की तरह निवास किया करते थे।

क्या शूद्र ही आर्य्यावर्त के आदि निवासी हैं?

कई यूरोपीय ऐतिहासिकों का मत है कि "द्विज (आर्य्य) मध्य एशिया से आए थे और शूद्र इस देश (आर्यावर्त्त) के एबार्जिनीज़ अर्थात् आदिनिवासी थे, मनुस्मृति में जो शूद्रों पर अत्याचार करने की आज्ञाएं हैं उस का कारण यही है कि आर्य शूद्रों को दबाए रखना चाहते थे"।

उक्त ऐतिहासिकों का यह कथन किसी भी ऐतिहासिक प्रमाण से पुष्ट नहीं

होता । भारत के अति प्राचीन इतिहास के विषय में किसी भीऐ तिहासिक को भारतीय अतिप्राचीन ग्रन्थों का ही सहारा लेना पड़ेगा । किसी भी अतिप्राचीन संस्कृत ग्रन्थ में यह नहीं लिखा है कि आर्य जब आर्य्यावर्त्त में आए तो उन्हें इस देश के वास्तविक निवासियों का सामना करना पड़ा जिन्हें वे शूद्र नाम से पुकारने लगे । आर्यों के इस देश में आने का जो वृत्तान्त अति प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में लिखा है उस से पता लगता है कि आर्य लोग त्रिविष्टप देश (जिस की इच्छा हो वह उसे मध्य एशिया भी कह ले) से इस देश में आए और इस का नाम आर्यावर्त रक्खा, उन के आने के पूर्व यहां यदि कोई अन्य मनुष्यजाति निवास करती होती तो उस का कुछ न कुछ वर्णन अति प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में अवश्य होता । शूद्र और आर्य यदि भिन्न २ जाति के मनुष्य होते और आर्य शूद्रों को सदा पददलित रखना चाहते तो आर्य शूद्र कन्या से कभी भी विवाह करने का नाम न लेते और न अपने अविद्वान् सन्तानों को शूद्रों की कोटि में डालते और न कभी शूद्रकुमारों को आर्यों की पदवी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य से विभूषित कर उन्हें सब प्रकार अपने तुल्य बनाने को उद्यत होते । परन्तु जैसा कि मनुस्मृति के प्रमाणों से हम सिद्ध कर आए हैं आर्य लोग उक्त प्रकार शूद्रकुमारों के साथ वर्त्ताव करते थे अतः यह कहना कि आर्य, इस देश के वास्तविक निवासी शूद्रों को सदा पददलित रखना चाहते थे सर्वथा अप्रामाणिक है । अपने कथनों की पुष्टि में यूरोपीय ऐतिहासिक कहते हैं कि शूद्र और आर्यों की आकृति में भेद हैं अतः वे भिन्न २ हैं । यह कथन तो ऐसा है कि जिस की परीक्षा प्रत्येक पुरुष अपने नेत्रों से स्वयं कर सकता है । अनेक लोग जो आज कल शूद्रों के भीतर गिने जाते हैं बड़े २ सुन्दर आकृति वाले हैं और कई पुरुष जो ब्राह्मण कुलोत्पन्न कहलाते हैं कई शूद्र कहलाने वालों से भी कम सुन्दर हैं । कई शूद्र कहलाने वाले गौरवर्ण के और कई ब्राह्मण कहलाने वाले कृष्ण वर्ण के विद्यमान हैं । और आकृति वा रंग आदि में तो खान पान के व्यवहार और निवास की रीतियों के कारण भी प्रायः भेद हो जाया करता है अतः आकृति वा रंग के द्वारा शूद्र और आर्य्यों की पहचान नहीं हो सक्ती । और न इस प्रकार की जांच प्राचीन आर्य्यों के पास थी क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वा शूद्र ऊपर की आकृति वा रंग के कारण कोई नहीं कहलाता था प्रत्युत आत्मिक गुण कर्म्म स्वभावों के कारण उक्त नाम मिलते थे । चाण्डालों को तो यूरोपीय ऐतिहासिक आर्य्यों की सन्तान बतलाते हैं परन्तु यदि कोई चाण्डालों और आर्य्यों, तथा शूद्रों और

आर्य्यों के रंग रूप मिलावे तो उसे ज्ञात हो जायगा कि शूद्रों के रंग रूप आर्य्यों से अधिक मिलते हैं और चाण्डालों के कम। दक्षिण भारत में जो द्रविड़ वा ड्रैवेडियन बसते हैं उन्हें यूरोपीय ऐतिहासिक भारत में आर्य्यों से भी पहले आया हुआ बतलाते हैं और क्योंकि उन के साथ बसने वाले ब्राह्मण उन्हें अतिनीच शूद्र कहते हैं इसी कारण यूरोपीय ऐतिहासिक शूद्रों को भारत के आदि निवासी और आर्य्यों को पीछे से आया हुआ बताते हैं। क्योंकि नीच ड्रैवेडियनों की भाषा बहुत ही भ्रष्ट है इस कारण यूरोपीय ऐतिहासिक उस भाषा को भी आर्य्यों की भाषा से भिन्न मानते हैं। परन्तु उक्त ड्रैवेडियनों के विषय में यूरोपियनों का जो कुछ कथन है वह अनुमान पर ही निर्भर है जो कि हमें ठीक २ प्रमाण-मूलक ज्ञात नहीं होता। मनुस्मृति की साक्षीः—

> " शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
> वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥ मनु १०। ४३॥
> पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः।
> पारदाः पल्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः॥ मनु १०। ४४॥

वर्तमान रहते हम कैसे मान लें कि द्रविड आर्य्यों की सन्तति नहीं है। उन की भाषा इतनी भ्रष्ट क्यों है इस का कारण तो यह है कि वे उत्तर भारत से दूर दक्षिण में निकल गए और चिरकाल तक उन का सम्बन्ध उत्तर भारत के आर्य्यों से छूट गया और वह जो कुछ ज्ञान अपने साथ लाए थे वह उपदेष्टा ब्राह्मणों के अभाव से अप्रचार के कारण क्रमशः इतने ह्रास को प्राप्त हो गया कि वे पतित बन गए और उन की भाषा भी बिगड़ते २ इस दुर्दशा को प्राप्त हो गई। जो ब्राह्मण उन के साथ बसते हैं और जिन में सभ्यता का अंश विद्यमान है वे उस द्रविड देश में उत्तर भारत से पीछे के आए हुए ज्ञात होते हैं और क्योंकि इन ब्राह्मणों के यहां आने पर इन का सम्बन्ध अन्यान्य आर्य्यों के साथ बना रहा इस कारण ये ब्राह्मण अपनी सभ्यता को बनाए रहे। परन्तु फिर प्रश्न उपस्थित होगा कि मनुस्मृति में शूद्रों को दबाए रखने के विषय में श्लोक क्यों पाए जाते हैं? इस का उत्तर क्रमशः दिया जाता है।

शूद्र वा गुलाम—कई यूरोपीय ऐतिहासिक मनुस्मृति अध्याय ८, श्लोक ४१४ का प्रमाण देते और कहते हैं कि शूद्र निकृष्ट स्लेव वा गुलाम थे, वह

पशुओं की तरह अपने स्वामी की सम्पत्ति समझे जाते थे । उक्त श्लोक इस प्रकार है:—

न स्वामिना निसृष्टोऽपि शूद्रो दास्याद् विमुच्यते ।
निसर्गजं हि तत्तस्य कस्तस्मात्तदपोहति ॥ अ० ८ । ४१४ ॥

अर्थात् यदि स्वामी शूद्र को छोड़ भी दे तो वह दास्य से छूट नहीं सकता क्योंकि दासत्व उस का स्वभाव है, उस स्वभाव से उसे कौन दूर कर सकता है ?

यह श्लोक किस प्रकार का है इस की जांच के लिए चाहिए कि इस श्लोक के पूर्व आए हुए कतिपय श्लोकों और इस श्लोक के पश्चात् आए हुए कतिपय श्लोकों पर विचार किया जाय ।

मनुस्मृति के अध्याय ८ श्लोक ४०९ तक कई प्रकार के राजनियमों का वर्णन हो कर ४१० वें श्लोक में लिखा है कि राजा वैश्यों से व्यापार, सूद पर रुपये का लेन देन, कृषिकर्म्म तथा पशुओं की रक्षा करावे और जो शूद्र (अर्थात् अविद्वान्) हों उन से द्विजों की सेवा करावे । पुनः श्लोक ४१८ में लिखा है कि राजा को चाहिए कि वैश्य और शूद्रों से उन २ के काम बड़ी तत्परता से करावे नहीं तो सम्भव है कि अपने अपने कर्म्मों के परित्याग से वे संसार को क्षुभित करदें । पुनः श्लोक ४१९ वें में लिखा है कि राजा अमुक अमुक कामों पर भी विशेष ध्यान दिया करे ।

इस प्रकार श्लोक ४१० वें के साथ श्लोक ४१८ वें तथा ४१९ वें की पूरी २ संगति बैठती है । परन्तु ४१० वें श्लोक के साथ ४११ वें श्लोक से लेकर ४१७ वें श्लोक तक जितने श्लोक हैं उन की कुछ भी संगति नहीं बैठती क्योंकि ४११ वें से ४१७ वें तक के श्लोकों में जो कुछ लिखा है उस का आशय है कि "ब्राह्मण, दरिद्री क्षत्रिय और वैश्यों को नौकर रक्खे परन्तु उन उन से उन उन के ही काम करावे, इन की इच्छा के विरुद्ध इन से दासकर्म्म, न करावे, ब्राह्मण की सेवा के लिए ही (अर्थात् क्षत्रिय वैश्य की सेवा के लिए नहीं) शूद्रों को स्वयम्भू ने पैदा किया है, दासत्व से शूद्र कभी नहीं छूट सकता, दास सात प्रकार के होते हैं । दास का धन उस के स्वामी का ही है, शूद्र का धन निर्भयता से ब्राह्मण ले ले (क्योंजी क्षत्रिय और वैश्य भी ले ले ?) क्योंकि शूद्र का धन अपना नहीं प्रत्युत उस के स्वामी का है" । एक तो इन श्लोकों के भाव मनुस्मृति के निर्णीत सिद्धान्तों

के विरुद्ध हैं द्वितीय जहां प्रकरण राजा के कर्तव्यों का चल रहा है वहां इन श्लोकों का आना सर्वथा अनुचित है । कहां तो ब्राह्मण के लिए लिखा है कि वह धन सञ्चय से पृथक् रहे और कहां इन श्लोकों में ब्राह्मण को ऐसा सम्पत्तिमय बतलाया कि वह दरिद्री क्षत्रिय और वैश्यों से भी काम लेकर उन का भरण पोषण किया करे ! कहां तो ब्राह्मणों के गुण ऐसे वर्णित हैं कि वह सब को ज्ञानप्रदान करते हुए सब के अविद्या के बन्धन काट सब को स्वच्छन्द और स्वतन्त्र बनाने का यत्न करते रहें, दूसरों से दान लेना भी घृणित समझें और कहां इन श्लोकों में यह वर्णित कि वे शूद्र को कभी स्वतन्त्र न होने दें क्योंकि स्वयम्भू ने उसे ब्राह्मण की सेवा के लिए ही बनाया है और ब्राह्मणस्वामी निर्भयता के साथ अपने शूद्र नौकर की सम्पत्ति छीन लें । मालूम होता है कि किसी कम पढ़े स्वार्थी ब्राह्मण नामधारी ने (वास्तविक ब्राह्मण नहीं ने) इन श्लोकों को मनुस्मृति में मिलाया है । यदि उक्त प्रक्षिप्त श्लोकों की बातें ठीक होती तो मनुस्मृति में यह कभी नहीं लिखा होता कि शूद्र स्वतन्त्र है यथा "**शूद्रस्तु यस्मिन्कस्मिन् वा निवसेद् वृत्तिकर्शितः**" (मनु० २ । २४) शूद्र की इच्छा जहां चाहे वहां रहे और जहां उसे जीविका प्राप्त हो वहां प्राप्त करे । पुनः (मनु० ११ । ३४) में लिखा है "**क्षत्रियो बाहुवीर्य्येण तरेदापदमात्मनः । धनेन वैश्यशूद्रौ तु जपहोमैर्द्विजोत्तमः**" । अर्थात् (अपने ऊपर आई हुई) आपत्ति को क्षत्रिय अपने बाहुबल से, वैश्य और शूद्र धन से और ब्राह्मण जप होम से दूर करें । यदि प्रक्षिप्त श्लोकानुसार ब्राह्मण, शूद्र के धन को छीन लेते होते तो उस बेचारे के पास धन ही काहे को होता और विपत्ति में वह अपनी रक्षा ही किस प्रकार कर सकता ? और ब्राह्मण के पास शूद्र का यदि धन आया होता तो उस के लिए भी लिखा होता कि वह धन से भी अपनी रक्षा करे । इन प्रमाणों के अलावे मनु अध्याय ९ श्लोक १५७ दायभाग प्रकरण में स्पष्ट लिखा है कि:—

शूद्रस्य तु सवर्णैव नान्या भार्या विधीयते ।
तस्यां जाताः समांशाःस्युर्यदि पुत्रशतं भवेत् ॥

शूद्र को चाहिए कि अपने वर्ण की (अर्थात् अपने गुण कर्म स्वभाव से मिलती हुई) कन्या से ही विवाह करे, उस शूद्रा भार्य्या से यदि उस शूद्र के सौ पुत्र भी उत्पन्न होवें तो (पिता की सम्पत्ति से) वे समान २ भाग पावें । जहां यह राजनियम होवे कि शूद्रपिता की सम्पत्ति उस के पुत्रों में बराबर २ बांटा जाय, हम नहीं समझते कि उस सम्पत्ति को बलात् कोई अन्य किस प्रकार छीन ले सक्ता होगा

केवल प्रक्षिप्त श्लोकों में ही दास शब्द घृणित अर्थ में प्रयुक्त हुआ है नहीं तो मनुस्मृति के अन्यान्य स्थलों में दास प्रेममात्र सेवक वा नौकर के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। यूरोपादि देशों में जहां गुलामों (स्लेवों) के क्रय विक्रय की रीति प्रचरित थी वहां गुलामों को उन के मालिक अपने पशुओं की तरह जिस प्रकार चाहते थे रख सक्ते थे। परन्तु मनुस्मृति के निम्नलिखित श्लोक दासों को मान्ययुक्त और प्रेमपात्र सिद्ध कर रहे हैं:—

मातापितृभ्यां यामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया ।
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ॥ मनु० ४ । १८० ॥
छाया स्वो दासवर्गश्च दुहिता कृपणं परम् ।
तस्मादेतैरधिक्षिप्तः सहेताऽसंज्वरः सदा ॥ मनु० ४ । १८५ ॥
यथा यथा हि सद्वृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः ।
तथा तथेमं चामुं च लोकं प्राप्नोत्यऽनिन्दितः ॥ मनु० १० । १२८ ॥

(गृहस्थ को चाहिए कि) माता, पिता, बहिन, भ्राता, पुत्र, स्त्री, पुत्री तथा दास वर्ग से झगड़ा न करे। दास अपनी छाया के समान हैं और कन्या परम कृपा योग्य है अतः ये लोग यदि कुछ बुरा भी कहदें तो उसे सदा सह लेवे। सारांश यह है कि मनुस्मृति से यह सिद्ध नहीं हो सक्ता कि शूद्र गुलाम वा स्लेव थे अथवा इन पर किसी प्रकार का अत्याचार होता था अथवा मनुस्मृति जिन समयों का वर्णन करती है उन में गुलाम रखने की प्रथा प्रचरित थी ॥

चारों वर्णों के समान धर्म—मनुस्मृति अध्याय १० श्लोक ६३ में चारों वर्णों के समान धर्म इस प्रकार वर्णित हैं:—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥ मनु १०।६३ ॥

अर्थात् अहिंसा (किसी से द्वेष वा किसी प्राणी का बध न करना) सत्य, (सत्य मानना, सत्य बोलना, सत्य करना), अस्तेय (छल कपट से रहित रहना तथा दूसरे की सम्पत्ति अन्याय वा चोरी से न लेना) शौच (जलादि से शरीर को शुद्ध रखना तथा ईर्षा द्वेषादि के त्याग से मन को पवित्र रखना) इन्द्रिय-निग्रह (इन्द्रियों को शुभ कर्मों में लगाने के लिए उन्हें दुर्व्यसनों की ओर न जाने देना) ये सब चारों वर्णों के संक्षिप्त धर्म हैं जिन्हें मनु ने कहा है।

आश्रमों की व्यवस्था ।

मनुस्मृति से ज्ञात होता है कि मनुष्य को चाहिए कि अपना जीवन चार भागों में विभक्त करे। अपनी आयु के प्रथमभाग में ब्रह्मचर्यपूर्वक साङ्गोपाङ्ग वेदाध्ययन करे* तदनन्तर गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर वानप्रस्थ और वानप्रस्थ से संन्यासी बने परन्तु जिस ने विशेष आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया हो और जिस का हृदय मनुष्यों की दशा सुधारने के लिए तड़फड़ाता हो वह ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति के अनन्तर ही संन्यासी बन सकता है अथवा कोई गृहस्थाश्रम की समाप्ति पर भी संन्यास धारण कर सकता है। अस्तु। परन्तु जब तक ब्रह्मचर्याश्रम में तप करता हुआ मन और इन्द्रियों को दमन करता हुआ मनुष्य यथोचित विद्या ग्रहण नहीं करता एवं वीर्यवान्, दृढाङ्ग, बलशाली और धार्मिक विद्वान् नहीं बनता तब तक वह अन्य तीनों आश्रमों में से किसी भी आश्रम के कर्त्तव्य पालन नहीं कर सकता। अतः परमावश्यक है कि पिता माता अपने बालकों में ज्यों ही वे सुधि सम्भालें त्यों ही ब्रह्मचर्याश्रम की प्रीति संस्थापित करने लगें ताकि गुरुकुल में प्रवेश करते समय उन का हृदय उत्साह और ऊंची २ आशाओं से परिपूर्ण रहे।

ब्रह्मचर्याश्रम—मनुस्मृति के प्रमाण से हम पूर्व अङ्कित कर आए हैं कि जो द्विजकुमार विद्याध्ययन नहीं करता था वह द्विजकोटि से गिर कर व्रात्य अर्थात्

---

* नोट—मनुस्मृति अध्याय ३, श्लोक १ तथा २ में लिखा है:—

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवैदिकं व्रतम्।
तदर्द्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा॥
वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्॥

अर्थात् गुरु के समीप वास करता हुआ ३६ छत्तीस वर्ष वा उस से आधा १८ अट्ठारह वर्ष वा चौथाई ९ नौ वर्ष अथवा जब तक पूरी विद्या ग्रहण न कर लेवे तब तक (सब) वेदों को वा दो वेदों को वा(कम से कम) एक वेद भी पढ़ कर और ब्रह्मचर्य्यव्रत से कभी भी पतित न हो कर (अर्थात् ब्रह्मचर्य्यव्रत की भली भांति पालना कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे। उक्त श्लोकों से ज्ञात होता है कि ब्रह्मचर्याश्रम का समय (यदि आठ वर्ष की अवस्था में ब्रह्मचारी बने हों और छत्तीस वर्ष पढ़ते रहे हों) चवालीस वर्षतक का भी होता था। यदि कोई ब्रह्मचारी बारह वर्ष की उम्र में गुरुकुल में आया हो और ३६ वर्ष तक पढ़ता हो तो उस का ब्रह्मचर्य्य ४८ वर्षों का हो जाता होगा)।

शूद्रतुल्य बन जाता था। एवं जो शूद्रकुमार ब्रह्मचर्य्यपूर्वक विद्या और तप का सेवन करता था वह वैश्य और क्षत्रिय ही नहीं प्रत्युत ब्राह्मणपद को भी प्राप्त कर सकता था। इस से ज्ञात होता है कि उस समय समाज का बल इतना बढ़ा हुआ था कि कोई भी पढ़ने योग्य बालक ब्रह्मचारी बने बिना रह नहीं सकता था। समाज के दबाव के साथ ही साथ राजा का भी इस विषय में बड़ा भारी दबाव था क्योंकि राज्य के कुमारों और कुमारियों को विद्यादि द्वारा योग्य बनाना उस के मुख्य कर्त्तव्यों में से एक कर्त्तव्य था, यहां तक कि जिन बालकों के पिता माता मर जाते थे और जिन का कोई संरक्षक नहीं होता था, उन्हें भी गुरुकुल में पढ़ना ही पड़ता था और जब तक वह बालक विद्या पूर्ण कर स्नातक न बन जाते थे तब तक उन बालकों के दायभाग (थोड़ा वा बहुत जो कुछ हो) की रक्षा का भार राजा पर रहता था जैसा कि मनुस्मृति अध्याय ८ के निम्नलिखित श्लोक २७ से विस्पष्ट ज्ञात होता है:—

बालदायादिकं रिक्थं तावद्राजाऽनुपालयेत्।
यावत् स स्यात् समावृत्तो यावच्चातीतशैशवः॥ म० ॥८।२७॥

अर्थात् बालक के दायभाग के द्रव्य की अनुपालना (द्रव्य की रक्षा और वृद्धि) राजा तब तक करता रहे जब तक वह बालक समावर्त्तन संस्कार न करले (अर्थात् गुरुकुल में अपनी विद्या पूर्ण कर गुरु की आज्ञा से घर न लौटे) एवं जिस की शैशवावस्था समाप्त न हो जाय।

ब्रह्मचर्य्यव्रतारम्भ—मनुस्मृति अध्याय २, श्लोक ३६, ३७, ३८, तथा ४० से ज्ञात होता है कि बालकों के यज्ञोपवीत तथा वेदारम्भ संस्कार साधारणतः आठवें से लेकर बारहवें वर्ष तक हो जाते थे। कोई २ बालक जो तीक्ष्णबुद्धि के होते थे उन के उक्त संस्कार पांचवें वा छठे वर्ष में भी होते थे। और किसी २ अल्पबुद्धिवालों के उक्त संस्कार चौबीसवें वर्ष तक भी हो जाते थे। यह इस लिए कि इतनी आयु तक भी यदि किसी की बुद्धि किसी प्रकार विद्या ग्रहण करने योग्य बन जाय तो वह विद्या के प्रकाश से वंचित न रहे। इतना ही नहीं प्रत्युत जो २४ वर्ष के उपरान्त भी प्रायश्चित्त कर यज्ञोपवीत तथा वेदारम्भ कराना चाहते थे उन के भी यज्ञोपवीत तथा वेदारम्भ संस्कार हो जाते थे। यह सब इस लिए कि कोई भी सच्चा विद्याभिलाषी विद्या के सुखद परिणामों से रहित न होने पावे परन्तु उक्त विद्याविहीन अधिक उमर वालों के लिए भी आवश्यक था कि वह अक्षतवीर्य हों।

गुरु और शिष्य—जो गुरु ब्रह्मचारी के आत्मा को इस संसार में ही उत्तमोत्तम सुखों की प्राप्ति योग्य नहीं बनाता प्रत्युत जो आत्मज्ञान प्रदान कर उस का परलोक भी सुधार देता है उस ऐहिक और पारलौकिक सुखों के कारण गुरु की जितनी शुश्रूषा की जाय थोड़ी है। मनुस्मृति अध्याय २ में गुरुशिष्यधर्म्म-विषय में कई उत्तमोत्तम श्लोक हैं जिन में से कतिपय हम यहां उद्धृत करते हैं:—

य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ ।
स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत् कदाचन ॥ अ०२।१४४॥
उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ अ०२।१४०॥
एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः ।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ॥ अ०२।१४१॥
चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा ।
कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च ॥ अ०२।१९१॥
शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च ।
नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोर्मुखम् ॥ अ०२।१९२॥
हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात् सर्वदा गुरुसन्निधौ ।
उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशत् ॥ अ०२।१९४॥
आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः ।
प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्धावंस्तु धावतः ॥ अ०२।१९६॥
पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्यैत्य चान्तिकम् ।
प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः ॥ अ०२।१९७॥
नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ ।
गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत् ॥ अ०२।१९८॥
नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम् ।
न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम् ॥ अ०२।१९९॥
गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वाऽपि प्रवर्तते ।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः ॥ अ०२।२००॥
यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥ अ०२।२१८॥

अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधः शय्यां गुरोर्हितम् ।
आसमावर्तनात्कुर्यात् कृतोपनयनो द्विजः ॥ अ० २।१०८॥
समाहृत्य तु तद्भैक्षं यावदर्थममायया ।
निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः ॥ अ० २।५१॥
वर्जयेन्मधुमांसञ्च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः ।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥ अ० २।१७७॥
अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम् ।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्त्तनं गीतवादनम् ॥ अ० २।१७८॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथाऽनृतम् ।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥ अ० २।१७९॥
एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित् ।
कामाद्धि स्कन्दयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥ अ० २।१८०॥
मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखाजटः ।
नैनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेत् सूर्यो नाऽभ्युदियात्क्वचित् ॥ अ० २।२१९॥

अर्थात् जो (गुरु शिष्य के) दोनों कर्णों को सत्य विद्यामय वेदों की शिक्षा से भरता है वह माता पिता के तुल्य है उस से कभी भी द्रोह नहीं करना चाहिए। जो द्विज शिष्य का उपनयन करा कर कल्प और रहस्य सहित वेद (अर्थात् वेद मन्त्रों के साधारण अर्थ तथा उन में जो गूढ़ आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान हैं उन्हें भी) पढ़ता है उसे आचार्य्य कहते हैं, और जो वेद के किसी भाग को वा वेदाङ्गों को वृत्त्यर्थ पढ़ावे उसे उपाध्याय कहते हैं । चाहे गुरु प्रेरणा करें वा न करें परन्तु (ब्रह्मचारी को चाहिए कि) वह यत्न पूर्वक अपने अध्ययन में तथा गुरु की शुश्रूषा में लगा रहे । शरीर, वचन, बुद्धि, इन्द्रिय, तथा मन को नियम में (वश में) रखता हुआ, विनीतभाव से गुरु की चेष्टा का ध्यान रखता हुआ (गुरु के समीप) निवास करे । गुरु के समीप रहता हुआ सदा गुरु के भोजन से घटिया भोजन करे, उन के वस्त्र से घटिया वस्त्र पहने उन के वेष से घटिया वेष रक्खे, गुरु के सोकर उठने से पहले सोकर उठे और उन के शयन करने के पीछे शयन करे । यदि (गुरु) बैठे हों तो (शिष्य) खड़ा होकर, (गुरु) खड़े हों तो (शिष्य) समीप आकर, (गुरु) अपनी ओर आते हों तो (शिष्य) उन की ओर जाकर, (गुरु) चलते हों तो (शिष्य) उन के पीछे २ चलता हुआ (यथावश्यक) सम्भाषणादि करे । गुरु का मुख अपनी

ओर न हो तो उन के सन्मुख होकर,(गुरु) दूर हों तो उन के निकट जाकर, (गुरु) यदि लेटे हों वा खड़े हों तो उन्हें प्रणाम कर के उन से सम्भाषणादि करे । गुरु के निकट शिष्य की शय्या वा आसन (गुरु की शय्या वा आसन से) सदा नीचा होना चाहिए, गुरु के सन्मुख शिष्य को मन मानी रीति से नहीं (प्रत्युत सावधानता से) बैठना चाहिए । परोक्ष में भी गुरु का केवल (श्रीमान् आदि प्रतिष्ठायुक्त शब्दों के विना) नाम न लेवे और न गुरु की गति, भाषण वा चेष्टा का अनुकरण करे । जहां गुरु का अवगुण कथन होता हो वा निन्दा होती हो वहां अपने कानों को बन्द कर लेवे अथवा वहां से हट जावे (अर्थात् गुरु का दोष वा निन्दा कभी न सुने) जिस प्रकार मनुष्य खंती (वा कुदाल) से खोदता हुआ (धरातल से नीचे की ओर रहने वाले) जलतक पहुंच जाता है उसी प्रकार भली भांति सेवा करने वाला (ब्रह्मचारी) गुरु के भीतर जो विद्या है उसे प्राप्त कर लेता है । अग्निहोत्र, भिक्षा, नीचे (पृथिवी पर) शयन, तथा गुरु की सेवादि (हित की क्रियाएं) वह द्विज अर्थात् जिस का यज्ञोपवीत संस्कार हो गया है तब तक (अवश्य) किया करे जब तक उस का समावर्तन संस्कार न हो जावे । निष्कपटभाव से भिक्षान्न लाकर और उसे गुरु को निवेदन कर अर्थात् गुरु के सन्मुख रखकर और गुरु की उस में से जितनी लेने की इच्छा हो उतनी देकर शिष्य पवित्रता से पहले आचमन करे, और तब भोजन करे । मधु, मांस, गन्ध, माला, रस, स्त्री, सब प्रकार की खटाई, प्राणियों की हिंसा, अङ्गों का मर्दन (विना निमित्त उपस्थेन्द्रिय का स्पर्श) आंखों में अञ्जन, जूते और छत्र का धारण, काम, क्रोध, लोभ, नाच, गान और बाजा बजाना, द्यूत, जिस किसी की कथा, निन्दा, मिथ्याभाषण, स्त्रियों का विशेष दर्शन वा स्पर्शन तथा दूसरे की हानि (आदि कुकर्मों को ब्रह्मचारी) सदा छोड़ देवे सर्वत्र एकाकी सोवे वीर्य्य स्खलित कभी न करे, जो कामना से वीर्य्यस्खलित कर दे तो (जाने कि) अपने ब्रह्मचर्य्य व्रत का नाश करादिया । चाहे मुण्डित (शीश के सब बाल मुंडवाए हुए) अथवा जटिल (शीश के सब बाल रक्खे हुए) अथवा शिखा जटा (शिखा, चोटी को छोड़ शीश के शेष बाल मुंडवाए हुए) हो (परन्तु) ग्राम में कभी भी इसे सूर्य्यास्त न हो और न ग्राम में इसे कभी सूर्योदय हो (अर्थात् आवश्यकतावश गुरुकुल से ग्राम में गया हुआ ब्रह्मचारी रात्रि समय ग्राम में कभी भी न ठहरे)।

अनध्याय—सूत्रग्रन्थों के प्रकरण में जो २ अनध्याय के समय वा स्थान परिगणित कर आए हैं प्रायः वही सब समय और स्थान मनुस्मृति में भी स्वाध्याय

के लिए वर्जित लिखे हैं अतः विस्तारभय से मनुस्मृति के तद्विषयक सब श्लोकों को उद्धृत न कर केवल एक श्लोक उद्धृत किए देते हैं जो कि अनध्याय प्रकरण का सार ज्ञात होता है:—

द्वावेव वर्जयेन्नित्यमनध्यायौ प्रयत्नतः।
स्वाध्यायभूमिं चाशुद्धामात्मानं चाशुचिं द्विजः॥ मनु ४। १२७॥

पढ़ने की जगह अपवित्र हो तब तथा जब कि स्वयं (पढ़ने वाला शरीर या मन से) अपवित्र हो तब इन दोनों ही अवस्थाओं में पढ़ना मना है (उक्त अवस्थाओं में) यत्न पूर्वक अनध्याय मनावे।

गुरु ही वर्ण व्यवस्थापक था—मनुस्मृति अध्याय २, श्लोक १४८ में जातिनिर्णयविषयक यह शिक्षा है:—

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद् वेदपारगः।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजराऽमरा॥ मनु० २। १४८॥

अर्थात् सम्पूर्ण वेद का ज्ञाता (ब्रह्मवेत्ता) आचार्य सावित्री के विधिवत् उपदेश से (अर्थात् सावित्री के मर्म्मविषयक उपदेश से जो वैदिकविज्ञान की पूर्णशिक्षा विना नहीं हो सक्ता) इस (शिष्य) की जो जाति उत्पन्न करता है वही जाति सत्य और अजर अमर है तात्पर्य्य यह है कि अपने पिता माता के घर से गुरुकुल में आया हुआ ब्रह्मचारी यद्यपि अपने पिता माता के वर्णानुसार नाम धारण किए हुए आता है परन्तु यह आवश्यक नहीं कि ब्रह्मचारी पिता माता के ही वर्ण का बन जावे। वास्तव में वर्णनिर्णय तो तब होता है जब कि सावित्री के मर्म्मोपदेश द्वारा गुरु ब्रह्मचारी के आत्मा को ज्ञानमय बना कर उसे उस की योग्यतानुसार किसी वर्ण की पदवी प्रदान करता है। अतः ज्ञात होता है कि वर्णव्यवस्था का पुनरुद्धार तब तक ठीक २ नहीं हो सक्ता जब तक ब्रह्मचर्य्याश्रम की रीति ठीक २ प्रचरित न हो जावे।

गृहस्थाश्रम।

संसार के उपकार के लिए, पितृ-ऋण से छूटने के लिए, विधिवत् ब्रह्मचर्य्यव्रत की पालना कर सुसन्तानोत्पत्ति की इच्छा से जिस आश्रम में नर नारी साथ रहते थे उसे गृहस्थाश्रम कहते थे।

गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता—गृहस्थाश्रम की महिमा मनुस्मृति में इस प्रकार वर्णित है:—

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।
एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः ॥ मनु० ६। ८७॥
यथा नदी नदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥ मनु० ६। ९०॥
यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥ मनु० ३। ७७॥
यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो दानेनाऽन्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ मनु० ३। ७८॥
स संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥ मनु० ३। ७९॥

अर्थात् ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति ये चारों आश्रम वाले गृहस्थ से ही उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार सब नदी और नद सागर में ही जाकर ठहरते हैं (अर्थात् तब तक भ्रमते ही रहते हैं जब तक समुद्र को प्राप्त नहीं होते) वैसे गृहस्थ ही के आश्रय से सब आश्रम स्थिर रहते हैं (अर्थात् विना इस आश्रम के किसी आश्रम का कोई व्यवहार सिद्ध नहीं होता)। जिस प्रकार वायु का आश्रय ले कर ही सब प्राणी वर्त्तते अर्थात् जीते वा अपने कामों में लगे रहते हैं उसी प्रकार गृहस्थ के आश्रय से ही सब आश्रमों के लोग अपने २ कामों में लगे रहते हैं। जिस से (ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, और संन्यासी) तीन आश्रमों को दान और अन्नादि दे के प्रतिदिन गृहस्थ ही धारण करता है इस से गृहस्थ ज्येष्ठाश्रम है (अर्थात् सब व्यवहारों में धुरन्धर कहाता है)। इस लिये (जो) मोक्ष और संसार के सुख की इच्छा करता हो वह प्रयत्न से (अच्छे प्रकार) गृहाश्रम को धारण करे जो गृहाश्रम दुर्बलेन्द्रिय अर्थात् भीरु और निर्बल पुरुषों से धारण करने अयोग्य है।

एक पुरुष की एक ही पत्नी होती थी—मनुस्मृति, अध्याय ३ के श्लोक ४ में स्पष्ट पाठ है "उद्वहेत द्विजो भार्यां, सवर्णाम् लक्षणान्विताम्"। "भार्यां" शब्द और उस के गुणसूचक "सवर्णाम्" और "लक्षणान्विताम्" ये सब के सब द्वितीया के एक वचन हैं अतः सिद्ध हुआ कि एक पुरुष एक ही कन्या से विवाह कर सक्ता था नकि अनेक कन्याओं से।

स्वयम्वर तथा युवावस्था का विवाह—जिस प्रकार बालविवाह की प्रथा आज कल चली हुई है वैसी प्रथा मनुस्मृति के समय में न थी, उन दिनों तो कन्या जब विदुषी और युवा हो लेती थी तब वह अपने समान गुणी पुरुष को वरती और उस के साथ विवाह करती थी इस वरण में माता पिता कन्या के सहायक होते थे। अर्थात् माता पिता वर की खोज में पूर्ण यत्न करते थे और जब कन्या वर को पसन्द कर लेती थी तब विवाह संस्कार के नियमों के अनुसार अपनी कन्या का उस वर से विवाह कर देते थे । इस विषय में मनुस्मृति अध्याय ९, श्लोक ९० में लिखा है:—

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती ।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्दते सदृशं पतिम् ॥ मनु ९ । ९० ॥

सती कुमारी ऋतुमती होने के पश्चात् तीन वर्ष पर्यन्त पति का खोज करे और तदनन्तर अपने समान गुण कर्म्म स्वभाव वाले पति को वरले ।

कन्याविक्रय का निषेध—मनुस्मृति में लिखा है कि कन्या का पिता वर से द्रव्य लेकर कन्या का विवाह न करे क्योंकि ऐसा करने से वह कन्या विक्रय का दोषी ठहरेगा यथाः—

न कन्यायाः पिता विद्वान् गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि ।
गृह्णञ्छुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी ॥ मनु० ३ । ५१ ॥

अत्यल्प भी शुल्क कन्या का विद्वान् पिता (वर से) न ले यदि लोभ से शुल्क लेवे तो वह पुरुष सन्तान का बेचने वाला समझा जावे ।

पञ्चमहायज्ञ—इस विषय पर हम सूत्रग्रन्थों में लिख चुके हैं । जो विशेष देखना चाहें वे मनुस्मृति अध्याय ३ तथा ४ चार को देखें । विस्तारभय से अन्य यज्ञों को छोड़ पितृयज्ञ के विषय में हम यह कतिपय श्लोक उद्धृत करते हैं जो कि बड़े ही लाभकारी हैं:—

आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः ।
नार्त्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः ॥ मनु० २।२२६ ॥
यं मातापितरौ क्लेशं सहेते संभवे नृणाम् ।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ॥ मनु० २ । २२७ ॥
तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा ।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ॥ मनु०२ । २२८ ॥

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते ।
न तैरभ्यनुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् ॥ मनु० २ । २२९ ॥
त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः ।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः ॥ मनु० २ । २३० ॥
पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः ।
गुरुराहवनीयस्तु साऽग्नित्रेता गरीयसी ॥ मनु० २ । २३१ ॥
त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान्विजयेद् गृही ।
दीप्यमानः स्ववपुषा देववद्दिवि मोदते ॥ मनु० २ । २३२ ॥
इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम् ।
गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥ मनु० २ । २३३ ॥
सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः ।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याऽफलाः क्रियाः ॥ मनु० २ । २३४ ॥
यावत् त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत् ।
तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात्प्रियहिते रतः ॥ मनु० २ । २३५ ॥
तेषामनुपरोधेन पारत्र्यं यद्यदाचरेत् ।
तत्तन्निवेदयेत्तेभ्यो मनोवचनकर्मभिः मनु० २ । २३६ ॥
मातृष्वसा मातुलानी श्वश्रूरथ पितृष्वसा ।
संपूज्या गुरुपत्नीवत् समास्ता गुरुभार्यया ॥ मनु० २।१३१ ॥

अर्थात् अपने आचार्य, पिता, माता वा बड़े सहोदर भाई से पीड़ित होने पर भी उन का अपमान न करे और ब्राह्मण तो इस का विशेष ध्यान रक्खे । मनुष्य की उत्पत्ति और पोषण में जो क्लेश माता और पिता सहते हैं उस का बदला सौ वर्ष में भी कोई नहीं दे सकता । माता पिता तथा आचार्य का सर्वदा नित्यप्रति प्रियाचरण क्रिया करे इन तीनों के सन्तुष्ट होने से ही मनुष्य के सब तप पूर्ण होते हैं । इन तीनों की सेवा शुश्रूषा बड़ी तपस्या कहलाती है धर्मसम्बन्धी अन्यान्य कार्य जो सन्तान को करने हों उन के लिए उक्त तीनों की आज्ञा अवश्य ले लिया करे । ये तीनों ही तीनों, लोकों की भांति, तीनों आश्रमों की भांति, तीनों वेदों की भांति तथा (आहवनीयादि) तीनों अग्नियों* की भांति (सुखदाई) कहे गये हैं । पिता

---

* नोट:-जिस अग्नि में गृहस्थ नित्य होम किया करता है उस का नाम गार्हपत्याग्नि है, जिस अग्नि में वानप्रस्थ हवन करता है उसे दक्षिणाग्नि कहते हैं और जिस अग्नि में ब्रह्म-

जो गार्हपत्याग्नि की तरह, माता जो दक्षिणाग्नि की तरह तथा आचार्य जो आहवनीयाग्नि की तरह हैं वे उक्त अग्नियों से भी अधिक श्रेष्ठ तथा सुखदाई हैं। यदि गृहस्थ प्रमादरहित हो कर विधिपूर्वक इन तीनों की सेवा कर सके तो अपने को तीनों लोकों के विजयी पुरुष की तरह माने इन तीनों की विधिवत् सेवा करने वाले पुरुष का आत्मा तेजोमय हो जाता है और वह बड़े बड़े ज्ञानियों की भांति इस शरीर द्वारा ही ज्ञानानन्द में निमग्न हो जाता है। पृथिवी (सम्बन्धी सुखों) को माता की भक्ति से, अन्तरिक्ष (सम्बन्धी सुखों) को पिता की भक्ति से और दर्शनीय ब्रह्म-(सम्बन्धी आनन्द) को आचार्य की शुश्रूषा से भोगता है। उस पुरुष के सब किए हुए धर्म प्रशंसा के योग्य होते हैं जो अपने माता पिता और आचार्य का आदर करता और कराता है और (सेवा शुश्रूषा के अभाव से) जिस के उक्त तीनों अनादर पाते हैं उस की सब क्रिया निष्फल ही होती रहती हैं। जब तक उक्त तीनों जीते रहें तब तक चाहे अन्य कुछ न कर सके तो न करे परन्तु उन की प्रीति और हित में लगा हुआ नित्य उन की शुश्रूषा किया करे। उन माता पिता तथा आचार्य की सेवा में अबाधक जो जो धर्मानुष्ठान परलोक के सुधार के लिये अपने मन, वचन वा कर्म से करे उस उस को उन्हें निवेदन कर दिया करे (ताकि उन उन अनुष्ठानों के विषय में उन से परामर्श मिल जाया करे)। माता की बहिन, मामी, सास और पिता की बहिन ये गुरुपत्नी की तरह हैं अतः इन का सत्कार गुरुभार्या की भांति किया करे। एवं जो जो पुरुष पूज्य वा स्त्री पूज्यनीया हों उन उन का भी यथायोग्य और यथाशक्ति सत्कार किया करे।

खाद्याऽखाद्य—शुद्ध भूमि से उत्पन्न हुए शुद्ध अन्न शाक फल मूल तथा नीरोगगवादि पशु से उत्पन्न हुए पवित्र, दूध और दूध से उत्पन्न हुए घृत मनुष्य के श्रेष्ठ भोजन हैं। ये अभक्ष्य तब हो जाते हैं जब कि ये विकृत हो जाते हैं। खाद्याऽखाद्य विषयक अनेक श्लोक मनुस्मृति में वर्तमान हैं, जिन में से कतिपय विशेष दशाओं के सूचक श्लोक नीचे उद्धृत किये जाते हैं:—

नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथाऽन्तरा।
न चैवाध्यशनं कुर्यान्नचोच्छिष्टः क्वचिद् व्रजेत्॥ म० २।५६॥

चारी होम करता है उस का नाम आहवनीय रख लिया गया है। वास्तव में सब एक वस्तु अग्नि ही है परन्तु भिन्न भिन्न आश्रमों के सम्बन्ध से उन का नाम प्राचीनों ने भिन्न भिन्न रख छोड़ा है।

यत्किञ्चित् स्नेहसंयुक्तं भक्ष्यं भोज्यमगर्हितम् ।
तत्पर्युषितमप्याद्यं हविश्शेषं च यद् भवेत् ॥ मनु ५।२४ ॥
मत्तक्रुद्धातुराणां च न भुञ्जीत कदाचन ।
केशकीटावपन्नं च पदास्पृष्टं च कामतः ॥ मनु ४।२०७ ॥
नाऽकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥ मनु ५।४८ ॥
समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम् ।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥ मनु ५।४९ ॥
अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥ मनु ४।५१ ॥
सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णां सुरां पिबेत् ।
तया सकाये निर्दग्धे मुच्यते किल्विषात्ततः ॥ मनु ११।९० ॥
नाद्याच्छूद्रस्य पक्वान्नं विद्वानश्राद्धिनो द्विजः ।
आददीताममेवास्मादवृत्तावेकरात्रिकम् ॥ मनु ४।२२३॥

अर्थात् न किसी को अपना झूठा दे और न किसी के भोजन के बीच आप खावे (अर्थात् एक ही पात्र में दूसरे के साथ न खावे) न अधिक भोजन करे और न भोजन किये पीछे हाथ मुख धोए विना (अर्थात् उच्छिष्ट) कहीं इधर उधर जाय । जो कोई ग्रहण करने योग्य खाद्य वस्तु घृत में बनी हुई बासी भी हो जाय तो खाने योग्य रहती है और पुरोडास (अर्थात् यज्ञ से बचा हुआ खाद्यद्रव्य) यदि घृत रहित भी हो तो खाने योग्य है । पागल, क्रोधी, रोगी का अन्न कभी न खावे, एवं जिस भोजन में केश वा कीट पड़गए हों अथवा जिसे किसी ने जानकर पैर मारदी हो उसे भी न खावे । प्राणियों की हिंसा के विना मांस कभी भी उत्पन्न नहीं होता और प्राणी का वध सुख का देने वाला नहीं है अतः मांसभक्षण वर्जित है । मांस की उत्पत्ति, और देहधारियों के वध और बन्धन को भली भांति देख कर वा विचार कर (कि ये दयारहित कार्य्य हैं) सब प्रकार के मांसभक्षण से बचा रहे । मारने की सम्मति देने वाला, अङ्गों को काट काट कर पृथक् करने वाला, मारने वाला, मांस खरीदने वाला, मांस बेचने वाला, मांस पकाने वाला, (खाने के लिये) मांस परोसने वाला और मांस का खाने वाला ये (सब के सब)

आठ घातक हैं । जो द्विज मोहवश मदिरा पी ले उसे चाहिए कि मदिरा को आग की तरह लाल गर्म कर (पुनः) पीवे जिस में उस से उस का शरीर जले और वह पाप से छूटे । विद्वान् द्विज श्रद्धारहित शूद्र का पका हुआ अन्न न खावे (अर्थात् श्रद्धा सहित यदि शूद्र हो तो उस का खा लेवे) किन्तु यदि उस से (उस श्रद्धा रहित शूद्र से) लिए विना निर्वाह न हो तो अपक्व अन्न एक रात्रि के खाने योग्य ले लेवे (यह श्लोक ध्यान देने योग्य है, इसी पुस्तक में सूत्रग्रन्थों के प्रकरण में हम लिख चुके हैं कि " आर्याधिष्ठिता वा शूद्राः संस्कर्तारःस्युः " अर्थात् आर्य्यों के घर में शूद्र अर्थात् मूर्ख स्त्री पुरुष पाकादि सेवा करें " ऐसी आपस्तम्ब की सम्मति है " जिस से सिद्ध होता है कि आर्यों के निरीक्षणाधीन उन के घर में जब शूद्र पाक बनाते थे, तब आर्य्य उसे खाया करते थे । परन्तु मनुस्मृति के अध्याय ४ श्लोक २२३ में इस बात का निर्णय है कि शूद्र का पक्वान्न अर्थात् जो पक्वान्न कि शूद्र का अपना है अर्थात् उस के घर का है उस के खाने का अवसर किसी कारण यदि किसी द्विज को कभी प्राप्त होवे तो वह क्या करे इस का उत्तर इस श्लोक में यह दिया गया है कि यदि शूद्र श्रद्धालु हो तो उस का पक्वान्न तो द्विज खालेवे परन्तु यदि अश्रद्धालु हो तो द्विज खाने के लिए उस से कच्चा अन्न ले लेवे पक्का न ले)

मनुस्मृति के अतिथियज्ञ विषयक श्लोकों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य गृहस्थों के यहां बड़े २ ज्ञानी महात्मा भी अतिथि बन सक्ते थे जिन्हें उक्त गृहस्थ अपने घर के पके हुए भोजन खिलाते थे अर्थात् द्विजों का परस्पर खान पान था । मनुस्मृति अध्याय ४ के उक्त श्लोक २२३ से ज्ञात होता है कि श्रद्धालु शूद्रों के घर का पक्वान्न भी द्विज लोग खा लिया करते थे ।

साधारण स्वच्छतासम्बन्धी नियम—"अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति । विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति (मनु० ५।१०९) अर्थात् जल से शरीर, सत्य से मन, विद्या और तप से जीव और बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है " इत्यादि आत्मिक मानसिक तथा कायिक शुद्धता-सम्बन्धी गूढ़ नियमों का उल्लेख हम यहां नहीं करना चाहते प्रत्युत साधारण सफ़ाई के जो नियम हैं उन्हें संक्षेपतः लिखते हैं ताकि आज कल के म्युनिसिपल नियमों के प्रेमी समझें कि प्राचीन काल में गृहों राजमार्ग तथा जल स्थानादि की शुद्धि की ओर भी पूरा २ ध्यान दिया जाता था मनुस्मृति में लिखा है:—

दूरादावसथान्मूत्रं दूरात्पादावसेचनम्।
उच्छिष्टान्ननिषेकं च दूरादेव समाचरेत् ॥ मनु० ४।१५१॥

समुत्सृजेद्राजमार्गे यस्त्वऽमेध्यमनापदि।
स द्वौ कार्षापणौ दद्यादमेध्यं चाशु शोधयेत्॥ मनु० ४। २८२॥

नाप्सु मूत्रं पुरीषं वा ष्ठीवनं वा समुत्सृजेत्।
अमेध्यलिप्तमन्यद्वा लोहितं वा विषाणि वा ॥ मनु० ४।५६॥

अद्वारेण च नातीयाद् ग्रामं वा वेश्म वा वृतम्।
रात्रौ च वृक्षमूलानि दूरतः परिवर्जयेत् ॥ मनु० ४। ७३॥

गृह से दूर मल मूत्र का त्याग करे, दूर ही पैर धोवे, और झूठा अन्न भी दूर ही फेंके। जो विना आपदकाल के (रोगादि से अपीड़ित) राजमार्ग (सर्कारी सड़क) पर मैला फेंके वह दो सौ कार्षापण दण्ड दे और मैले को शीघ्र उठा दे। जल में मूत्र, मल, कफ, वा अपवित्र मल मूत्रादि से लिप्त कोई वस्त्र वा कोई अन्य अपवित्र वस्तु वा रुधिर विष न डाले। (पर कोटे वा दीवार से) घिरे हुए ग्राम वा गृह के भीतर दर्वाज़े से ही जावे (अर्थात् दीवार वा परकोटा टप कर न जावे) और **रात्रि के समय वृक्षमूल को दूर से ही छोड़ देवे** (अर्थात् रात्रि समय वृक्ष के नीचे न सोवे)। कोई २ पुरुष ऐसा कहते हैं कि यूरोपियनों को जब से यह ज्ञान हुआ कि रात्रि समय वृक्ष कार्बन छोड़ते हैं जिस का अधिक श्वास मनुष्य के लिए हानिकारक है तभी से निश्चित हुआ कि रात्रि समय वृक्ष के नीचे नहीं सोना चाहिए। परन्तु हम देखते हैं कि इस विषय का ज्ञान प्राचीन आर्यों को बहुत काल से है जिस का एक प्रमाण मनुस्मृति अध्याय ४ का उक्त तिहत्तरवां श्लोक है।

मान्य के नियम—किस का कब कैसा मान होना चाहिए इस विषय की भी अनेक बातें मनुस्मृति में अङ्कित हैं जिन में से कतिपय यहां लिखी जाती हैं:—

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पंचमी।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥ म० २।१३६।

द्रव्य (रुपया पैसा), बन्धु (सम्बन्धी), वय (उमर), कर्म (श्रेष्ठ कर्म) तथा विद्या ये पांच बड़ाई के स्थान हैं अर्थात् इन पांचों से मान्य (बड़ाई) मिलती

है परन्तु इन में से उत्तरोत्तर अधिकतर मान्य कराने वाले हैं, अर्थात् द्रव्य से बन्धु, बन्धु से वय, वय से सुकर्म और सुकर्म से विद्या अधिकतर मान्य कराने वाली है * ।

स्त्रियों की स्थिति—ऐतिहासिक कहते हैं कि यदि किसी मनुष्यजाति की सभ्यता की पूरी पड़ताल करना चाहो तो ध्यान देकर उक्त जाति की स्त्रियों की स्थिति को भी जांचो । अपने इस पुस्तक के स्थान स्थान में स्त्री जाति की महिमा आर्षप्रमाणों से हम प्रदर्शित कर चुके हैं, मनुस्मृति के प्रकरण में भी विवाहादि सम्बन्धों के विषय में कुछ लिखा जा चुका है । मनुस्मृति के समय स्त्रियों का कैसा मान्य था, उन की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए कैसा यत्न किया जाता था, उन के कर्तव्य क्या क्या थे आदि विषयों को पुनः संक्षेपतः लिखते हैं । मनुस्मृति अ० ९ श्लोक ७ में लिखा है:—

स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च ।
स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि रक्षति ॥ म० ९ । ७ ॥

अर्थात् जो पुरुष यत्नपूर्वक अपनी पत्नी की रक्षा करता है वही अपनी सन्तति, चरित्र, कुल तथा अपने धर्म की रक्षा करता है । (इस से बढ़कर स्त्री जाति की मर्यादा और अधिक क्या हो सक्ती है ?) इस श्लोक में जो "जायां रक्षन्" शब्द आया है तथा मनुस्मृति के अन्यान्य कई श्लोकों में भी स्त्री शब्द के साथ जो "रक्षति" क्रिया प्रयुक्त हुई है । उस से कई लोग यह तात्पर्य्य निकालते हैं कि स्त्रियों को प्राचीन आर्य्य रक्षा में अर्थात् बन्धन में रखते थे परन्तु ऐसे लोगों को समझना चाहिए था कि मनुस्मृति अध्याय ९ के उक्त श्लोक ७ में जहां जाया (स्त्री) शब्द के साथ "रक्षन्" क्रिया है वहीं "प्रसूति" "चरित्र" "कुल" तथा "धर्म" शब्दों के साथ भी रक्षति क्रिया का प्रयोग है । यदि स्त्रीरक्षा का अर्थ स्त्री को बन्धन में रखना किया जायगा तो फिर चरित्ररक्षा, वा धर्म रक्षा का अर्थ क्या चरित्र को वा धर्म्म को बन्धन में रखना किया जायगा ? अतः सिद्ध

* नोटः—प्राचीन आर्य्यावर्त में सर्वोपरि विद्वान् धार्मिकों अर्थात् ब्राह्मणों का ही सर्वोपरि मान्य होता था, और होना भी ऐसा ही चाहिए क्योंकि धार्म्मिक विद्वान् सर्वोपरि लाभ पहुचाने वाले होते हैं । यूरोप में इस नियम का आज कल तिरस्कार हो रहा है वहां की सामाजिक सभाओं में सर्वोपरि स्थान आज कल धनियों के पुत्रों को मिलता है । लार्ड और मिलियानियरों के पुत्र चाहे मूर्ख ही क्यों न हों विद्वानों की अपेक्षा अधिकतर सन्मान के आसन ग्रहण करते हैं जिस से अज्ञान की प्रतिष्ठा और ज्ञान का असन्मान होता है जिस का परिणाम हानिकारक असन्तोष होता है ।

होता है कि जिस प्रकार धर्म्म की रक्षा का अर्थ धर्म को उत्तम बनाए रखना है उसी प्रकार स्त्रीरक्षा का अर्थ स्त्री की मर्यादा की रक्षा है। यदि स्त्री बन्धन के ही योग्य होती तो उस की बड़ाई निम्नलिखित प्रकार न की जातीः—

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥ म० ९।२६॥

अर्थात् स्त्रियां सन्तान के लिए हैं, बड़ी भाग्यशालिनी हैं, पूजा के योग्य हैं और घर की ज्योति हैं, घर में स्त्री और श्री दोनों ही समान हैं।

अपत्यं धर्मकार्य्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह ॥म०। ९।२८ ॥

अर्थात् सन्तान, (गृहसम्बन्धी) धर्म्मकार्य्य, शुश्रूषा, उत्तमरति तथा अपना और अपने पितरों का सुख ये सब स्त्री के आधीन हैं।

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहु कल्याणमीप्सुभिः ॥म०।३।५९ ॥

अर्थात् यदि विशेष कल्याण की इच्छा रखते हों तो पिता, भाई, पति, और देवर इन की पूजा (सब प्रकार सत्कार) तथा अलङ्कारादि से सम्मानित करें।

क्योंकि स्त्री अबला कहलाती है अर्थात् वह शरीर से निर्बल होती है और यदि वह सर्वथा अकेली रहे तो उस पर भांति भांति की आपत्तियां आसक्ती हैं अतः उस को अकेली अर्थात् स्वतन्त्र छोड़ना ठीक नहीं है। इसी विषय का सूचक निम्न-लिखित श्लोक हैः—

पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थाविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ म० ९।३ ॥

कुमारी रहने तक पिता रक्षा करता है, यौवनावस्था में पति रक्षा करता है, वृद्धावस्था में पुत्र रक्षा करते हैं स्त्री स्वतन्त्र अर्थात् अकेली रहने योग्य नहीं है।

स्त्री की भावनानुसार पुत्र—आज कल यूरोप और अमेरिका के बड़े बड़े डाक्टर कहते हैं कि गर्भाधान समय स्त्री जैसे पुरुष की भावना करेगी उस का पुत्र भी वैसा ही उत्पन्न होगा और इस आविष्कार को उक्त डाक्टर लोग अपनी अपूर्व खोज का परिणाम बतलाते हैं। परन्तु बीसवीं सदी की यह बात मनुस्मृति में ज्यों की त्यों मिलती है जिस से उक्त डाक्टरों को भी मानना पड़ेगा कि मनुस्मृति

क समय उक्त "मनुषीजीवन-विद्या" कम से कम आज कल के बराबर तो अवश्य ही उन्नत थी । मनुस्मृति अध्याय ९ श्लोक ९ में लिखा है:—

यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथाविधम् ।
तस्मात्प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत्प्रयत्नतः ॥ म० ९।९ ॥

अर्थात् स्त्री जिस प्रकार के पुरुष का भजन (चिन्तन वा सेवन) करती है वैसा ही पुत्र वह उत्पन्न करती है इस लिए जिस में सन्तान विशुद्ध उत्पन्न होवे स्त्रियों की बड़े यत्न से रक्षा करनी चाहिए । एवं इसी अध्याय के श्लोक ८ में लिखा है:—

पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते ।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ॥म०९। ८ ॥

(पिता और पुत्र के रूप और स्वभाव इतने मिलते जुलते हैं मानो) पति ही स्त्री में प्रविष्ट हो गर्भरूप वा पुत्र रूप से इस (जगत्) में पैदा होता है, जाया (स्त्री) का जायात्व यही है कि इस में फिर से जन्मता है ।

विवाहबन्धन विच्छेद नहीं होता—आज कल यूरोपादि कई देशों के विवाहित नर नारी जब एक दूसरे से अप्रसन्न हो जाते हैं तो विवाहबन्धन को तोड़ देते और अपना अपना दूसरा विवाह कर लेते हैं, परन्तु मनुस्मृति में लिखा है कि विवाह-बन्धन विच्छेद नहीं हो सक्ता । मनुस्मृति अध्याय ८, श्लोक ३८९ में लिखा है:—

न माता न पिता न स्त्री न पुत्रस्त्यागमर्हति ।
त्यजन्नपतितानेतान् राज्ञा दण्ड्यःशतानि षट् ॥ म० ८।३८९ ॥

न माता, न पिता, न स्त्री और न पुत्र त्यागने योग्य है इन विना पतित हुओं को जो कोई त्यागे राजा उसे छः सौ पण दण्ड दे ।

वानप्रस्थाश्रम ।

मनुस्मृति अध्याय ६ के देखने से ज्ञात होता है कि आर्य्यगृहस्थ योग समाधि द्वारा आत्मिक शक्तियों की वृद्धि तथा परमात्मा की विशेषरूप से उपासना करने के लिए एवं संसार के कल्याण के लिए अपने को विशेष योग्य बनाने के निमित्त वानप्रस्थाश्रम में प्रविष्ट होते थे । इस विषय में मनुस्मृति में लिखा है कि "स्नातक अर्थात् ब्रह्मचर्य्यपूर्वक गृहस्थाश्रम का कर्त्ता द्विज अर्थात् ब्राह्मण,

क्षत्रिय और वैश्य गृहस्थाश्रम में ठहर कर निश्चितात्मा और यथावत् इन्द्रियों को जीत के वन में बसे । परन्तु जब गृहस्थ के शिर के श्वेतकेश और त्वचा ढीली हो जाय और लड़के का लड़का भी हो गया हो तब वन में जाके बसे" ।*

संन्यासाश्रम ।

मनुस्मृति अध्याय ६ के देखने से ज्ञात होता है कि मनुष्य जब वानप्रस्थ-आश्रम में अपने जीवन का तृतीय भाग समाप्त कर चुके, तपश्चर्या सत्संग, योगाभ्यास और सुविचार से ज्ञान और पवित्रता प्राप्त करले तब जिन विचारों और अभ्यासों से स्वयं सुखी हुआ है उन्हें ब्रह्मचारी, गृहस्थ तथा वानप्रस्थियों को सुनाने तथा अपने परिपक्व अनुभवों से संसार को लाभ पहुंचाने के लिए संन्यासी हो जावे यथा:—

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान् परिव्रजेत् ॥ ६ । ३३ ॥

इस प्रकार वन में आयु के तीसरे भाग में (अर्थात् पचासवें वर्ष से पचहत्तरवें वर्ष पर्यन्त) वानप्रस्थ हो के आयु के चौथे भाग में संगों को छोड़ के परिव्राजक अर्थात् संन्यासी हो जावे ।

परन्तु मनुस्मृति अध्याय ६ के श्लोक ३८, ३९, ४१ से यह भी ज्ञात होता है कि जो संसार के कल्याणों के लिए विशेष उत्सुक पुरुष हो वह सर्ववेदस यज्ञ कर के गृहस्थाश्रम से भी संन्यासी हो सक्ता था और अन्यान्य श्लोकों से यह भी बोध होता है कि पूर्ण विरक्त और ज्ञानी पुरुष ब्रह्मचर्य्याश्रम से भी संन्यास ग्रहण कर सक्ता था ।

चारों आश्रमियों के सामान्य धर्म्म ।

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी के कर्तव्य कर्मों की संक्षिप्त सूचना पृथक् २ पूर्व प्रकाशित हो चुकी है, परन्तु कुछ ऐसे भी कर्म्म हैं जिन्हें सब आश्रमियों को करना उचित है । इस विषय में मनुस्मृति अध्याय ६ श्लोक ९१, ९२ में जो कुछ लिखा है उस का आशय यह है कि धृत्यादि दश लक्षण वाले धर्म्म का सेवन चारों आश्रम वालों को करना चाहिए ।

---

* एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत् स्नातको द्विजः ।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ॥ म० ६ । १ ॥
गृहस्थस्तु यदापश्येद्वलिपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥ म० ६ । २ ॥

चतुर्थपरिच्छेद

राजधर्म्म ।

राजा—राजा और प्रजा—राजा पूज्य है—राजा का प्रधान कार्य्य—राजा और मन्त्री सभा—राजा और मुख्याधिकारी-सभा के बीच राजा का न्यायप्रदान—राजा और ब्रह्म की सभा—राजा और प्रजा की साधारण सभा—स्त्रीव्रत राजा—राज्य की भिन्न २ परिषदें—राजनीति और राजा की दिनचर्य्या—राज्य के भिन्न २ विभाग—शासन वा प्रबन्धविभाग—सेना वा युद्धविभाग—सेनाओं का विभाजन—दुर्गों का निर्म्माण—प्रधानदुर्ग में राजभवन—तीन मार्गों से जाने वाली सेनाएं—व्यूहों की रचना—युद्धसम्बन्धी नियम—विजयी राजा का कर्तव्य—करविभाग—न्यायविभाग—वैदेशिक विभाग—गुप्तचर—क्या मनुस्मृति की दण्डाज्ञा कठोर थी?—मुद्राओं के प्रकार—आदर्श राजा और आदर्श राज्य ॥

मनुस्मृति अध्याय ७, ८ तथा ९ में और यत्किञ्चित् अन्यान्य कई अध्यायों में भी राजधर्म्म का वर्णन है जिस से प्राचीन राजशासनप्रणाली की बहुत सी बातें ज्ञात होती हैं। परन्तु विस्तारभय से उन सब को अङ्कित न कर दिग्दर्शन मात्र यहां कुछ लिख देते हैं।

राजा—शतपथ ब्राह्मण के राज्याभिषेक प्रकरण में जैसा कि लिखा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों की सभा में राज्याभिषेक के नियमों के अनुसार जब तक अध्वर्यु एक योग्य पुरुष के राजा बनने की घोषणा न दे और जब तक चतुर्वर्णों के प्रतिनिधि वा चतुर्वर्णों की सभा उसे अपना राजा स्वीकार न करले तब तक वह पुरुष राजा नहीं बन सकता था। उस प्रकार राजा बनाने की कोई विधि मनुस्मृति में लिखी हुई नहीं है। हां, इतना तो लिखा है कि राजा में अमुक २ गुण अवश्य होने चाहिएं जिस से सिद्ध होता है कि उक्त गुणों से रहित पुरुष राज्याधिकारी नहीं बन सक्ता था। राजा के जो गुण मनुस्मृति में लिखे हैं उन में से कतिपय निम्न लिखित हैं:—

(वेदों के ज्ञान, कर्म्म और उपासना) इन तीन विद्याओं के जानने वालों से इन तीन विद्याओं, सनातन दण्डनीति, न्यायविद्या, आत्मविद्या (जीवात्मा तथा परमात्मविषयक ब्रह्मविद्या) (लोगों से वार्त्तारम्भ) अर्थात् (बात चीत करने की

विद्या) को (जानने हारा राजा) रात दिन इन्द्रियों को जय करने में लगा रहे क्योंकि जितेन्द्रिय पुरुष ही प्रजा को वश में रख सक्ता है । *

राजा और प्रजा—अनेक पुरुष कहते और लिखते भी हैं कि "प्राचीन समय आर्य्यावर्त के राजा अपनी प्रजा के साथ जैसा व्यवहार चाहते थे करते थे उन की इच्छा ही राजव्यवस्था थी उन को विशेष नियमों में रखने वाली कोई भी शक्ति न थी" परन्तु मनुस्मृति के देखने से यह बात ठीक ज्ञात नहीं होती, क्योंकि मनुस्मृति अध्याय ७ में जहां " दण्ड " की व्याख्या है वहां लिखा है:—

दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः ।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥ म० ७ । २८ ॥

दण्ड बड़ा तेजोमय है उस को अकृतात्मा अर्थात् अविद्वान् अधर्मात्मा धारण नहीं कर सक्ता, यह दण्ड धर्म से विचलते हुए राजा का भी बन्धु सहित नाश कर देता है ।

अतः ज्ञात होता है कि "दण्ड" सर्वोपरि था जिस के विरुद्ध राजा भी नहीं चल सक्ता था वह दण्ड क्या था इस का उत्तर भी मनु अध्याय ७ के श्लोक १७, १८, १९, २६ तथा २७ में लिखा है जिन का आशय निम्नलिखित है:—

अर्थात् जो दण्ड है वही (वास्तव में) राजा, वही पुरुष, वही नेता, वही शासनकर्त्ता, वही चारों आश्रमों के धर्म्म का प्रतिभू अर्थात् ज़ामिन है । दण्ड ही सब प्रजा पर शासन करता है, दण्ड ही सब की भली भांति रक्षा करता है, सोती हुई प्रजा के बीच दण्ड ही जागता है (जिस के भय से ही सोती हुई प्रजा को लुटेरे और डाकू सताने का साहस नहीं करते) ज्ञानी लोग दण्ड ही को " धर्म " जानते वा कहते हैं । विचारपूर्वक भली भांति धारण किए जाने पर वह दण्ड सम्पूर्ण प्रजा को आनन्दित कर देता है और विना विचारे चलाया हुआ दण्ड चारों ओर से नाश करने लगता है । उस दण्ड का चलाने वाला सत्यवादी, विचारपूर्वक काम करने वाला, महा बुद्धिमान्, धर्म, काम और अर्थ का मर्मज्ञ राजा कहा जाता है । उस दण्ड को ठीक २ चलाता हुआ राजा धर्म, अर्थ और काम सहित भली भांति

---

* त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम् ।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्त्तारम्भांश्च लोकतः ॥ मनु० ७ । ४३ ॥
इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम् ।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः ॥ मनु० ७ । ४४ ॥

वृद्धि को प्राप्त होता है, परन्तु विषयी, उल्टा पुल्टा करने वाला और क्षुद्र राजा उसी दण्ड से मारा जाता है ।

इस दण्ड के विषय में मनुस्मृति में यह भी लिखा है **"ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः"** (म० ७ । १४) अर्थात् महान् तेजोमय दण्ड को ईश्वर ने ही पूर्व बनाया था जिस से ज्ञात होता है कि वेदों में राजशासन के जो मूल-सिद्धान्त हैं वही व्याख्यासहित परम्परा से राजव्यवस्था, धर्म्मव्यवस्था वा दण्डव्यवस्था के नाम से प्राचीन आर्य्यों में प्रचरित थे जिन के अनुसार ही राजा और प्रजा दोनों को चलना पड़ता था ।

मनुस्मृति अध्याय ८ श्लोक ३३५ तथा ३३६ का आशय यह है कि चाहे राजा का पिता हो वा आचार्य,मित्र हो वा माता वा स्त्री वा पुत्र वा पुरोहित इन में से जो कोई—धर्मविरुद्ध कार्य्य करे (अपने धर्म में न रहे) वह राजा के लिए अदण्ड्य नहीं अर्थात् राजा को चाहिए कि इन्हें भी दण्ड दे । (और यदि राजा अपराध करे तो) जिस अपराध के लिए अन्य साधारण पुरुष को एक कार्षापण दण्ड दिया जाय उसी अपराध के लिए राजा को सहस्र कार्षापण दण्ड मिले यह नियम है ।

परन्तु फिर प्रश्न होगा कि राजा जैसा शक्तिशाली पुरुष यदि उस दण्ड को स्वीकार नहीं करता होगा तो उसे उस दण्ड को स्वीकार कौन कराता होगा ? इस का उत्तर मनु ९।३२० में लिखा है कि सर्वथा उद्दण्ड ब्राह्मणों के प्रतिकूल चलने वाले क्षत्रियों को नियम में रखने वाले ब्राह्मण ही होवें क्योंकि क्षत्रियों की उत्पत्ति ब्राह्मणों से ही हुई है ।

अतः जब कभी कोई राजा वा कोई विशेष क्षत्रिय समुदाय किसी कारण दण्ड नियमों को तोड़ने लगता था तो ब्राह्मण (धार्मिक विद्वान् लोग) उसे धर्म्मविरोधी समझने लगते थे और सम्पूर्ण प्रजा पर ब्राह्मणों का जो प्रभाव जमा रहता था उस बल से ब्राह्मण लोग उद्दण्ड राजा वा उद्दण्ड क्षत्रियसमुदाय को वश में करलेते थे ।

राजा पूज्य है—मनुस्मृति ४।११९ से ज्ञात होता है कि राजा जब कभी किसी प्रजा के यहां जाता था तो उस का बड़ा सन्मान होता था, वर्ष वर्ष पीछे मधुपर्क से उस की पूजा होती थी मनुस्मृति के राजप्रकरण में भी लिखा है कि प्रजा को अभय करने वाला राजा पूज्य है यथाः—

अभयस्य हि यो दाता स पूज्यः सततं नृपः ।
सत्रं हि वर्धते तस्य सदैवाऽभयदक्षिणम् ॥ म० ८ । ३०३ ॥

अभय का देने वाला राजा सदा पूज्य है, उस राजा का (राजरूप) सत्र (यज्ञ) सदा बढ़ता रहता है (जिस यज्ञ में) अभय दक्षिणा (दी जाती) है। कैसा उत्तम भाव है ! राजा यज्ञकर्ता की भांति एक पवित्रात्मा है, राज्य, यज्ञ की तरह एक पवित्र वस्तु है जिस यज्ञ में यज्ञकर्ता " अभय " जैसे उत्तम पदार्थ दान किया करता है, और इस दान का फल यह होता है कि राज्ययज्ञ सदा बना रहता और वृद्धि को प्राप्त होता रहता है जिस से प्रजा सदा लाभ उठाती रहती है।

राजा का प्रधानकार्य्य—मनुस्मृति अध्याय ८ श्लोक ३०४ से लेकर ३०७ तक के देखने से ज्ञात होता है कि मनुस्मृति के समय राजा का प्रधानकार्य्य प्रजारक्षण माना जाता था।

राजा और मन्त्रीसभा—मनुस्मृति अध्याय ७ श्लोक ५५ में लिखा है " अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्। विशेषतोऽसहायेन किन्तु राज्यं महोद-यम् " जो सुगम काम है वह भी जब कि सहाय के विना एक के करने में कठिन मालूम होता है तो महान् राज्य का कार्य्य एक से कैसे हो सक्ता है। अतः राजा को चाहिए कि (मनु अ० ७ श्लोक ५४, ५६, तथा ५७ के अनुसार) (जिन के मूल अर्थात् जन्मदाता पिता माता, राजा के देश के हों) अर्थात् राजा के देश में उत्पन्न हुए, वेदादि शास्त्रों के जानने वाले शूरवीर जिन का लक्ष्य अर्थात् विचार निष्फल न हो जो कुलीन और अच्छे प्रकार परीक्षित हों ऐसे सात वा आठ मन्त्री करे। इन मन्त्रियों के साथ नित्य सामान्य कर के सन्धि, विग्रह, स्थान, समुदय, गुप्ति तथा लब्धप्रशमन* (इन छः विषयों) पर विचार किया करे, उन में से प्रत्येक मन्त्री की सम्मति पृथक् २ जानकर और पुनः यह जानकर कि किन २ मन्त्रियों की सम्मतियां एक प्रकार की हैं, अनेक कार्य्यों में से जो कार्य्य बहुपक्षानुसार आत्मा का (अर्थात् अपना तथा प्रजा का) हितकारी निश्चित हो उसे, राजा कराने लगे।

राजनीति और राजा की दिनचर्य्या—जो लोग ऐसा कहते हैं कि आर्य्यावर्त के प्राचीन राजे विलासी थे और अपना अधिक समय विषयानन्द में ही व्यतीत करते थे वे सर्वथा भ्रम में हैं। राजा की दिनचर्य्या जिस प्रकार की

---

* नोटः—सन्धि, विग्रह, स्थान, समुदय, गुप्ति और लब्धप्रशमन ये छः विषय ऐसे हैं जिन के अन्तर्गत राज्यसम्बन्धी सभी बातें आजाती हैं अतः इन विषयों का विचार जिस सभा में होता था वही राजसभा कहला सक्ती थी।

मनुस्मृति में वर्णित है उस से तो बोध होता है कि राजा, प्रजा के हितसाधन में तत्पर एक बड़ा ही परिश्रमी पुरुष था और वह अपना कोई भी समय व्यर्थ नहीं खोता था प्रत्युत प्रायः वह उन विचारों तथा कार्य्यों में प्रवृत्त रहता था जिन से प्रजा की श्री बढ़े और उन की रक्षा हो । राजा की दिनचर्य्या तथा राजनीति सम्बन्धी उत्तमोत्तम अनेक बातें मनु अध्याय ७ के श्लोक १४५, १४६, १४७, तथा १५१ से १६० तक तथा १८०, २१६, तथा २२१ से २२६ के श्लोकों में वर्णित हैं ।

राजा और मुख्याधिकारी—जिन विषयों का विचार उक्त राजसभा में होता था उन विषयों पर राजसभा के निश्चयानुसार कार्य्य करने वाले कई मुख्याधिकारी होते थे, और इन मुख्याधिकारियों के नीचे २ कई छोटे २ अधिकारी होते थे । इन का वर्णन मनु अध्याय १२ श्लोक १०० । अध्याय ७ श्लोक ६०, ६३, ६४, ६५ में है । जिन का आशय यह है:—

(मुख्य) सेनापति, मुख्य (राज्याधिकारी) मुख्य न्यायाधीश तथा सर्वलोकाधिपति (वा राजा) के कार्य्य वे ही कर सक्ते हैं जो वेदशास्त्रवित् (अर्थात् पूर्ण विद्वान्) हों । अन्यान्य भी (जिन सात वा आठ मन्त्रियों का मन्त्रिसभा में वर्णन हो चुका है उन के अलावे) पवित्रात्मा बड़े ज्ञानवान्, निश्चितबुद्धि, अर्थ संग्रह में अतिचतुर, सुपरीक्षित मन्त्रियों को बनावे । सर्वशास्त्रविशारद दूत भी नियत करे जो इङ्गित चेष्टा (इशारे) को भी समझ जाय जो पवित्र चतुर और उत्तम कुल का हो, जो (राज कार्य्य में) प्रीति रखने वाला, पवित्रात्मा, चतुर, स्मरणशक्तिवाला, देश काल का जानने वाला, सुन्दररूपयुक्त, निर्भय और बड़ा वक्ता हो वही राजदूत होने में प्रशस्त है । किसी एक मन्त्री के आधीन दण्ड हो (जिस दण्ड में विनयक्रिया अर्थात् लोगों को सुन्याय से प्रसन्न रखने की शक्ति हो) राजा के आधीन कोष और राष्ट्र हो और दूत के आधीन (अन्य राज्यों के साथ) सन्धि और विग्रह विषयक कार्य्य हों ।

सभा के बीच राजा का न्यायप्रदान—हम ऊपर लिख आए हैं कि राजा यद्यपि राज्यसम्बन्धी सभी कामों पर दृष्टि रखता था परन्तु कोष की सम्भाल विशेषरूप से उस के आधीन थी और न्यायप्रदान भी उसे विशेषरूप से करना पड़ता था । जो विशेष २ व्यवहारसम्बन्धी अभियोग राजा के विचारार्थ आते थे वे

अठारह प्रकार के होते थे (उन प्रकारों का वर्णन आगे किया जायगा) सभाभवन वा न्यायभवन में राजा के पधारने के पूर्व एक सभा बैठ जाती थी * ।

राजा नियमित समय पर कई वेदज्ञ विद्वानों (ब्राह्मणों) तथा कई मन्त्रियों के साथ सभा में प्रवेश करता था, न्यायालय में पधारते समय राजा युद्धसम्बन्धी वस्त्रों को नहीं पहनता था प्रत्युत विनीतवेषाभरण धारण किए रहता था। अनुमान है कि राजा के साथ उक्त सभा में प्रवेश करने वाले विशेष २ ब्राह्मण तथा विशेष २ मन्त्री अभियोग निर्णय विषय में कुशल और दण्डशास्त्र के पूरे ज्ञाता होते होंगे जो राजा को अभियोगनिर्णय में सहायता देते होंगे। अभियोगसम्बन्धी सब बातों को नियमानुसार ज्ञात कर राजा जो कुछ निर्णय करता था उस के लिये उसे दण्डशास्त्र तथा देशव्यवहार का प्रमाण देना पड़ता था। दण्ड शास्त्र के नियम और देश के विरुद्ध मनमानी रीति से अभियोगनिर्णय करने का अधिकार राजा को नहीं था। हमने जो कुछ ऊपर लिखा है उस के लिए मनुस्मृति अध्याय ८ के श्लोक १, २, ३ तथा ८ साक्षी देते हैं।

राजा और ब्रह्मा की सभा—बड़े२ विशेष विवादास्पद अभियोग जो राजा के निर्णय के लिए आते थे उन्हें यदि किसी कारण राजा स्वयं निर्णय नहीं कर सकता था तो उस के निर्णयार्थ वह अपना एक प्रतिनिधि नियत करता था यह प्रतिनिधि सदा वेदादि शास्त्रों का मर्मज्ञ पूर्णधर्म्मिष्ठ तपस्वी विद्वान् अर्थात् (ब्राह्मण) हुआ करता था, क्षत्रिय कभी नहीं। उक्त ब्राह्मण प्रतिनिधि की सहायता के लिए तीन अन्यान्य बड़े २ वेदज्ञ ब्राह्मणों की एक सभा स्थापित होती थी और इन चार ब्राह्मणों की सभा का नाम "ब्रह्मा की सभा" रक्खा जाता था। अभियोगनिर्णय विषय में इस सभा की निष्पत्ति राजा की निष्पत्ति की भांति सर्वोपरि समझी जाती थी। अनुमान है राजा के कार्य्य विविध प्रकार के बहुत होने के कारण यह सभा सदा स्थापित रहती होगी और आवश्यकतानुसार कार्य्यसम्पादन करती रहती होगी। इस विषय में मनुस्मृति अध्याय ८ श्लोक ९, १०, ११ का आशय निम्नलिखित प्रकार है—

जब कि राजा स्वयं कार्य्य दर्शन न कर सके (अर्थात् अभियोगों को न

---

* नोट:—मनुस्मृति में इस सभा का ऐसा संक्षिप्त वर्णन है कि ठीक २ नहीं कहा जा सकता कि इस सभा के क्या २ कार्य्य थे परन्तु अनुमान से इतना तो ज्ञात होता है कि यह प्रजाओं की कोई विशेष सभा थी।

देख सके) तब एक ब्राह्मण को अभियोगों के देखने के लिए (अपने स्थान में) नियुक्त करे । वह ब्राह्मण तीन अन्य सभ्यों के साथ सभा में ही प्रवेश करे और एकाग्रवृत्ति से खड़े २ वा बैठ कर राजा के देखने योग्य अभियोगों को देखे । जिस देश में वेदज्ञ तीन ब्राह्मण रहते हैं और राजा के अधिकार से युक्त एक (पूर्वोक्त ब्राह्मण) विद्वान् रहता है उस सभा को ब्रह्मा की सभा (जानते) कहते हैं ।

राजा और प्रजा की साधारण सभा—मनुस्मृति अध्याय ८ श्लोक १४५, १४६ से ज्ञात होता है कि राजा का प्रतिदिन का प्रथम राजनैतिक कार्य यह था कि वह उस सभा में प्रातःकाल प्रवेश करे जहां कि साधारण प्रजा बैठी हुई हो, और सभास्थ सर्व साधारण प्रजा को प्रसन्न कर के उन्हें विदा करे ।

स्त्रीव्रत राजा—राजा के विवाह विषय में मनुस्मृति में स्पष्ट लिखा हैः—

तदध्यास्योद्वहेद्भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ।
कुले महति सम्भूतां हृद्यां रूपगुणान्विताम् ॥ म० ७ । ७७ ॥

(उक्त सर्व कार्य्य करने के पश्चात्) अपने सदृश गुण कर्म स्वभाव वाली अर्थात् सवर्णा शुभ लक्षणों से युक्त, महान् कुल में उत्पन्न हुई, हृदय को प्रसन्न करने वाली रूपवती और अनेक गुणों वाली एक कन्या से राजा विवाह करे । अतः राजा के लिये अनेक स्त्रियों का रखना प्राचीन राज धर्म्म के सर्वथा विरुद्ध है ।

राज्य की भिन्न २ परिषदें—मनु ७ । १४५ में प्रजा की साधारण सभा का वर्णन है । मनु ८ । १ तथा २ में उस सभा का वर्णन है जहां राजा विवादनिर्णयार्थ जाता था । मनु ८ । ९, १०, ११ में ब्रह्मा की सभा का वर्णन है । पुनः मनु ९ । २६४ में एक प्रकार के सभास्थान का वर्णन है जिस की रक्षा की आवश्यकता श्लोक २६६ म बतलाई गई है । पुनः मनु १२ । ११०, १११, ११२, ११४ से ज्ञात होता है जिस धर्म की व्यवस्था दशावरा [दश महाविद्वानों की परिषद्] वा त्र्यवरा [तीन महाविद्वानों की परिषद्] भी करे उस धर्म का उल्लंघन कोई न करे । त्रैविद्य अर्थात् ज्ञान कर्म और उपासना की विद्याओं से युक्त चारों वेद, हेतु शास्त्र, तर्कशास्त्र, निरुक्त तथा धर्मशास्त्र के ज्ञाता [अर्थात् महाविद्वान् पुरुष] जो कि प्रथम तीन आश्रमों के [अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थाश्रम के] हों उन की दशावरा परिषद् हो अर्थात् जिस परिषद् में उक्त प्रकार के दश महाविद्वान् सभासद हों वह "दशावरा" परिषद् कहलावे । धर्म-संशयनिर्णयार्थ एक ऋग्वेद के ज्ञाता एक यजुर्वेद के ज्ञाता और एक सामवेद के

ज्ञाता ऐसे तीन विद्वानों की जो सभा बनी हो उसे त्र्यवरा परिषद् जानते वा कहते हैं। जो [ब्रह्मचर्य सत्यभाषणादि] व्रत तथा मन्त्र [अर्थात् वेदविद्या वा विचार] से रहित पुरुष जन्ममात्र से शूद्रवत् वर्तमान हैं उन सहस्रों मनुष्यों के मिलने से भी परिषद् वा सभा नहीं कहाती। उक्त दशावरा तथा त्र्यवरा सभाएं धर्मसंशयों के उपस्थित होने पर उन का निर्णय करती थीं जिन के अनुसार सब को चलना पड़ता था। मनु ७। ५४, ५५, ५६ तथा ५७ में मन्त्रीसभा का वर्णन है जो सब सभाओं में मुख्य मानी जाती थी।

राज्य के भिन्न २ विभाग—हम इस परिच्छेद के आरम्भ में राजा मन्त्रीसभा तथा राज्य के मुख्याधिकारियों के विषय में जो कुछ लिख चुके हैं उस से ज्ञात होगा कि मनुस्मृति के समय राज्यकार्य को सुगमता चलाने के लिये शासन वा प्रबन्ध विभाग, दण्ड वा न्यायविभाग, सेना वा युद्धविभाग, कर वा अर्थविभाग, विदेश वा दूतविभाग के नाम से पांच मुख्य २ विभाग नियत थे। इन विभागों का वर्णन क्रमशः किया जाता है:—

शासन वा प्रबन्ध विभाग—मनु अध्याय १२ श्लोक १०० में मुख्य सेनापति, मुख्य राज्याधिकारी, मुख्य दण्डनेता [वा मुख्य न्यायधीश] तथा सर्व लोकाधिपति अर्थात् राजा जो इन चार मुख्यपदों का वर्णन है इन में से सर्वलोकाधिपतिपद का धारण करने वाला राजा सब से श्रेष्ठ और सब विभागों का सर्वोपरि पुरुष था, अन्यान्य मुख्याधिकारी कहलाने वाले भी राजा वा राजसभा के निरीक्षणाधीन ही कार्य करते थे। अपने करने योग्य शासनविभाग के कार्यों को राजा बड़े परिश्रम से किया करता था परन्तु जब कभी खिन्न हो जाता था तो शासन सम्बन्धी सब कार्यों को प्रधान मन्त्री के सुपुर्द कर देता था। *

राजा के आधीन शासनविभाग में कार्य करने वाला जो शासनविभाग के अन्यान्य सभी कर्मचारियों से श्रेष्ठ था राज्याधिकारी कहलाता था, जिस का कार्य अपने आधीन शासनविभाग के सभी कर्मचारियों के कार्यों का निरीक्षणादि था। इस राज्याधिकारी पद पर राजा का कोई एक मन्त्री ही नियुक्त हुआ करता था। †

---

* अमात्यमुख्यं धर्मज्ञं प्राज्ञं दान्तं कुलोद्गतम्।
स्थापयेदासने तस्मिन् खिन्नः कार्येक्षणे नृणाम्॥ मनु ७। १४१॥

† तेषां ग्राम्याणि कार्याणि पृथक्कार्याणि चैव हि।
राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः॥ मनु ७। १२०॥

उक्त राज्याधिकारी के पश्चात् शासन विभाग में प्रत्येक नगर के " सर्वार्थ चिन्तक" का प्रतिष्ठाथी * उस के आधीन "सहस्त्रग्रामाधिपति" "शतग्रामाधिपति" " विंशतीश " तथा " दशग्रामाधिपति " और " एकग्रामाधिपति" नाम राजपुरुष कार्य करते थे । इन लोगों के लिए (मनु ७। ११६, ११७ ११८ के अनुसार) आज्ञा थी कि ग्राम में जो दोष उत्पन्न हों उन्हें ग्रामाधिपति धीरे से जानकर दशेश (दशग्रामाधिपति) को सूचित कर दे, एवं दशेश (अपने आधीनस्थ ग्रामों के दोषों को) विंशतीश को सूचित करे, विंशतीश शतेश को और शतेश (अपने आधीनस्थ सब ग्रामों के दोषों को) सहस्त्रग्रामाधिपति को सूचित किया करे, तथा अन्न, पेयपदार्थ और इन्धन इत्यादि जो२ वस्तु ग्रामवासियों को प्रतिदिन (कररूप से) राजकोष के लिये देने पड़ते हों उन्हें भी ये राजकर्म्मचारी (राजकोष के लिए) ग्रहण करें । इस से यह भी ज्ञात होता है कि इन शासन विभाग के कर्म्मचारियों के हाथ में करविभाग का भी कुछ कुछ काम था । करविभाग का वर्णन आगे किया जायगा । जिन श्लोकों का आशय हम ऊपर लिख आए उन से यह ज्ञात नहीं होता कि शासनविभाग के इन कर्म्मचारियों के हाथ में न्यायप्रदान का भी अधिकार था । न्याय प्रदान का अधिकार यदि इन के हाथों में होता तो ये दोषों के लिए स्वयं दण्ड का निर्णय कर दिया करते न कि धीरे से वा गुप्त रीति से दोषों को जान कर उन की सूचना अपने उच्चाधिकारियों को भेजते रहते । अतः सिद्ध होता है कि मनुस्मृति के समय भी (शासन वा प्रबन्ध विभाग) तथा (दण्ड वा न्याय-विभाग) पृथक् २ थे । सम्भव है कि न्यायाधिपतियों की निष्पत्ति के अनुसार ये लोग अपराधियों को कारागारादि में रखने का प्रबन्ध करते हों परन्तु ये स्वयं ही अपराध निरूपण कर के अपराध पर विचार कर निष्पत्ति देते हों और स्वयं ही अपराधियों को दण्ड भोगाते हों, ये सब के सब मिले जुले कार्य इन के आधीन न थे।

सेना वा युद्धविभाग—युद्ध विभाग का प्रधान पुरुष मुख्य सेनापति था । (मनु ७ । ११४ के अनुसार) राजा दो, तीन, पांच वा सौ सौ ग्रामों के बीच (राष्ट्र की रक्षा के लिए) (प्रधानपुरुषों) के आधीन गुल्म † अर्थात् दृढ़ सैन्यसमूह रखता था और रक्षास्थान भी बनवाता था ।

---

* नगरे नगरे चैकं कुर्यात् सर्वार्थचिन्तकम् ।
उच्चैः स्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम् ॥ मनु ७ । १२१ ॥

† नोट:—" गुल्म " शब्द का अर्थ वीर सैनिकों का समूह है । मनु अ० ७, श्लोक १९० में लिखा है ।

दुर्गों का निर्माण-मनु ७।७०,७४,७५ का आशय है कि "धनुर्दुर्गम्" अर्थात् धनुर्धारी पुरुषों से गहन दुर्ग, " महीदुर्गम् " अर्थात् (पृथिवी के भीतर) मट्टी से बना हुआ दुर्ग, " अब्दुर्गम् " अर्थात् जल से घेरा हुआ दुर्ग "वार्क्षम् " अर्थात् चारों ओर वन से घिरा हुआ दुर्ग नृदुर्गम अर्थात् दृढ़ता के साथ स्थापित सैन्यरूप दुर्ग, "गिरिदुर्गम्" अर्थात् पहाड़ों में बने हुए कोट इन दुर्गों के आश्रय से अर्थात् इन दुर्गों की रक्षा में पुर वसावे । क्योंकि प्राकार वा परकोटे वा दुर्ग के भीतर का एक धनुर्धर बाहर के सौ शत्रुओं से युद्ध कर सकता है और (दुर्ग के भीतर के) सौ धनुर्धर बाहर के दश सहस्र शत्रुओं से युद्ध कर सक्ते हैं इस कारण दुर्गों के बनाने का विधान है । वह दुर्ग शस्त्रास्त्र, धन, धान्य, वाहन, ब्राह्मण (पढ़ाने और उपदेश करने वाले धार्म्मिक विद्वान्) शिल्पी (अर्थात कारीगर), यन्त्र (अर्थात् नाना प्रकार की कलाएं वा कल) * , यवसेन (अर्थात् चारा घासादि) तथा जल आदि से सम्पन्न अर्थात् परिपूर्ण हो ।

प्रधानदुर्ग में राजभवन— उक्त दुर्गों में से जो विशेष दृढ़ होता था उस के भीतर राजा रहता था एवं उसी दुर्ग के आश्रय राजधानी भी वसती थी । मनु ७ । ७६ का आशय है कि (उन दुर्गों में से) किसी एक के बीच, सुपर्याप्त (अर्थात सब प्रकार के राजकार्य्य तथा गृहकार्य्यों के भली भांति चलने योग्य), गुप्तम् (अर्थात् सुरक्षित) सर्वर्तुकम् (अर्थात् सब ऋतुओं में सुखदेने योग्य), शुभ्रम् (अर्थात् स्फटिक जैसा सुन्दर उज्वल) जल तथा वृक्षों से समन्वित (विशाल) राजभवन बनावे ।

" गुल्मांश्च स्थापयेदाप्तान् कृतसंज्ञान् समन्ततः । स्थाने युद्धे च कुशलानभीरूनविकारिणः (म०७।१९) " युद्ध प्रकरण में यह श्लोक आया है । इस का अर्थ है जो दृढ़ स्तम्भों के तुल्य, आप्त (अर्थात् युद्ध विद्या में सुशिक्षित) कृतसंज्ञान् (अर्थात् धार्म्मिक , स्थाने युद्धे च कुशलान् (अर्थात् धीर तथा युद्ध करने में चतुर) अभीरून् (अर्थात् भयरहित), अविकारिणः (अर्थात्) जिन के मन में किसी प्रकार का विकार न हो, (ऐसे वीर पुरुषों को) चारों ओर सेना के रक्खे । इस " गुल्म " शब्द के विषय में वाचस्पत्य-वृहदभिधान पृष्ठ २६२५ में लिखा है "गुड" रक्षणे, प्रधानपुरुषाधिष्ठिते रक्षके पुरुषसंघे, गजाः ९ रथाः ९, अश्वाः २७, पदातयः ४५,) एतत्संख्यान्विते, अर्थात् " गुल्म " शब्द की व्युत्पत्ति "गुड" धातु से हुई है जिस का अर्थ रक्षा करना है । प्रधान पुरुष के आधीन रक्षक पुरुषों के एक समूह का यह नाम है जिस समूह में ९ हाथी, ९ रथ, २७ घोड़े तथा ४५ पैदल योद्धा हैं ।

* नोटः—मनुस्मृति जिस समय का वर्णन करती है उस समय दुर्गों की रक्षा के लिए यन्त्र अर्थात् कल तो रहते थे परन्तु वे किस प्रकार के थे इस का पता नहीं चलता ।

तीन मार्गों से जाने वाली सेनाएं—मनुस्मृति के उस स्थल में जहां दुष्ट शत्रु के दमन करने के लिए राजसेना के प्रस्थान की विधि वर्णित है वहां लिखा है:—

संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधं च बलं स्वकम् ।
सांपरायिककल्पेन यायादरिपुरं शनैः ॥ म० ७ । १८५ ॥

अर्थात् तीन प्रकार के मार्गों को शोधकर, अपने छः प्रकार के बलों के साथ युद्ध कल्प के नियमानुसार धीरे २ शत्रुनगर की ओर चले ।

उक्त श्लोक में जो त्रिविधं मार्गं (अर्थात् तीन मार्ग) शब्द है उस का अर्थ अनेक प्रकार से लोगों ने किया है । एक अर्थ यह भी है "तीन प्रकार के मार्ग अर्थात् एक स्थल (भूमि) में, दूसरा जल (समुद्र वा नदियों) में तीसरा आकाश में इन मार्गों का शुद्ध बनाकर, भूमिमार्ग में रथ, अश्व, हाथी, जल में नौका और आकाश में विमानादि यानों से जावे" ।

लोग दो मार्गों अर्थात् स्थल और जल मार्गों की बातें तो विना रोकटोक मान लेंगे परन्तु आकाश मार्ग मे विमानादि यानों के द्वारा जाने की जो बात है उस पर सन्देह करेंगे । परन्तु हमें तो यह सन्देह ठीक नहीं ज्ञात होता क्योंकि मनु अध्याय १२ श्लोक ४८ मे स्पष्ट लिखा है:—

तापसा यतयो विप्रा ये च वैमानिका गणाः ।
नक्षत्राणि च दैत्याश्च प्रथमा सात्विकी गतिः ॥ म० १२ । ४८ ॥

अर्थात् जो तपस्वी, यति (संन्यासी वेदपाठी, विमान के चलाने वाले, ज्योतिषी और दैत्य अर्थात् देहपोषक मनुष्य होते हैं उन को प्रथमसत्व गुण के कर्म का फल जानो ।

जब कि यह श्लोक निस्सन्देह सिद्ध कर रहा है कि मनुस्मृति के समय विमानों के चलाने वाले विद्यमान थे तो यह कैसे माना जाय कि युद्धविभाग के लोग उक्त विमानों से लाभ उठाने के लिए यत्न नहीं करते होंगे ! क्या "कांउट ज़ेपलिन" के अपूर्ण विमानों से लाभ उठाने का निरन्तर यत्न जर्मनी का युद्ध विभाग नहीं कर रहा है ?

व्यूहों की रचना—प्राचीन समय जब कि सेनाएं युद्ध के लिए पयान करती थीं वा युद्ध करती थीं तो नियमित रीति से पंक्तियों में आबद्ध हो कर च-

लती थीं उन पंक्तियों में आबद्ध योद्धाओं के समूहों को आवश्यकतानुसार सेनापति भिन्न २ रूपों का बनाता था जिसे व्यूहरचना कहते हैं। इन व्यूहों का रूप अनेक प्रकारों का होता था जिन में से मनुस्मृति में दंड, शकट, वराह, मकर, सूची, गरुड़, पद्म, और वज्र नामक व्यूहों का नाम आया है।

युद्ध सम्बन्धी नियम—मनुस्मृति अध्याय ७ में युद्धसम्बन्धी नियम वर्णित हैं परन्तु वे प्रायः उसी प्रकार के हैं जैसा कि सूत्रग्रन्थों के प्रकरण में हम लिख चुके हैं अतः उन्हें पुनः यहां अङ्कित नहीं करते।

करविभाग—करविभाग का कुछ वर्णन, करविभाग के अधिकारियों के वर्णन के साथ २ हो चुका है। मनु अध्याय ७ श्लोक ६०, ८०, १२८ से १३३ तक, १३७, १३८, १३९ तथा अध्याय ८ श्लोक ३९८, ४०४ से ४०७ तक में करसम्बन्धी विशेष बातें लिखी हैं। अध्याय ७ श्लोक १३०, १३१, तथा १३२ तथा अध्याय ८ श्लोक ४०६ के आशय निम्नलिखित हैं:—

जैसे जोंक, बछड़ा और भौंरा थोड़ा २ भोग्यपदार्थ को ग्रहण करते हैं वैसे राजा प्रजा से थोड़ा २ वार्षिक कर लेवे। पशु और हिरण्य [अर्थात् सोना] सम्बन्धी व्यापार कर के जो लाभ उठाते हों उन से उन के लाभ का पचासवां भाग और धान्य [नाज] की उपज का आठवां, छठवां वा बारहवां भाग राजा लेवे। वृक्षों, मधु, घी, गन्ध, ओषधि, रस, फूल, मूल, फल, पत्ते, शाक, तृण, चर्म [मरे हुए पशुओं के], बांस वा बेंत के बने हुए पात्रादि, मट्टी के बने हुए बर्तनों तथा पत्थर की बनी हुई वस्तुओं की बिक्री से जो लाभ हो उस का छठा भाग राजा लेवे। [नौका के द्वारा] लम्बी उतराई का महसूल देशकालानुसार [न्यूनाधिक] हो परन्तु इस उतराई को नदीतीर में ही समझे, [नदी वाली बात] समुद्र विषय में न घटाई जाय।

विजयी राजा का कर्त्तव्य—मनुस्मृति अध्याय ७ श्लोक २०१, २०२, २०३, २०४, तथा २०६ में जो अङ्कित है उस का आशय निम्नलिखित है:—

(शत्रु के देश को) विजय कर, उस विजित देश में ज्ञानी महात्माओं तथा धार्म्मिक ब्राह्मणों की भली भांति पूजा करे, (शत्रुदेश के उन लोगों को जो युद्ध के कारण महादीन हो गए हों) परिहार अर्थात् पोषणार्थ द्रव्यादि देवे, और (तदनन्तर विजित देश में) अभयदान की घोषणा करा देवे। विजित देश के राजा,

वा राजा मारा गया हो तो उस के प्रधानपुरुषों, मन्त्रियों तथा प्रतिष्ठित प्रजा पुरुषों आदि) इन सब की इच्छाओं को संक्षेपतः जान कर (वहां के राज्य सिंहासन पर) विजित राजा के वंश के किसी योग्य पुरुष को (यदि विजित राजा मारा गया हो अथवा भाग गया हो तो) स्थापित करे और उस समय के उपयुक्त जो २ अन्यान्य कार्य्य हों उन्हें भी करे । सुप्रकाशित धर्म्मानुसार (अर्थात् धर्म्मानुकूल जो राजनीति है तदनुसार) उन राजा तथा राजपुरुषों से प्रमाणपत्र वा प्रतिज्ञापत्र लेवे [और तदनन्तर] प्रधान पुरुषों को अपने साथ लेकर उस राजा की रत्नादि से पूजा करे । लेना अप्रियकारक और देना प्रियकारक तो है परन्तु समयानुसार [वा आवश्यकतानुसार] इच्छित पदार्थों का लेना वा देना दोनों ही ठीक है । अथवा तीन प्रकार के फल, मैत्री वा भूमि वा सुवर्ण इन को भली भांति देख कर और बड़े यत्न के साथ सन्धि कर के उक्त तीनों फलों में से किसी को ले कर [अपने राज्य की ओर] कूच करे ।

न्याय विभाग—न्यायालय में जितने प्रकार के अभियोग आते थे उन के मुख्य १८ भेद थे । उन अठारहों में से (१) ऋणादान (२) निक्षेप (३) "अस्वामि-विक्रय" अर्थात् दूसरे के पदार्थ को दूसरा बेच देवे इस पर झगड़ा (४) "संभूय च समुत्थानम्" अर्थात् एक साथ हो कर कोई काम करना जैसे मिल मिला कर किसी पर अत्याचार करना अथवा मिल जुल कर कोई अन्य काम करना जिस पर विवाद उठे (५) "दत्तस्यानपकर्म्म" अर्थात् दिए हुए पदार्थ को लौटा लेने पर झगड़ा (६) "वेतनस्यैव चादानम्" वेतन अर्थात् किसी की नौकरी में से ले लेने वा कम देने पर झगड़ा (७) "संविदश्चव्यतिक्रमः" अर्थात् प्रतिज्ञा के विरुद्ध वर्तने पर झगड़ा (८) "क्रयविक्रयानुशयः" अर्थात् लेने देने में झगड़ा होना (९) "विवादः स्वामिपालयोः" अर्थात् पशु के स्वामी और पालने वाले का झगड़ा, (१०) सीमा-विवाद (११) कठोर वाणी का बोलना (१२) मार पीट (१३) चोरी (१४) साहस अर्थात् किसी काम को बलात्कार से करना (१५) परस्त्री संग्रहण अर्थात् परस्त्री को ले लेना वा किसी की स्त्री के साथ किसी पुरुष का व्यभिचार होना (१६) स्त्री और पुरुष का परस्पर धर्म्म टूटना (१७) विभाग अर्थात् दायभाग में वाद उठना (१८) "द्यूत" अर्थात् जड़ पदार्थ को दाव में रख के जूआ खेलना और "समाह्वय" अर्थात् चेतनशरीरधारी को दाव में रख के जूआ खेलना या चेतन मेढ़े आदि को

लड़ा कर जूआ खेलना, ये अठारह प्रकार के परस्परविरुद्ध व्यवहार के स्थान हैं। इन अठारह स्थलों में बहुत अधिक झगड़ने वाले पुरुषों का कार्यनिर्णय (अभियोग-निर्णय) सनातनधर्म्मशास्त्र वा दण्डशास्त्र के अनुसार करे। *

न्यायालय में अभियोग उपस्थित करने वाले वादी वा मुद्दई (मनु ८।५८ में ऐसे पुरुष का नाम अभियोक्ता और मनु ८।७९ में ऐसे पुरुष का नाम अर्थी लिखा हुआ है को अपने कथनों की पुष्टि के लिए जब साक्षियों के उपस्थित करने की आवश्यकता पड़ती थी अथवा प्रत्यर्थी वा प्रतिवादी वा अभियुक्त (मुद्दालह) को अपने कथनों के समर्थन के लिए साक्षी लाने पड़ते थे तो न्यायाधिपति इन के प्रस्तुत किए हुए साक्षियों में से धार्मिक विद्वानों की साक्षियों तथा जो इन के सम्बन्धी वा मित्र न हों उन के कथनों पर ही विशेष विचार करता था परन्तु बलात्कार काम, चोरी, व्यभिचार, कठोरवचन, दण्डनिपातरूप अपराधों में साक्षियों के गुणों पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था क्योंकि उक्त काम प्रायः गुप्त हुआ करते हैं और शूद्रों तथा अन्त्यजों के अभियोगों में तो शूद्र और अन्त्यज भी बे रोक टोक साक्षी स्वीकार किए जाते थे और स्त्रियों के अभियोगों में स्त्रियों की साक्षी आवश्यक मानी जाती थी † न्यायाधिपति युक्त सभा के निकट तथा अर्थी और प्रत्यर्थी के समक्ष न्यायालय में जब साक्षी उपस्थित होते थे तो निम्नलिखित प्रकार कार्य्यवाही आरम्भ होती थी:—

जब कि सभा के निकट तथा अर्थी (वादी) और प्रत्यर्थी (प्रतिवादी) के सामने साक्षी उपस्थित हो जांय तब प्राड्विवाक (वकील) साक्षियों को सावधान करते हुए (देखिए मनु ८। ८०, ८१, ८३, ८४, ९१, ९६) उन से इस प्रकार पूछे "इन दोनों (वादी प्रतिवादियों) ने इस कार्य में जैसी कुछ चेष्टा की हो और उस विषय में जो कुछ तुम जानते हो सो सब सत्य २ कहो क्योंकि

* नोट—उक्त अठारह प्रकार के विवादों में जो दोषी ठहरते थे उन दोषियों में से किस अपराधी को कितना दण्ड देना चाहिए इस का नियम भी मनु अध्याय ८ तथा ९ में लिखा है एवं इन अठारह भागों के जो उपभाग हैं यथा "मनुष्य और पशु की अनुचित चिकित्सा करने वाले वैद्य (मनु ९, २८४) को दण्ड" उन का विवरण भी उन्हीं अध्यायों में सक्षेपतः वर्तमान है"

† नोट—" न साक्षी नृपतिःकार्यो न कारुककुशीलवौ। न श्रोत्रियो न लिङ्गस्थो न संगेभ्यो विनिर्गतः" (मनु ८। ६५) अर्थात् राजा को साक्षी न बनावे न कारीगर न नट को और न श्रोत्रिय ब्राह्मण और न ब्रह्मचारी और न संन्यासी को।

तुम्हारी यहां साक्षी है, जो साक्षी गवाही में सत्य बोलता है वह (जन्मान्तर में) उत्तम जन्म वा उत्तम लोकान्तरों में सुखदाई जन्म पाता है वा सुख पाता है और इस (वर्तमान) जन्म में उत्तम कीर्ति को पाता है क्योंकि जो यह (अर्थात् सत्य) वाणी है उसी की प्रतिष्ठा वद ने की है, सत्य बोलने से साक्षी पवित्र होता और सत्य ही बोलने से धर्म बढ़ता है अतः सब वर्णों के साक्षियों को सत्य ही बोलना चाहिए, आत्मा का साक्षी आत्मा है (अर्थात् अपने कर्मों को आत्मा स्वयं जानता है) तथा आत्मा की गति आत्मा है (अर्थात् अपना कल्याण मनुष्य आप ही कर सकता है) अतः तू मनुष्यों का उत्तम साक्षी अपन आत्मा का अपमान मत कर (अर्थात् जो भाव तेरे आत्मा में हों उस के विरुद्ध मत बोल), हे कल्याण की इच्छा करने हारे! पुरुष जो तू "मैं अकेला हूं" ऐसा अपने आत्मा में जानता है (सो ठीक नहीं)(क्योंकि) तेरे हृदय में पुण्य पाप का देखने वाला ज्ञानी परमेश्वर नित्य स्थित रहता है, जिस बोलते हुए पुरुष का विद्वान् क्षेत्रज्ञ (शरीर का जानने हारा आत्मा) (भीतर) शङ्का को प्राप्त नहीं होता उस से भिन्न विद्वान् लोग किसी को उत्तम पुरुष नहीं जानते । प्राड्विवाक के उक्त प्रकार सावधान कर देने के पश्चात् साक्षियों की साक्षी न्यायाधिपति लेता था और उन साक्षियों में से जो माननीय सिद्ध होता था उस के कथनानुसार तथा देशव्यवहार और दण्डशास्त्र के नियमों को ध्यान में रखता हुआ निष्पत्ति (फ़ैसला) देता था । उक्त साक्षियों में से जो २ साक्षी झूठ बोलने वाले सिद्ध होते थे उन्हें भी यथायोग्य दण्ड देता था ।

झूठ साक्षी—झूठे साक्षी के विषय में मनुस्मृति में यहां तक लिखा है कि "साक्षी दृष्टश्रुतादन्यद्विब्रुवन्नार्यसंसदि । अवाङ्नरकमभ्येति प्रेत्य स्वर्गाच्च हीयते (म० ८ ।७५) अर्थात् आर्य्यों की सभा में जो साक्षी देखने और सुनने से विरुद्ध बोले वह अवाङ्-नरक" अर्थात् जिह्वा के छेदन से दुःख रूपनरक को (वर्त्तमान समय में) प्राप्त होवे और मरे पश्चात् भी सुख से हीन हो जाय ।

मनु अध्याय ८ श्लोक ११८, ११९, १२० तथा १२१ के अनुसार भी ज्ञात होता है कि लोभ, मोह, भय, मित्रता, काम, क्रोध तथा अज्ञानादि कारणों से झूट बोलने वाले साक्षियों को भिन्न २ प्रकार का दण्ड मिलता था । परन्तु उक्त प्रमाणों के मनुस्मृति में वर्त्तमान रहते हुए भी आश्चर्य्य है कि अनेक यूरोपीय ऐ-तिहासिक लिखते हैं कि "हिन्दुओं के असत्य बोलने का मुख्य कारण यह है कि

मनु ने भी मिथ्याभाषण की आज्ञा दी है" और अपने पक्ष की पुष्टि में उक्त ऐतिहासिक मनु अध्याय ८ के निम्नलिखित श्लोक १०३, १०४ तथा ११२ का प्रमाण देते हैं:—

तद्वदन् धर्मतोऽर्थेषु जानन्नप्यन्यथानरः । न स्वर्गाच्च्यवते लोकाद्दैवीं वाचं वदन्ति ताम् (म० ८।१०३) शूद्रविट्क्षत्रविप्राणां यत्रर्तोक्तौ भवेद्वधः । तत्र वक्तव्यमनृतं तद्धिसत्याद्विशिष्यते (म० ८ । १०४) कामिनीषु विवाहेषु गवां भक्ष्ये तथेन्धने । ब्राह्मणाभ्युपपत्तौ च शपथे नास्तिपातकम् [म० ८ । ११२] अर्थात् जानता हुआ भी जो नर धर्म के कार्य्यों में झूठ बोलने वाला है वह स्वर्ग लोक से नहीं गिरता क्योंकि उस झूठ को दैवी वचन कहते हैं । सच बोलने से जहां शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण का वध हो वहां झूठ बोलना चाहिये क्योंकि वह (झूठ) सत्य से बढ़ कर है । कामिनी के विषय में, विवाह में, गौ के भक्ष्य वस्तुओं में, इन्धन में, तथा ब्राह्मण की रक्षा में शपथ करने में पातक नहीं है ।

इन श्लोकों के विषय में हमारा कथन यह है कि उक्त तीनों श्लोकों में से जो पहले दो श्लोक हैं अर्थात् श्लोक १०३ तथा श्लोक १०४ वें तो प्रक्षिप्त हैं और जो तीसरा श्लोक ११ है११० उस का अर्थ समझने के लिए उक्त ऐतिहासिकों ने पूरा यत्न नहीं किया ।

श्लोक १०३ तथा १०४ के प्रक्षिप्त होने के कारण निम्नलिखित हैं:—

(क) मनु अध्याय ८ श्लोक ७९ तथा ८० में जो कुछ लिखा है उस का आशय यह है कि साक्षी जब कि सभा के निकट तथा वादी प्रतिवादी के सामने उपस्थित हो जांय तब प्राड्विवाक (वकील) उन्हें सत्य बोलने के लिए सावधान कर दे इन श्लोकों के आगे अर्थात् ८१ से १०० तक जो श्लोक हैं उन में सत्य की महिमा और झूठी साक्षी के दोष लिखे हुए हैं । फिर १०१ श्लोक में लिखा है "एतान्दोषानवेक्ष्यत्वं सर्वाननृतभाषणे । यथाश्रुतं यथादृष्टं सर्वमेवाञ्जसा वद" [म० ८ । १०१] से साक्षी ! सब प्रकार के झूठ बोलने में इतने दोषों को [जिन का वर्णन कर आए] देख कर जैसा तूने सुना हो वा देखा हो वह सब का सब ज्यों का त्यों शीघ्र कह दे यहां साक्षियों से प्रश्न करने का विषय सर्वथा समाप्त होता है इस के अनन्तर १०२ श्लोक में कुछ अन्य नियम हैं एवं १०७ वें श्लोक में भी साक्षी विषयक नियम हैं, परन्तु १०३ से १०६ तक के बीच के जो श्लोक हैं उन में साक्षी

सम्बन्धी कोई भी बात नहीं, न इन में साक्षी शब्द ही है प्रत्युत १०३ तथा १०४ में विशेष विशेष स्थलों में झूठ बोलने की शिक्षा है तथा १०५ और १०६ में उस झूठ बोलने का प्रायश्चित्त लिखा हुआ है। अतः स्पष्ट सिद्ध होता है कि १०३, १०४, १०५ तथा १०६ श्लोकप्रकरण विरुद्ध एवं प्रक्षिप्त हैं।

(ख) जो मनुष्य उन्मत्त न हो वह अपनी पुस्तक के एक ही अध्याय में और थोड़े ही अन्तर पर परस्पर विरुद्ध बातें नहीं लिख सक्ता जो पुरुष अध्याय ८ श्लोक ९४ में लिखता है "अवाक्शिरास्तमस्यन्धे किल्बिषी नरके व्रजेत् । यः प्रश्नं वितथं ब्रूयात्पृष्टः सन्धर्मनिश्चये" अर्थात् जहां शिर नीचे रखना पड़े और घोर अन्धकार हो ऐसे दुःख को वह पापी प्राप्त हो जो धर्म्मनिर्णय के लिये पूछने पर असत्य बोले", वह श्लोक १०३ में कैसे लिख सक्ता है कि धर्म्मकार्य्य में कहा हुआ असत्य देववचन है ? और जो पुरुष अध्याय ८, श्लोक ९८ वें में लिखता है कि "सहस्रं पुरुषानृते अर्थात् पुरुष के विषय में झूठी साक्षी देने पर एक सहस्र बांधवों के मारने का पाप होता है" वह श्लोक १०४ में कैसे लिख सक्ता है कि एक मनुष्य का प्राण बचाने को झूठ बोलना चाहिये ?

क्योंकि जो यूरोपीय ऐतिहासिक श्लोक १०३ तथा १०४ को प्रामाणिक मानते हैं वे श्लोक ९८ को भी प्रामाणिक मानते हैं अतः श्लोक ९८ के प्रमाण से भी हमने श्लोक १०३ तथा १०४ के आशयों को अप्रामाणिक सिद्ध किया। श्लोक १०३ तथा १०४ प्रक्षिप्त हैं इस का एक पुष्ट प्रमाण यह भी है कि मनु के प्रायश्चित्त प्रकरण अध्याय ११, श्लोक ८८ में स्पष्ट लिखा है "उक्त्वा चैवानृतं साक्ष्ये प्रतिरुध्य गुरुं तथा। अपहृत्य च निक्षेपं कृत्वा च स्त्रीसुहृद्वधम्" (म० ११। ८८) अर्थात् गवाही में झूठ बोलने पर भी गुरु के विरुद्ध चलकर भी, धरोहर को न देने पर भी, स्त्री तथा मित्र का वध करने पर भी (ब्रह्म हत्या का दोषी होता है एवं) ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त करे। अतः मनुस्मृति अध्याय ११, श्लोक ८८ का रखने वाला जो किसी भी कारण गवाही में झूठ बोलने वाले को ब्रह्महत्या के पाप का भागी बताता है वह श्लोक १०३ तथा १०४ में किसी मनुष्य का प्राण बचाने के लिए झूठी गवाही देने का उपदेश नहीं कर सक्ता। अतः श्लोक १०३ तथा १०४ प्रक्षिप्त हैं और इन श्लोकों के आधार पर यूरोपीय ऐतिहासिकों ने आर्य्यों पर जो २ आक्षेप किए हैं वे सब के सब अमूलक हैं।

झूठी शपथ—यूरोपीय ऐतिहासिक मनु अध्याय ८, श्लोक ११२ का

प्रमाण देते हुए जो यह कहते हैं कि मनुस्मृति में विशेष २ समयों पर झूठी शपथ खाने का भी उपदेश है सो अप्रामाणिक है । क्योंकि मनु अध्याय ८, श्लोक ११२ का अर्थ जैसा कि यूरोपीय ऐतिहासिक समझते हैं वैसा नहीं है । उक्त श्लोक को अर्थ सहित हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं और पुनः यहां लिखते हैं:—

कामिनीषु विवाहेषु गवां भक्ष्ये तथेन्धने ।

ब्राह्मणाभ्युपपत्तौ च शपथे नास्ति पातकम् ॥ म० ८ । ११२ ॥

अर्थात् कामिनी के विवाह विषय में, गौ के भक्ष्य वस्तुओं में, इन्धन में तथा ब्राह्मण की रक्षा में शपथ करने में पातक नहीं है ।

उक्त श्लोक में कोई भी शब्द ऐसा नहीं है जिस का "झूंठ शपथ" अर्थ किया जाय । श्लोक में केवल शपथ शब्द है "झूंठ शपथ" नहीं अतः झूंठ शपथ खाने का दोष किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं हो सक्ता । परन्तु झूंठ शपथ की बात चली कैसे ? इस का अनुसन्धान करने से ज्ञात होता है कि यूरोपीय ऐतिहासिक स्वयं तो अच्छे संस्कृतज्ञ होते नहीं इस कारण भारतीय टीकाओं के आश्रय से काम चलाते हैं । उक्त श्लोक ११२ पर टीका करते हुए कुल्लूक भट्ट ने लिख दिया है कि "वृथा-शपथे पापं न भवति" [अर्थात् श्लोक ११२ में गिनाए हुए स्थलों में] यदि व्यर्थ शपथ भी खाये तो पाप नहीं होता । उक्त टीकाकार के "वृथा" शब्द अपनी ओर से बढ़ा देने के कारण, आर्य्य, उक्त ऐतिहासिकों के आक्षेप के पात्र बन गए ।

वास्तविक बात यह है कि मनुस्मृति अध्याय ८, श्लोक १११ में लिखा है "न वृथा शपथं कुर्यात् स्वल्पेऽप्यर्थे नरो बुधः । वृथा हि शपथं कुर्वन् प्रेत्य चेह च नश्यति" जिस का अर्थ है समझदार पुरुष छोटी २ बातों (अर्थों) के लिये भी वृथा (अर्थात् निष्प्रयोजन) शपथ न किया करे, निष्प्रयोजन शपथ करने से इस लोक तथा परलोक में नाश को प्राप्त होता है (तात्पर्य यह है कि जो पुरुष बात बात में शपथ खाया करता है वह झूंठा समझा जाता है उस का विश्वास उठ जाता है और वह दुःख भोगता है) । फिर श्लोक ११२ (जिस का अर्थ हम ऊपर कर चुके हैं) द्वारा बतलाया है कि ब्राह्मण की रक्षा आदि आवश्यक कार्य्यों में यदि शपथ विना काम न चलता हो तो शपथ खावे ।

ध्यान रहे कि वास्तव में शपथ खाने [हलफ़ लेने] की आवश्यकता तब पड़ती थी जब कि किसी अभियोग में साक्षी नहीं मिलते थे । मनुस्मृति, अध्याय ८, श्लोक १०९ में लिखा है:—

असाक्ष्यकेषु त्वर्थेषु मिथोविवदमानयोः ।
अविन्दस्तत्त्वतः सत्यं शपथेनापि लम्भयेत् ॥ म० ८। १०९ ॥

अर्थात् झगड़ने वाले वादी प्रतिवादियों के जिस अभियोग में साक्षी न होने के कारण [सत्य ज्ञात न हो] उस में शपथ खिलाकर असल बात को जाने [और निर्णय करे] ।

वैदेशिकविभाग—यह विभाग प्रधानदूत के आधीन था । दूत मानो वैदेशिक विभाग का मन्त्री था।इस के आधीन अनेक अन्यान्य दूत थे जो अन्यान्य राज्यों में अपने राज्य का कार्य्य साधन करते थे ।

गुप्तचर—मनु ७। १२२ में नगराधिपति के आधीन गुप्तचरों के कार्य्य बतलाए गए हैं तथा जहां राजा की दिनचर्य्या विस्तारपूर्वक वर्णित है वहां भी राजा का समय गुप्तचरों के समाचार सुनने के लिए नियामित बतलाया गया है जिस से बोध होता है कि गुप्तचरों का रखना भी मनुस्मृति के समय आवश्यक समझा जाता था ।

क्या मनुस्मृति की दण्डाज्ञा कठोर थी ?—अठारह प्रकार के अभियोगों में से चोरी तथा व्यभिचारादि सम्बन्धी कई ऐसे अभियोग हैं जिन में अपराधी को प्राणदण्ड वा अङ्गभङ्ग वा देशनिर्वासन दण्ड देने की आज्ञा मनुस्मृति में है। कई पाश्चात्य विद्वान् कहा करते हैं कि मनुस्मृति की दण्डाज्ञा बहुत ही कठोर है और इस से यह परिणाम निकालते हैं कि उस समय आर्य्यावर्त में पूरी सभ्यता नहीं थी, वे लिखते हैं कि उक्त दण्डों से कम दण्ड भी यदि उक्त प्रकार के अपराधियों को दिया जाता तो दण्ड देने का उद्देश्य पूर्ण हो सक्ता था परन्तु ऐसी सम्मति रखने वाले पुरुषों को वर्तमान समय के अपराधों की वृद्धि की ओर भी ध्यान देना चाहिये था । क्योंकि आज कल दण्ड वैसे कठोर नहीं होते इस कारण उक्त प्रकार के अपराधों की जैसी चाहिए वैसी न्यूनता भी नहीं होती । कठोर दण्ड होने से अपराधी कम्पायमान हो जाते हैं । एक डाकू वा व्यभिचारी को प्राणदण्ड मिलते हुए देख कर अन्य डाका डालने की इच्छा रखने वाले वा अन्य व्यभिचारी अपराध करने से रुक जाते हैं और बहुत दिनों तक उक्त प्रकार के दुष्कर्म नहीं करने से उन के स्वभाव अर्थात् आदत में भी भेद पड़ जाता है । एक अपराधी को कठोर दण्ड मिलने से भविष्यत् में कठोर दण्ड के भय से अपराध करने से सहस्रों पुरुषों का रुकजाना तथा उन से सहस्रों प्रजा को जो कष्ट पहुंचता उस से उन का बच जाना अच्छा है,

अथवा एक अपराधी के साधारण दण्ड मिलने से भविष्यत् में सहस्रों अपराध करने वालों के हृदय से कठिन दण्ड का भय उठ जाना, एवं उन के द्वारा सहस्रों प्रजा का पीड़ित होना अच्छा है !

दण्डों का उद्देश्य प्रजा को भयभीत कर के दुष्ट कर्मों से उन्हें बचाना है। हम संसार में देखते हैं कि उसी दण्ड से लोग प्रायः अधिक भयभीत होते हैं जो कठोर हो और कभी २ दिया जाय, और बात यह भी है कि अदृष्ट पदार्थ के लिए सदा मन में अधिक मान्य और भय रहता है। आजकल संसार में यदि चोरियों की संख्या दिनों दिन प्रायः बढ़ती जाती है तो इस का कारण केवल यही है कि चोर लोग कड़ियों और बन्दीगृहों से विज्ञ हो गए हैं और उन के हृदय में इन का भय अधिक नहीं है।

अतः मनुसमृति की दण्डाज्ञा व्यर्थ कठोर नहीं है प्रत्युत वह इस नियम पर स्थित है कि "दण्ड सदा कठोर होने चाहिए ताकि वे कभी कभी दिए जांय" ।

मुद्राओं के प्रकार—मनुस्मृति जिस समय का वर्णन करती है उस समय व्यापारादि कार्य्यों को सुरीत्या चलाने के लिए तांबे, चांदी और सोने के भी सिक्के व्यवहृत थे, यथाः—

लोकसंव्यवहारार्थं याः संज्ञाः प्रथिता भुवि ।
ताम्ररूप्यसुवर्णानां ताः प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ म०८।१३१ ॥

लोगों के व्यवहार के लिए तांबे, चांदी और सोने [के सिक्कों] की जो संज्ञा पृथिवी पर प्रख्यात है उन सब को कहता हूं।

इस श्लोक के आगे श्लोक १३२ से श्लोक १३८ तक तांबे, चांदी और सोने के सिक्कों के नाम दिये हुए हैं जो कि निम्नलिखित प्रकार हैं:—

३ तीन यव का १ कृष्णल। ५ पांच कृष्णल का एक माष। १६ सोलह माषों का एक " सुवर्ण "। ४ चार सुवर्ण का एकपल। १० दशपल का एक धरण। दो कृष्णलों का एक रौप्य माषक। १६ सोलह माषक का एक चांदी का धरण वा चांदी का पुराण। तांबे के कर्षभर पण को कार्षापण वा ताम्रिक पण कहते थे। १० दश धरण का एक चांदी का शतमान। ४ सुवर्ण का एक निष्क। २५० दो सो पच्चास पणों का प्रथम साहस। ५०० पांचसौ पणों का मध्यम साहस। तथा एक सहस्र पणों का उत्तम साहस होता था।

आदर्श राजा और आदर्श राज्य—ऐसे तो उत्तम राजा और उत्तमराज्य के लक्षण बताने वाले अनेक श्लोक मनुस्मृति में आए हैं परन्तु निम्न-लिखित श्लोक उन सब श्लोकों का सार ज्ञात होता है:—

यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक् ।
न साहसिकदण्डघ्नौ स राजा शक्रलोकभाक् ॥ म०८।३८६ ॥

जिस राजा के राज्य में न चोर, न परस्त्रीगामी, न दुष्ट वचन का बोलनेहारा न साहसिक डाकू और न दण्डघ्न अर्थात् राजा की आज्ञा का भङ्ग करने वाला है वह राजा उस आनन्द का भागी होता है जिसे "शक्र" नाम सर्वोपरि तेजस्वी राजा अपने राज में भोगता है ।

तृतीयो भागः सम्पूर्णः ॥

: चतुर्थ भाग :

रामायण के समय का इतिहास ।

श्री रामचरित्र की प्रतिष्ठा—श्री रामचरित के विषय में वीवरादि का भ्रम—वाल्मीकि रामायण की श्लोकसंख्या—अयोध्या—अश्वमेधयज्ञ—महाराज दशरथ के पुत्रों की उत्पत्ति और उन की शिक्षा—श्री राम और विश्वामित्र—धनुषभञ्जन और विवाह—श्री रामचन्द्रजी के गुण—राजसभा का अधिवेशन तथा युवराज्याभिषेक की तय्यारी—कैकेयी की कठोरता श्री राम की वनयात्रा और प्रजा का शोक—पञ्चवटी का युद्ध—राक्षसजाति—सीताहरण—वानरजाति-सुग्रीव से मैत्री और बालीवध—हनूमान् का समुद्र तैरना—सीता का अनुसन्धान—सेतु का बांधना—लंकायुद्ध—श्री राम का अयोध्या लौटना और उन का राज्याभिषेक-प्रक्षिप्त उत्तर काण्ड ।

श्रीरामचरित्र की प्रतिष्ठा ।

जब से आर्य्यसन्तान पतित हुई तब से कितने प्रकार की विपत्तियों का झोंका इसे झेलना पड़ा ! इस के कितने ऐतिहासिक पुरुषों के यश इस के इतिहासों के नाश के साथ ही साथ लोप हो गए ! आश्चर्य्य है कि कोई भी विपत्ति वा किसी भी प्रकार का ह्रास मर्य्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी महाराज का नाम और यश विलुप्त न कर सका ! यदि उन का भी यश केवल किसी एक इतिहास के पत्रों पर अङ्कित होता अथवा उन के समकालीन वा कुछ कालान्तर के कतिपय सहस्र वा लक्ष नर नारी उन की कीर्ति जानते होते तो सम्भव था कि उन का भी यश आज सुनाई नहीं देता । परन्तु जब कि उन का यश उसी समय से जब कि वह पितृभक्ति की मर्यादा की रक्षा के लिए अयोध्या से दण्डकारण्य की ओर प्रस्थित हुए चतुर्दिक फैलने लगा और उन के जीवन काल में ही करोड़ों नरनारियों को उन का हार्दिक भक्त बना दिया और ये लोग अपनी सन्तानों की और उन सन्तानों ने अपनी सन्तानों को और इस प्रकार प्रत्येक पीढ़ी ने अगली पीढ़ी को रामयश सुनाना अपनी सन्तान के कल्याण का एक मुख्य हेतु समझा फिर वह रामयश किस प्रकार भूले ? जो राम-

यश केवल अनेक ग्रन्थों में ही विद्यमान न रहा प्रत्युत करोड़ों मन और हृदयों में भी अपना स्थान बराबर बनाता आया वह किस प्रकार विस्मृत हो ? क्या भारत के किसी भी प्रान्त में आज भी कोई आर्य गृहपति वा आर्यगृहिणी ऐसी है जो राम-नाम को न जानती हो ?

परन्तु एक समय था जब कि रामयश न केवल भारत में प्रत्युत इस पृथिवी के अन्यान्य कई भागों में भी फैला हुआ था। आज अमेरिका देश वा पाताल के प्राचीन मेक्सिको निवासी रामसितव (राम सीता) के नाम से जो उत्सव मनाते हैं, क्या वह सिद्ध नहीं करता कि रामयश प्राचीन कालों में भारत से अन्यान्य कई देशों में घूमता हुआ अमेरिका देश वा पाताल में पहुंचा था ?

श्रीरामचन्द्र जी महाराज के समय के एक दीर्घकाल पश्चात् तक जब कि आर्यसन्तान आर्य्योचित जीवन व्यतीत करती थी, तब तक राम चरित्र की पवित्रता के सन्मुख आर्य्यसन्तान भली भांति शीश झुकाती रही तो आश्चर्य्य ही क्या है ! महाभारत का रामोपाख्यान सिद्ध कर रहा है कि रामयश श्रवण कर महाभारत के समय के वीरगण भी अपना सुधार करना चाहते थे, तथा महाभारत के भिन्न २ स्थलों में आई हुई रामायण के वीरों की उपमाएं भी स्पष्ट सिद्ध कर रही हैं कि उस समय के पतित वीरों की भी कामना थी कि वे राम और उन के समकालीन वीरों का अनुकरण करते (यद्यपि वे अपने कुसंस्कारों के कारण अनुकरण करने में असमर्थ हो गए थे)।

महाभारत के सैकड़ों वर्ष पीछे और बुद्धदेव के जन्म के सैकड़ों वर्ष पहले जब कि भारत में अविद्या की घनघोर घटा छा गई और मतमतान्तरों के प्रचारक जुगनू की भांति इतस्ततः प्रकट होने लगे तब वाममार्गियों ने देखा कि रामचरित को पवित्र मानने वाली सर्व साधारण आर्यप्रजा को यदि बतलाया जाय कि राम का जीवन सिद्ध कर रहा है कि वाममार्ग ठीक है तो कार्य शीघ्र सिद्ध होगा अतः रामचरित को वर्णन करने वाले कविशिरोमणि महर्षि वाल्मीकि के रामायण में प्रक्षेप करने लगे, ऐसे ऐसे श्लोक बनाकर उक्त रामायण में मिलाए जिस से सिद्ध हो कि राम पक्के मांस भक्षक थे।

पुनः बुद्धमत के प्रकट होने पर बौद्धों ने जब कि देखा कि सर्व साधारण प्रजा रामचरित को पवित्र मानती है तो उन्हों ने रामचरित वर्णन करने के लिए "दशरथ

जातक " नाम ग्रन्थ लिखा और बतलाया कि बुद्धदेव पहले रामरूप में भी रह चुके हैं अर्थात् बुद्ध देव राम के अवतार हैं । उन्हों ने राम का महत्व बढ़ाने के लिए दशरथ जातक में निम्नलिखित श्लोक भी लिख दिया:---

दशवर्षसहस्राणि षष्टिर्वर्षशतानि च ।
कम्बुग्रीवो महाबाहु रामो राज्यमकारयत् ॥

अर्थात् जिन की गर्दन शङ्ख की तरह (सुन्दर) थी, और जिन की भुजाएं विशेष लम्बी थीं उन राम ने सोलह सहस्र वर्षों तक राज्य किया था । बौद्धसम्प्रदाय वाले अहिंसाधर्म्म के प्रचारक थे अतः उन्होंने राम को दृढ़ अहिंसाव्रतधारी बतलाया।

वैष्णवमत के प्रचारकों ने भी रामचरित के साथ सर्व साधारण का जो प्रेम था उस से लाभ उठाने के लिए वाल्मीकिरामायण में लिख दिया:—

" विष्णोर्वीर्याऽर्द्धतो जज्ञे रामो राजीवलोचनः ॥ बालकाण्ड ॥

अर्थात् विष्णु के आधे बल वा अंश से कमल नयन राम उत्पन्न हुए ।

जब कि भारतवर्ष में भिन्न २ देवता और देवियों की शक्तियों को अद्भुत प्रकार से वर्णन करने की शैली प्रचरित हुई तो वाल्मीकि रामायण में पुनः प्रक्षेप हुआ और श्रीरामचन्द्र जी तथा उन के अनुयायी तथा उन के शत्रु रावणादि तथा इन के अनुयायियों की शक्ति भी अलौकिक और अद्भुत बतलाई गई । परन्तु इन प्रक्षेपों से भी जब कि मन न भरा तो अध्यात्मरामायणादि ग्रन्थ रामयश को अलौकिक रीति से वर्णन करने को रचे गए ।

श्रीगोसाईं तुलसीदास जी ने साधारण प्रजा का रामचरित के साथ प्रेम देख अपने वैष्णव सम्प्रदाय के प्रचार के लिये आर्य्यभाषा में रामायण लिखा जिस में आपने श्रीरामचन्द्र जी को महाविष्णु का अवतार तथा अलौकिक शक्तियों से समन्वित बतलाया, ब्रह्मा, विष्णु महेशादि सभी देवताओं को उन का उपासक ठहराया और रावणादि राक्षसों को भी अलौकिक शक्तियों वाला अङ्कित कर दिया । तुलसीकृत रामायण की कथा वाल्मीकिरामायण से कई स्थलों में नहीं मिलती जिस का समाधान गोसाईं जी के अनुयायी "रामायण शतकोट अपारा" । नाम वचन के द्वारा करना चाहते हैं परन्तु उन का यह यत्न सफल होता सा दीख नहीं पड़ता । भारत के प्रायः सभी प्रान्तों में तुलसीकृतरामायण तथा अन्यान्य प्रान्तिक भाषा में बने हुए रामायणों के द्वारा वैष्णवधर्म का विशेष प्रचार हुआ है ।

श्रीरामचन्द्र जी के पवित्र चरित्र पर सर्व साधारण प्रजा को मोहित देख तथा स्वयं मोहित हो कितने कवियों ने किन २ ग्रन्थों के द्वारा किस २ समय उन का यश कीर्तन कर अपनी कवित्वशक्ति को सफल किया उन सब का ठीक २ पता अब नहीं लग सक्ता। संस्कृत तथा भारतीय प्रान्तिक भाषाओं के पचासों ग्रन्थ इस समय भी विद्यमान हैं जिन में रामचरित संक्षिप्त वा विस्तृतरूप से ग्रन्थ-कर्त्ताओं के अपने २ भावों के साथ वर्णित हैं। परन्तु उन सब में अधिक प्रतिष्ठित कविशिरोमणि महर्षि वाल्मीकि रामायण ही माना जाता है।

श्रीरामचरित के विषय में वीबरादि का भ्रम

शोक है कि वीबरादि कई यूरोपीय और उन के कोई २ भारतीय शिष्य संस्कृतसाहित्य से पूर्ण परिचित न होने के कारण कहा करते हैं कि रामायण एक अलङ्कारयुक्त ग्रन्थ है, "सीता" का अर्थ हल है "राम" का अर्थ हल चलाने वाला है आदि। परन्तु इन से यदि कोई पूछे कि रामायण में आए हुए अन्यान्य पुरुषों के नाम भी अलङ्कार के साथ घटाओ तो बेचारे घटा नहीं सकते। घटावें तो तब जब कि रामायण कोई अलङ्कार हो। जब कि श्रीरामचन्द्र जी के वंशज महा-राणा उदयपुर तथा भारत के कई भागों में अन्यान्य क्षत्रियभूषण विद्यमान हैं, जब कि रामायण की कथा को सत्य मानने वाली करोड़ों भारतीय प्रजा अभी तक स्थित हैं जब कि राम सीता को अपना पूज्य मानने वाली एवं रामसीतव के नाम से उत्सव मनाने वाली एक प्राचीन जाति अमेरीका पाताल में भी विद्यमान है तो कैसे कोई सिद्ध कर सकता है कि रामरायण की कथा काल्पनिक है? क्या संसार के इतिहास से एक भी ऐसा प्रमाण प्रस्तुत किया जा सकता है कि काल्पनिक कथाओं के पीछे करोड़ों मनुष्य ऐसे लट्टू हो गए हों कि उस कथनानुसार अपने अनेक बड़े २ उत्सव मनाते हों? यदि श्रीराम सीतादि कल्पित पुरुष होते तो क्या कभी सम्भव था कि संस्कृतसाहित्य के पचासों ग्रन्थ उन के यश से परिपूरित होते? और उन के पीछे की आर्य्य सन्तान उन के नामों को बराबर गौरव के साथ स्मरण करती आती?

वाल्मीकिरामायण की श्लोकसंख्या।

इस समय छपे हुए वाल्मीकिरामायण की जितनी प्रतियां मिलती हैं वह सब की सब दो प्रतियों से छपी हैं और इन दोनों में से एक प्रति गौड़ वा बङ्ग देश

की है और दूसरी बम्बई की है । बङ्ग देश वाली प्रति में बाल, अयोध्या, अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर तथा युद्ध नाम के ६ काण्ड तथा ५५७ सर्ग तथा १९७९३ श्लोक हैं और जो बम्बई की प्रति है उस में उक्त छः काण्ड तथा उत्तर काण्ड, ६५० सर्ग तथा २४५२८ श्लोक हैं । रामायण के श्लोकों की संख्या कितनी है इस विषय में निम्नलिखित श्लोक का भी लोग प्रमाण दिया करते हैं :—

चतुर्विंशत्सहस्राणि श्लोकानामुक्तवानृषिः ।
तथा सर्गशतान्पञ्च षट् काण्डानि सहोत्तरम् ॥

अर्थात् ऋषि (बाल्मीकि) ने २४००० चौबीस सहस्र श्लोक एवं ५०० सर्ग तथा उत्तर सहित छः काण्ड कहा था । अतः उक्त दोनों प्रतियों और इस श्लोक में बतलाए के बीच निम्नलिखित प्रकार भेद पड़ता है :—

	काण्ड	सर्ग	श्लोक
उक्त श्लोकानुसार	७	५००	२४०००
बङ्ग प्रति अनुसार	६	५५७	१९७९३
बम्बई प्रति अनुसार	७	६५०	२४५२८

उक्त सूची स्पष्ट सिद्ध करती है कि वाल्मीकि रामायण में श्लोकों की न्यूनाधिकता होती आई है । हमारी सम्मति तो यह है कि उत्तर काण्ड सर्वथा प्रक्षिप्त है * और अन्यान्य काण्डों में भी कई सर्ग प्रक्षिप्त हैं तथा शेष सर्गों में से भी कई सर्गों के बीच अनेक श्लोक प्रक्षिप्त हैं । प्रक्षिप्त श्लोक निम्नलिखित प्रकार के हैं :—

(१) रामायण में वर्णित श्रीरामचन्द्र जी महाराजादि वैदिक धर्म रक्षकों के सम्बन्ध में जो कुछ अवैदिक बातें कही गई हैं वह सब प्रक्षिप्त हैं जो कि महर्षि वाल्मीकि के कहे हुए रामायणस्थ असल श्लोकों के भी प्रतिकूल हैं । महर्षि वाल्मीक के कहे हुए वे ही प्रकरण वा श्लोक हैं जो वेदानुकूल तथा उच्च भावों से परिपूर्ण हैं तथा जिन में महाभारत के समय के विशेष पूर्व के आर्यादिकों की अवस्थाएं वर्णित हैं ।

---

* देखिए इस रामायण प्रकरण अर्थात् चतुर्थ भाग के अन्त में उत्तर काण्ड के प्रक्षिप्त होने के प्रमाणों को

(२) क्योंकि श्री रामचन्द्र जी के समय सम्प्रदायों का नाम नहीं था अतः वाममार्गादि सम्प्रदाय सम्बन्धी सभी बातें प्रक्षिप्त हैं।

(३) जो कुछ आर्यवीरों वा वानर जाति के मनुष्यों वा राक्षसों वा अन्यों के विषय में सृष्टिनियम-विरुद्ध बातें कही गई हैं वह सब प्रक्षिप्त हैं क्योंकि सर्वज्ञ एवं निर्भ्रान्त परमात्मा का सृष्टिनियम सदा एक रस बना रहता है।

(४) जो कुछ प्रकरणविरुद्ध है तथा जो आर्ष संस्कृत में नहीं है वह भी प्रक्षिप्त है।

अयोध्या।

महाभारत युद्ध से एक दीर्घकाल पूर्व अतिप्राचीन समय में जिस का ठीक २ निरूपण हम नहीं कर सकते तथा श्रीमान् महाराजाधिराज इक्ष्वाकु के सहस्रों वर्ष पश्चात् उन के वंशज अज नाम सम्राट् के पुत्र महाराज दशरथ उस समय के आर्य साम्राज्य के मुख्य केन्द्र कोशलदेश की राजधानी अयोध्यापुरी में राज्य करते थे। अयोध्या उस समय १२ बारह योजन लम्बी और ३ तीन योजन चौड़ी थी * यह चारों ओर से एक गहरी गम्भीर परिखा (जलभरी खाई) से घिरी हुई थी और इस के चारों ओर दुर्गम दुर्ग बने हुए थे जिन पर सौ शतघ्नियां (बहुत बड़ी २ तोपें) † नगर रक्षणार्थ सदा चढ़ी हुई रहती थीं। शतघ्नी के अतिरिक्त अन्यान्य कई प्रकार के युद्ध सम्बन्धी यन्त्र तथा आयुध भी ‡ यथास्थान दुर्गों पर तथा श-

---

* आयता दश च द्वे च योजनानि महापुरी।
श्रीमती त्रीणि विस्तीर्णा सुविभक्तमहापथा ॥ बाल ५। ७ ॥

† शतघ्नीशतसंकुलाम् ॥ बाल॥ ५। ११ ॥

शतघ्नी उस यंत्र का नाम है जो एक बार छूटने पर प्रायः एक सौ योद्धाओं को मार सकती थी। प्राचीन आर्यों का आविष्कृत यह एक प्रकार का आग्न्यास्त्र था। "शतघ्नी शत-संकुलाम्" का अर्थ करते हुए महाशय ग्रिफ़िथ साहब एम, ए, सी, आई, ई अपने ग्रन्थ "रामायण का अंग्रेज़ी अनुवाद" के पृष्ठ १२ के फुट नोट में लिखते हैं:-

"The Shataghni *i. e.* centicide or slayer of a hundred, is generally supposed to be a sort of fire arms, or the ancient Indian rocket" अर्थात् शतघ्नी वा सौ को मारने वाली प्रायः एक प्रकार का आग्न्यास्त्र मानी जाती है जिस का नाम "ऐंशेंट इंडियन राकेट" भी है।

‡ सर्वयन्त्रायुधवतीमुषिता सर्वशिल्पिभिः ॥ बाल ५। १० ॥

स्त्रागारों में विद्यमान थे जिन के द्वारा युद्धविद्याविशारद योद्धागण नगर की रक्षा करते थे। नगर का आन्तरिक भाग सुन्दर चौड़े और लम्बे लम्बे राजपथों से विभक्त हो रहा था। इन राजपथों पर प्रति-दिन जलसिञ्चन होता था तथा इन के दोनों किनारों पर भली भांति रक्षित खिले हुए पुष्पों की पंक्तियां शोभा दे रही थीं (१) इन राजपथों के दोनों किनारों पर समभूमि और समान रेखाओं में बने हुए बड़े सुन्दर २ भवन शोभायमान थे। इन में से अनेक बहुत ऊंचे २ और रत्नों से जटित थे (२) नगर के बीच २ यथोचित स्थानों में सालवृक्षों से घिरे हुए और आम्रादि वृक्षों से सुशोभित उद्यान (३) अर्थात क्रीड़ा स्थान बने हुए थे स्वच्छ निर्मल जल से भरे हुए सुन्दर २ सरोवर भी यथास्थान विद्यमान थे नगर नरनारियों के समूह से भरा हुआ था, ब्राह्मण षडङ्गसहित वेदों के जानने वाले, क्षत्रिय शूरवीर तथा धनुर्वेद विशारद और वैश्य व्यापार बल से बड़ी २ सम्पत्तियों के स्वामी, और शूद्र श्रद्धापूर्वक द्विजातियों की सेवा करने वाले थे, श्रमजीवी (मजदूर भी दिन भर की कमाई के बदले एक छोटा सा सोने का सिक्का प्राप्त कर लेता था, (४) राजधानी भर में कोई भी पुरुष ऐसा न था जो क्षुधा से पीड़ित दीन अर्थात् दरिद्री हो (५) प्रायः लोग सुवर्ण तथा रत्नों के आभूषणों से भूषित रहते थे, नाना प्रकार के रथ, हाथी घोड़े गौ आदि पशु रखते थे। इन्हीं के साथ करद राज्यों के राजदूत (तथा अन्यान्य राज्यों के राजदूत) तथा भिन्न २ देशों से व्यापारार्थ आए हुए वणिक् भी निवास करते थे (६) शिक्षण और रक्षण का प्रबन्ध ऐसा उत्तम था कि नगर में कामी, कायर, क्रूर, अविद्वान्, नास्तिक अग्निहोत्र न करने वाले तथा चोरादिकों के नाम कठिनता से सुन पड़ते थे (७) सब नर

(१) मुक्तपुष्पावकीर्णेन जलसिक्तेन नित्यशः ॥ बाल॥ ५।८॥

(२) प्रासादै रत्नविकृतैः पर्वतैरिव शोभिताम् ॥ बाल॥ ५।१२॥

(३) उद्यानाम्रवणोपेतां महतीं सालमेखलाम् ॥ बाल॥ ५।१२॥

(४) हेनरी ज्यार्ज नाम प्रसिद्ध अर्थशास्त्री कहता है कि किसी देश के अभ्युदय का ठीक २ अनुमान उस धन से लगता है जो श्रमजीवी (मज़दूर को प्रतिदिन के परिश्रम के बदले में मिलता है।

(५) न दीनः ॥ बाल॥ ६।१५॥

(६) समन्तराजसंघैश्च बलिकर्मभिरावृताम् ।
नानादेशनिवासैश्च वणिग्भिरुपशोभिताम् ॥ बाल ६।१४॥

(७) कामी वा न कदर्यो वा नृशंसः पुरुषः क्वचित् ।
द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नाऽविद्वान्न च नास्तिकः ॥ बाल ६।८॥
नाऽनाहिताग्निर्नाऽयज्वा न क्षुद्रो वा न तस्करः ॥ बाल॥६।१२॥

नारी धर्म्म शील बने हुए थे * प्रजा सब प्रकार से सुखी थी और अयोध्या भर में कोई भी पुरुष ऐसा नहीं दीखता था जो राजाज्ञा पालन न करता हो अथवा जो राजा का भक्त न हो †

अश्वमेध—अनेक वर्षों तक महाराज दशरथ अपनी सुरक्षित सुखी और राजभक्त प्रजा के आनन्दों के साथ आनन्द मनाते रहे परन्तु एक समय आया जब कि महाराज का मन मलिन होने लगा, वृद्धावस्था के चिन्ह शरीर पर प्रत्यक्ष होने लगे। महाराणी कौशल्या महाराणी सुमित्रा वा महाराणी कैकेयी से भी कोई सन्तति नहीं हुई । अतः अपुत्री के विषय में जो २ बातें आर्ष ग्रन्थों में लिखी हैं वह एक बार महाराज के मस्तिष्क में विशेष रूप से घूम गई और आप विशेष उदासीन हुए । महाराज के मन की यह बात उन की मन्त्री-सभा से छिपी हुई नहीं थी अतः वे लोग भी इस चिन्ता से त्राण पाने का उद्योग ढूंढ़ने लगे। अन्त में महाराज दशरथ का अश्वमेध-यज्ञ विषयक प्रस्ताव सुन मन्त्रियों ने यही निश्चित किया कि अश्वमेध यज्ञ से जहां अन्यान्य राजकीय कामनाएं सिद्ध होंगी वहां महाराज तथा तीनों महाराणियों के शरीरादि की पूर्ण शुद्धि से पुत्र प्राप्ति भी हो सक्ती है अतः अश्वमेधयज्ञ की तय्यारी होनी चाहिए । तदनुसार सरयू के किनारे एक बड़ी यज्ञशाला रची गई उस के चतुर्दिक् पृथिवी के महीपतियों तथा ऋषि महर्षियों तथा अन्यान्य सुप्रसिद्ध ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों के रहने के लिए सुन्दर और विशाल निवास स्थान बनने आरम्भ हुए । और महाराज की सम्मत्यनुसार महर्षि वसिष्ठ ने सुमन्त्र को बोलाकर कहा "निमन्त्रयस्वनृपतीन पृथिव्यां ये च धार्मिकाः । ब्राह्मणान् क्षत्रियान् वैश्यान् शूद्रांश्चैव सहस्रशः‡" ॥ अर्थात् "पृथिवी के सभी धार्मिक राजाओं को निमन्त्रित करो और सहस्रों ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों को भी निमन्त्रित करो" ।

मिथिलाधिप महाराज जनक, काशीपति, केकयराज तथा उन के पुत्र, अङ्गेश्वर रोमपाद तथा उन के पुत्र और मगधाधिपति × इन सब को स्वयं जाकर लाओ

---

* सर्वे नराश्च नार्यश्च धर्मशीलाः सुसंयताः ॥ बाल ६ । ९ ॥

† द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नाऽपि राजन्यभक्तिमान् ॥ बाल ६ । १६ ॥

‡ "शूद्रों को निमन्त्रित करो" इस वचन से तो यह सिद्ध होता है कि महाराज दशरथ के समय शूद्रों की भी इतनी प्रतिष्ठा थी कि वह निमन्त्रण पाने का अधिकार रखते थे ।

× देखिये बालकाण्ड, सर्ग १३, श्लोक २१, २३, २४, २५ तथा २६ ।

और महाराज दशरथ के शासनाधीन * प्राचीदेश, सिन्धु, सौवीर, सौराष्ट्र, दक्षिण देश तथा पृथिवी तल पर जो अन्यान्य महाराजगण हैं उन सब को उन के सम्बन्धियों तथा अनुचरवर्ग सहित यथायोग्य दूतों के द्वारा आमन्त्रित करो†' सुमन्त्र ने वैसा ही किया और एक वर्ष के भीतर ही देश २ से आमन्त्रित जन समुदाय अयोध्या में पहुंच गए। राजे महाराजगण भी बहुमूल्य रत्नादि भेंट लेकर उपस्थित हो गए। तब महर्षि वसिष्ठ ने महाराज दशरथ से कहा:—

उपयाता नरव्याघ्र राजानस्तव शासनात्।
मयापि सत्कृताः सर्वे यथार्हं राजसत्तम॥ बा० १३।३६॥
यज्ञियं च कृतं सर्वं पुरुषैः सुसमाहितैः।
निर्यातु च भवान् यष्टुं यज्ञायतनमन्तिकात्॥ बा० १३।३७॥

हे नर व्याघ्र! आप की आज्ञानुसार राजा लोग आन उपस्थित हुए हैं, हे राजसत्तम! मैंने भी उन का यथायोग्य (राजोचित) सत्कार किया है। सुसमाहित पुरुषों के द्वारा तय्यार की हुई यज्ञ करने की सब सामग्री भी (एकत्रित हो गई है) (अतः अब) आप समीपवर्ती यज्ञशाला में यज्ञ करने के लिये पधारें। यह सुन महाराज दशरथ बहुत प्रसन्न हुए और यज्ञशाला में पहुंच तीनों महाराणियों सहित दीक्षा धारण कर विधिवत् व्रत उपवासादि रखने लगे। नाना प्रकार की ओषधियां जो यज्ञकुण्ड में पड़ती थीं उन के धूम से तथा विविध प्रकार के हविषान्नों के खाने से महाराज तथा महाराणियों के शरीरस्थ सब धातु परिशुद्ध होने लगे और महर्षि वशिष्ठ तथा ऋष्य शृंग‡ आदि महर्षियों ने मिलकर यथाक्रम अश्वमेधयज्ञ के सब कृत्य बड़ी उत्तमता के साथ समाप्त कराए और महाराज दशरथ ने सब आए हुए महानुभावों को यथोचित सम्मान के साथ विदा कर दिया।

महाराज दशरथ के पुत्रों की उत्पत्ति और उन की शिक्षा—

अश्वमेध यज्ञ की समाप्ति से ग्यारहवें मास में चैत्रशुक्ल पक्ष की नौमी को कौशल्या

---

* राज्ञः शासनमादाय चोदयस्व नृपर्षभान्॥ बाल १३।२७॥

† प्राचीनान् सिन्धु सौवीरान् सौराष्ट्रेयांश्च पार्थिवान्। दाक्षिणात्यान्नरेन्द्रांश्च समस्तानानयस्वह॥ सन्ति स्निग्धाश्च ये चान्ये राजानः पृथिवीतले। तानानय यथाक्षिप्रं सानुगान् सहबान्धवान्॥ बाल १३, श्लोक २७ का शेषार्द्ध, २८, २९ का पूर्वार्द्ध॥

‡ विभाण्डक मुनि के पुत्र ऋष्यशृङ्ग एक महान् तपस्वी थे। इन का विवाह पीछे से राजा लोमपाद की कन्या शान्ता से हुआ था। इस से यह सिद्ध होता है कि रामायण के समय भी ब्राह्मण क्षत्रिय कन्या से सहर्ष विवाह कर लेते थे।

के गर्भ से एक तेजस्वी पुत्रोत्पन्न हुआ, आनन्दोत्सव होने लगे । महाराज ने बड़े २ दान किए ऋषि मुनियों और ब्राह्मणों ने आशीर्वाद दिया पुनः महारानी कैकेयी के गर्भ से एक पुत्र और महारानी सुमित्रा के गर्भ से दो पुत्र उत्पन्न हुए इन के जन्मोत्सव भी बड़े हर्ष के साथ मनाए गए कौशल्या के पुत्र का नाम राम कैकेयी के पुत्र का नाम भरत और सौमित्रों का नाम लक्ष्मण और शत्रुघ्न रक्खा गया ।

चारों भाई अपने पिता माता और प्रजावर्ग को प्रमुदित करते हुए दिनों दिन बढ़ने लगे । धीरे २ वेदारम्भ संस्कार का समय भी आन पहुंचा और चारों कुमार विधिवत् अध्ययन करने लगे । क्योंकि चारों ही बड़े बुद्धिमान् थे इस कारण जो कुछ अध्ययन करते थे उन्हें शीघ्र धारण करलेते थे । वेदों अनेक आर्ष ग्रन्थों तथा धनुर्वेदादि को पढ़कर वे सब चारों भाई वेद के ज्ञाता, शूर, तथा प्रजाहित साधन में तत्पर, ज्ञान से पूर्ण, गुणों से प्रकाशित, लज्जाशील, यशस्वी, सब व्यवहारों के ज्ञाता और दूरदर्शी बनगए तब धर्म्मात्मा महाराज दशरथ उन के विवाह विषय में उन के शिक्षकों तथा अपने बन्धुवर्गों के साथ विचार करने लगे । *

श्रीराम और विश्वामित्र—इन्हीं दिनों तपोधन महर्षि विश्वामित्र अयोध्या में आन पहुंचे जिन का आतिथ्य सत्कार महाराज ने बड़े प्रेम से किया और महर्षि विश्वामित्र ने महाराज को सब प्रकार सेवा करने के लिए उद्यत देख कहा " हे राजन् " हमारे यज्ञ कर्मों में कुछ दिनों से विघ्न होने लगा है, जब हम यज्ञ करने लगते हैं तो मारीच और सुबाहु नाम के दो राक्षस जो बडे बलवान् और (अस्त्र शस्त्र विद्या में) सुशिक्षित हैं यज्ञ वेदी में मांस, रुधिर अपवित्र वस्तुओं † की वर्षा करने लगते हैं जिस कारण हमारा यज्ञ विध्वंस हो जाता है हमारा विश्वास है कि:—

न च तौ राममासाद्य शक्तौ स्थातुं कथञ्चन ॥ बाल ।१९।११ ॥
न च तौ राघवादन्यो हन्तुमुत्सहते पुमान् ॥ बाल० ।१९।१३ ॥

" वे दोनों राक्षस राम के सन्मुख युद्ध में कभी भी नहीं ठहर सक्ते और राम

---

* देखिए बाल काण्ड, सर्ग १८, श्लोक २५, २६, ३४, ३५, ३७, ३८ ॥

† " तौ मांसरुधिरौघेण वेदितामभ्यवर्षताम् (बाल १९।६) महर्षि विश्वामित्र के इस वचन से तो ज्ञात होता है कि रुधिर और मांस यज्ञ को अपवित्र करने वाले पदार्थ हैं । जो लोग यह कहते हैं कि प्राचीन समय में यज्ञ में पशुवध होता था । उन के कथनों का यहां स्पष्ट खण्डन है ।

से भिन्न अन्य कोई पुरुष उन के मारने के लिए उत्साहित भी नहीं हो सक्ता *" अतः हे राजन ! राम को हमारे यज्ञ की रक्षा के लिए दीजिए। महाराज ने राम को देने में प्रथम तो अपनी अशक्तता प्रकट की परन्तु प्रजा के मुखस्वरूप महर्षि वसिष्ठ के कहने पर महाराज के मन में जो संकल्प विकल्प के तरंग उठ रहे थे वह सब के सब शान्त होगए और आप ने राम लक्ष्मण को बोलाकर महर्षि विश्वामित्र को सौंप दिया। धनुष बाण और कृपाणधारी दोनों धुरन्धर वीरों को देख महर्षि का हृदय प्रमुदित हो गया और वह महाराज से विदा हो दोनों राजकुमारों को संग ले अपने तपोवन के लिए प्रस्थित होगए। मार्ग में कई स्थानों में ठहरते हुए तथा विधिवत् सन्ध्योपासनाग्निहोत्रादि करते हुए और ताड़कावन में ताड़का को मारते हुए महर्षि विश्वामित्र से अस्त्रशस्त्रसम्बन्धी अनेक बातें ज्ञात करते हुए, श्री रामचन्द्र जी महर्षि तथा लक्ष्मण सहित महर्षि के आश्रम में पहुंचे और महर्षि ने आते ही यज्ञारम्भ कर दिया।

यज्ञ वेदी की ज्वाला दिनों दिन बढ़ने लगी, धूम सहित सुगन्धि दूर २ तक फैलने लगी, पांच रात्रि व्यतीत भी हो गई परन्तु कोई राक्षस पास नहीं आया परन्तु छटे दिन राक्षसों के गर्जन सुन पड़े और मारीच तथा सुबाहु अपने दल बल साथ चढ़ आए। परन्तु श्री रामचन्द्र जी ने दूरसे ही मारीच को जाज्वल्यमान मानवास्त्र † से घायल कर दिया और वह विकल हो रण से निकल भागा। पुनः आग्नेयास्त्र से सुबाहु को मार गिराया और शेष राक्षसों को वायव्यास्त्र से विध्वंस कर दिया। राक्षसों के नाश और अपने यज्ञ को निर्विघ्न पूर्ण हुआ देख महर्षि विश्वामित्र बड़े ही प्रसन्न हुए और दोनों भाइयों को धन्यवाद दिया और अस्त्रशस्त्र विद्या सम्बन्धी अनेक बातें दोनों भाइयों को बताईं, पुनः तुरत ही जनकपुर के लिए श्री राम लक्ष्मणसहित रवाना हुए और कई दिनों पश्चात् जनकपुर पहुंचे जहां एक बृहत् यज्ञ

---

* इन वचनों से तो सिद्ध होता है कि राम उसी समय एक सर्वोपरि योद्धा बन गए थे।

† मानवास्त्र, आग्नेयास्त्र वायव्यास्त्रादि अनेक अस्त्र जो दूर से ही शत्रुओं का नाश कर देते थे प्राचीन आर्यों के आविष्कृत अस्त्र थे, जिस प्रकार बड़े २ तोपों से बड़े २ जलते हुए गोले छूट कर जिस स्थान में गिरते हैं वहां फट कर अपने लोहे अथवा शीशे के टुकड़ों से आसपास के प्राणियों का नाश कर देते हैं उसी प्रकार उक्त अस्त्रों से लहकते हुए बाणादि निकल कर शत्रुसैन्य का संहार कर देते थे। क्योंकि श्री रामचन्द्र जी ऐसे २ अनेक अस्त्रों के चलाने में बड़े ही निपुण थे इसी कारण अकेले भी अनेक राक्षसों के साथ सफलता पूर्वक युद्ध कर सकते थे।

हो रहा था। महाराज जनक ने इन लोगों का आतिथ्य सत्कार बड़े प्रेम के साथ किया, उभयपक्ष की ओर से कुशल क्षेम पूछे जाने के अनन्तरः—

पुनस्तं परिपप्रच्छ प्राञ्जलिः प्रयतो नृपः । इमौ कुमारौ भद्रं ते देवतुल्यपराक्रमौ ॥ गजतुल्यगतिवीरौ शार्दूलवृषभोपमौ । अश्विनाविव रूपेण समुपस्थितयौवनौ * ॥ कथं पदभ्यामिह प्राप्तौ किमर्थं कस्य वा मुने । वरायुधधरौ वीरौ कस्य पुत्रौ महामुने ॥ (बाल ५० । १७, १८, १९, २०) ।

महाराज जनक हाथ जोड़ पूछने लगे "महामुने ! आप के दोनों कुमार, कल्याणस्वरूप, देवों की भांति पराक्रम वाले, गजसमान गति वाले, सिंह तथा वृषभ जैसे वीर, अश्विनीकुमारों की तरह सुन्दर, पूर्ण यौवनावस्था को प्राप्त, उत्तमोत्तम अस्त्रशस्त्रों को धारण किए हुए, क्यों पैरों से चल कर यहां प्राप्त हुए, किस लिए आए, किस के ये पुत्र हैं ? कृपया यह सब बताएं। यह सुन महर्षि विश्वामित्र ने इन दशरथात्मजों के अयोध्या से आने, राक्षसों के वधादि सब वृत्तान्तों को कह सुनाया और यह भी कहा कि ये (आप की प्रतिज्ञा से सम्बन्ध रखने वाले) सुप्रसिद्ध धनुष को देखना चाहते हैं ।

धनुषभञ्जन और विवाह—महर्षि के वचन सुन राजा जनक ने धनुष लाने की आज्ञा दी और कई मनुष्य उस धनुष की पेटिका को जिस के नीचे आठ पहिए लगे हुए थे नगर से खींच लाए † । तब महाराज जनक कहने लगे यह वह धनुष है जिस को कोई भी वीर अब तक न उठा सका, यह प्रस्तुत है। महर्षे ! राजकुमारों को आज्ञा दें कि वे इस धनुष को अवलोकन करें ।

---

* "समुपस्थितयौवनौ" अर्थात् जो कुमार कि पूर्ण युवावस्था को प्राप्त हैं। सुश्रुत में लिखा है "आपञ्चविंशतेर्यौवनम्" अर्थात् पचीसवें वर्ष के पश्चात् युवावस्था आरम्भ होती है। इन वचनों को पढ़कर कौन सन्देह कर सकता है कि श्रीरामचन्द्र का विवाह बाल्यावस्था में हुआ था जैसा कि कई बालविवाह के पोषक कहा करते हैं। इस श्लोक के विरुद्ध जितने वचन श्रीरामचन्द्र जी के बाल विवाह विषयक मिले उन्हें अप्रामाणिक समझना चाहिये, क्योंकि बाल्मीक जैसे महर्षि अपने इस वचन का खण्डन आप ही अपने रामायण में नहीं कर सकते ।

† तामादाय सुमञ्जूषामायसीं यत्र तद्धनुः (बाल ६७ । ५) श्रीगोसाईं तुलसीदास जी ने उस धनुष के विषय में जो लिखा है "भूप सहस दश एकहि बारा, लगे उठावन टरै न टारा ।" सो बात बाल्मीकि रामायण में नहीं मिलती ।

तदनुसार महर्षि ने कहा वत्स राम ! धनुष को देखो । श्रीरामचन्द्र जी पेटिका खोल उस धनुष को देख कहने लगे कि यह धनुष तो बड़ा सुन्दर है, मैं इस धनुष को उठाना और चढ़ाना भी चाहता हूं ! महर्षि तथा महाराज ने कहा बहुत अच्छा । तब सहस्रों मनुष्यों के देखते २ श्रीरामचन्द्र जी ने विना श्रम उस धनुष को बीच से उठा लिया और उस की प्रत्यञ्चा (डोरी) चढ़ाने लगे त्यों ही धनुष बड़े शब्द के साथ बीच से टूट गया । लोग आश्चर्य में आगए और धन्य २ कहने लगे । तब महाराज जनक ने महर्षि विश्वामित्र से आज्ञा ले अपने दूतों को अयोध्या भेजा ।

वे दूत शीघ्रगामी वाहनों पर सवार हो तीन रात मार्ग में व्यतीत कर अयोध्या पहुंचे और नियतसमय राजसभा में पहुंच कर निवेदन करने लगे "महाराज जनक ने आप के, आप के पुरोहितों तथा मन्त्र्यादि के कुशलादि ज्ञात करने के लिए हम लोगों को भेजा है और कौशिक मुनि की अनुमति से यह निवेदन किया है कि;—

पूर्वं प्रतिज्ञा विदिता वीर्यशुल्का ममात्मजा । *
राजानश्च कृतामर्षा निर्वीर्या विमुखीकृताः ॥ बाल ६८। ७॥
सेयं मम सुता राजन् ! विश्वामित्रपुरस्कृतैः ।
यदृच्छयागतै राजन्निर्जिता तव पुत्रकैः ॥ बाल ६८ । ८ ॥

आप को ज्ञात है कि मैंने अपनी आत्मजा (पुत्री) को एक सर्वोपरि वीर को देने की पूर्व प्रतिज्ञा की थी आप को यह भी ज्ञात है कि राजाओं ने किस प्रकार अभिमान किया और निर्बल सिद्ध हो विमुख गए, सो हे राजन् ! उस मेरी सुता को विश्वामित्र के साथ स्वेच्छा से आए हुए आप के पुत्र ने जीत लिया ।

इन वचनों को श्रवण कर महाराज दशरथ बड़े प्रसन्न हुए और सभा में उपस्थित मन्त्रियों तथा महर्ष्यादि से बोले आप लोगों ने इन सब समाचारों को सुन लिया ।

यदि वो रोचते * वृत्तं जनकस्य महात्मनः ।
पुरीं गच्छामहे शीघ्रं माभूत् कालस्य पर्ययः ॥ बाल ६८।१७ ॥

---

*"ममात्मजा" शब्द का अर्थ है जो मुझ से, मेरे आत्मा से वा मेरे शरीर से उत्पन्न हुई सीता है फिर "सीता पृथिवी से उत्पन्न हुई" यह बात "ममात्मजा" इन शब्दों से विपरीत तथा सृष्टिनियम अर्थात् परमात्मा के नियम विरुद्ध होने से कैसे ठीक मानी जा सकती है ?

† "यदि वो रोचते वृत्तं" अर्थात् "यदि आप लोग इन बातों को पसन्द करते हैं" यह वचन सिद्ध कर रहा है कि महाराज दशरथ अपने पुत्र के विवाह विषय में भी मनमानी रीति

मन्त्रिणो बाढमित्याहुः सहसर्वैर्महर्षिभिः ।
सुप्रीतश्चाब्रवीद्राजा श्वो यात्रेति च मन्त्रिणः ॥ बाल ॥ ६८।१८ ॥

यदि आप लोग महात्मा जनक की बातों को पसन्द करते हैं तो हम लोगों को चाहिए कि विलम्ब न कर (जनक) पुर के लिये शीघ्र ही चल दें। मन्त्रियों ने तथा सब महर्षियों ने एक साथ कहा "बाढम्" हम लोगों को यह स्वीकार है। यह सुन राजा हर्षित हुए और मन्त्रियों से बोले कि कल ही यात्रा की तय्यारी कर दी जाय।

दूसरे दिन यात्रा की तय्यारी हो गई। अनेक रथ, हाथी, अश्व तथा पदातियों की चतुरङ्गिणी सेना सुसज्जित हो गई। दो अत्युत्तम यानों पर सब से आगे वशिष्ठ, वामदेव, जाबालि, कश्यप, मार्कण्डेय तथा कात्यायन नाम ऋषिवर्य * और उन के पीछे महाराज तथा सेना-समूह रवाना हो गए। चार दिन मार्ग में ठहरते हुए पांचवें दिन जनकपुर पहुंचे। महाराज जनक ने बड़े प्रेम से महाराज दशरथ तथा उन के साथ आए हुए ब्राह्मण ऋषि महर्ष्यादि महामान्यों का स्वागत किया महर्षि विश्वामित्र राम लक्ष्मण तथा महाराज दशरथ का भी विशेष आनन्दप्रद समागम हुआ। बहुत दिनों से नहीं मिले हुए अनेक ऋषि महर्षियों का भी परस्पर सम्मेलन हुआ और वह दिन और रात बड़े आनन्द के साथ कटी दूसरे दिन महाराज जनक की प्रार्थनानुसार महाराज दशरथ ऋषि महर्षियों, मन्त्रियों तथा वर्ग-बान्धव सहित मिथिलेश के राजभवन में पहुंचे जहां यह निश्चित हुआ कि तीसरे दिन रात्रि समय श्रीराम का विवाह जनकसुता सीता से और लक्ष्मण का विवाह जनकसुता ऊर्मिला से हो। यह निश्चय हो जाने के पश्चात् महर्षि विश्वामित्र ने महर्षि वसिष्ठ से सम्मति कर कहा कि महाराज जनक के छोटे भाई कुशध्वज की भी दो पुत्रियां हैं मैं सम-

---

से कार्य्य नहीं कर सक्ते थे प्रत्युत इस के लिए भी उन्हें मन्त्री-सभा तथा अन्यान्य सम्मति देने वालों की स्वीकृति लेनी पड़ी थी, फिर कैसे कहा जा सक्ता है कि उस समय के राजाओं की शक्ति प्रतिबन्धित नहीं थी ?

* वसिष्ठो वामदेवश्च जाबालिरथ काश्यपः ।
मार्कण्डेयस्तुदीर्घायुर्ऋषिः कात्यायनस्तथा ॥ बाल ६९।४ ॥

सम्भव है कि उक्त नामों के महर्षि भिन्न २ कालों में अनेक हो चुके हैं, जिस प्रकार कि इन दिनों भी एक नाम के अनेक पुरुष एक ही समय वा किञ्चित् २ अन्तरों पर हुआ करते हैं ॥

ञ्ञता हूं कि उन में से एक का वीर भरत के साथ और एक का वीर शत्रुघ्न के साथ विवाह हो जाय तो ईक्ष्वाकुकुल और विदेहकुल भली भांति युक्त हो जांय। महाराज जनक यह सुन बड़े प्रसन्न हुए और बोले कि हमारा कुल धन्य है जिसे इस प्रकार इक्ष्वाकु कुल से सम्बन्धित होने का असवर प्राप्त हुआ। जैसा कुछ महर्षि आज्ञा देते हैं तदनुसार ही चारों कन्याओं का विवाह उक्त दिवस ही हो जायगा। यह सब जब निश्चित हो गया तो महाराज दशरथादि विदा हो अपने वासस्थान (डेरे) को लौटे और दूसरे दिन इस विवाहोत्सव के उपलक्ष में महाराज दशरथ ने सुवर्ण से जिनकी सींग मढ़ी हुई थी, जो बच्चे वाली और दोहनी को अपने दूध से भरने वाली थी ऐसी चार लाख गौ ब्राह्मणों को दान दीं *

पुनः जब कि विवाह का समय आन उपस्थित हुआ श्री रामचन्द्र जी का विवाह श्री जनकसुता सीता के साथ, लक्ष्मण का विवाह महाराज जनकसुता ऊर्मिला के साथ, भरत का विवाह श्री महाराज जनक के अनुज महाराज कुशध्वज की कन्या माण्डवी के साथ, और शत्रुघ्न का विवाह महाराज कुशध्वज की कन्या श्रुतकीर्ति के साथ वैदिकविध्यनुसार हुआ। वैवाहिक क्रिया की समाप्ति के अनन्तर उस रात सब ने विश्राम लिया। प्रातः होते ही महर्षि विश्वामित्र, महाराज दशरथ तथा महाराज जनक से मिल उत्तर पर्वत की ओर रवाना हो गए। महाराज दशरथ ने भी प्रस्थान की इच्छा प्रकट की और महाराज जनक ने बहुत से बहुमूल्य पदार्थ तथा रथ, घोड़ा हाथी आदि भेंट दे कौशलेश को उन के पुत्रों तथा पुत्रवधुओं के साथ विदा किया। महाराज दशरथ अपनी चतुरङ्गिणी सेना के साथ चले, मार्ग में और तो कोई क्लेश न हुआ केवल भृगुवंशी परशुराम जी ने श्री रामचन्द्र जी के बल की परीक्षा करने में लोगों को चिन्तित किया परन्तु परशुराम जी श्री रामचन्द्र जी के बल से विस्मित हो और उन की स्तुति कर महेन्द्र पर्वत की ओर चले गये और महाराज दशरथ आनन्दसहित अयोध्या आन पहुंचे जहां बड़े धूम धाम के साथ नगरनिवासियों ने आप का स्वागत किया। महाराज कुमारों तथा उन की स्त्रियों

---

* सुवर्णशृङ्ग्यः सम्पन्नाः सवत्साः कांस्यदोहनाः। गवां शतसहस्राणि चत्वारि पुरुषर्षभ॥ बाल ७२। २३॥

सोचने की बात है कि जो एक बार चार लाख गौ के सींगों को सोने से मढ़वाकर दान कर सका है वह अन्यान्य समयों पर कितना दान करता होगा और उस के पास सम्पत्ति कितनी होगी एवं भारत के अन्यान्य राजाओं के पास सम्पत्ति कितनी होगी और उस समय का भारत कैसा धन धान्य पूर्ण होगा !

ने महाराणी कौशल्यादि पूज्यों को नमस्कार किया और फिर चारों राजकुमारी पृथक् २ राजभवनों में अपने२पतियों के साथ निवास करने लगीं * थोड़े दिनों पश्चात् भरत तथा शत्रुघ्न अपने मामू युधाजित सहित केकय देश को चले गए और श्री रामचन्द्र जी पिता के परामर्शानुसार पुरवासियों के हितसाधक तथा प्रिय-कार्य्य करने लगे ।

श्री रामचन्द्र जी के गुण—इस समय के श्री रामचन्द्र जी के गुणों की गणना महर्षि वाल्मीकि जिस प्रकार करते हैं उस से तो बोध होता है कि एक महापुरुष में जितने उत्तमोत्तम गुण हो सक्ते हैं वे सब श्री रामचन्द्र जी में आ गए थे । श्री रामचन्द्र जी के गुण बताने वाले प्रायः पचास श्लोकों में से हम केवल दो श्लोकों को यहां उद्धृत करते हैं:—

सर्वविद्याव्रतस्नातो यथावत्साङ्गवेदवित् ।
इष्वस्त्रे च पितुः श्रेष्ठो बभूव भरताग्रजः ॥ अयो० ॥ १ । २० ॥
धर्मकामार्थतत्वज्ञः स्मृतिमान् प्रतिभानवान् ।
लौकिके समयाचारे कृतकल्पो विशारदः ॥ अयो० १ । २२ ॥

सर्व विद्याओं को पढ़कर तथा पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत समाप्त कर विधिवत् स्नातक बन † एवं षडङ्गसहित वेदों के जानने वाले, बाणों के सञ्चालन में अर्थात् धनुर्वेद में अपने पिता से भी अधिक श्रेष्ठ भरत जी के बड़े भाई श्री रामचन्द्रजी हो गये । धर्म, काम और अर्थ के तत्त्व जानने वाले, स्मरणशक्ति वाले तथा प्रतिभा वाले (आवश्यकतानुसार जिन्हें बातें शीघ्र सूझती थीं अथवा जो अन्यों की बातें वा वेदादि के उपदेशों को अति शीघ्र समझ जाते थे), लौकिक धर्म तथा समयोचित आचार के भली भांति जानने वाले तथा तत् सम्बन्धों में कार्य्य करने में समर्थ हुए ।

---

* अभिवाद्याभिवाद्यांश्च सर्वा राजसुतास्तदा ॥ बाल ७७। १३ ॥
रेमिरे मुदिताः सर्वा भर्तृभिर्मुदिता रहः ॥ बाल ॥ ७७ । १४ ॥

यह श्लोक भाग स्पष्ट सिद्ध कर रहें है कि श्री रामादि का विवाह पूर्ण युवावस्था मे हुआ था ॥

† नोटः— "सर्वविद्याव्रतस्नातः" ये शब्द निःसंशय रीति से वर्णन करते हैं कि श्रीरामचन्द्र जी ने विधिवत् ब्रह्मचर्य धारण कर सब विद्याओं एवं साङ्गोपाङ्गवेदों को पढ़कर अपने शिक्षकों की आज्ञा से अपने ब्रह्मचर्य व्रत को समाप्त किया था और समावर्तन संस्कार के अनन्तर विवाहोचित समझे गये थे । अतः यह कथन सर्वथा अप्रामाणिक है कि उन का विवाह सोलहवें वर्ष की अवस्था में हुआ था ।

राजसभा का अधिवेशन तथा युवराज्याभिषेक की तैयारी- ऐसे समय में जब कि प्रजा प्रसन्न थी तथा श्री रामचन्द्र जी अनेक गुणगणालंकृत बन गये थे * और राजा का शरीर दिनों दिन अधिकतर वृद्ध होता जाता था, महाराज दशरथ ने अपने तथा प्रजा के कल्याण के लिये अपने सन्मुख ही श्रीरामचन्द्र जी को युवराज बनाना चाहा। परन्तु नियमानुसार प्रजा की स्वीकृति के विना वह श्री रामचन्द्र जी को युवराज बना नहीं सकते थे अतः उन्होंने अपनी मन्त्रीसभा से सम्मति कर इस विषय के निर्णयार्थ अपनी राजसभा का अधिवेशन बुलाने की आज्ञा दी। तदनुसार निकट तथा दूर २ के नगरों तथा देशों से प्रजा के मुख्य २ पुरुष तथा नृपतिगण अयोध्या में आने लगे जिन का समुचित सन्मान भी होने लगा। एवं जिन २ के आने की आवश्यकता थी वे सब जब आ चुके तो (एक महती सभा एकत्रित हुई) जिस में महाराज दशरथ के आसन ग्रहण करलेने पर अन्यान्य* शेष राजा लग प्रजा से सम्मान ग्रहण करते हुए उस सभा में प्रविष्ट हुए और विविध राजोचित सिंहासनों पर विराजमान हो महाराज दशरथ की ओर दृष्टि डालने लगे।

---

* नोटः—प्राचीन काल में जो राजकुमार उन गुणों को धारण नहीं करलेता था जिन गुणों के कारण प्रजा उसे राज शासनकर्ता पद के योग्य मानती थी, वह राजकुमार राजा नहीं बन सक्ता था। इतना ही नहीं प्रत्युत जो राजकुमार दुर्व्यसनी वा दुष्टाचारी हो जाता था उसे राजपद तो क्या उस के अपराधानुसार कठिन से कठिन दण्ड भी उसे मिलता था वाल्मीकि रामायण अयोध्याकाण्ड छतीसवें सर्ग में लिखा है कि "महाराज दशरथ के पूर्वज महाराज सगर ने अपने पुत्र असमञ्जस को राज से जन्म भर के लिए इस कारण निकाल दिया था कि उस ने अयोधावासियों के कई बालकों को सरयू में फेंक दिया था" परन्तु असमञ्जस के पापी होने से उस का पुत्र भी पापी समझा गया हो ऐसा न हुआ प्रत्युत असमञ्जस का पुत्र अंशुमान् योग्य होने से राज्याधिकारी हुआ जिस के पुत्र सुप्रसिद्ध महाराज दिलीप हुए। "असमञ्जादथांशुमान् दिलीपोंऽशुमतः सुतः॥ बाल ७०।३८॥

* अथोपविष्टे नृपतौ तस्मिन् परपुरार्दने। ततः प्रविविशुः शेषा राजानो लोकसम्मताः॥ अथ राजवितीर्णेषु विविधेष्वासनेषु च। राजानमेवाभिमुखा निषेदुर्नियता नृपाः॥ ततः परिषदं सर्वामामन्त्र्य वसुधाधिपः। हितमुद्धर्षणं चैवमुवाच प्रथितं वचः॥ दुन्दुभिस्वरकल्पेन गम्भीरेणानुनादिना। स्वरेण महता राजा जीमूत इव नादयन्॥ विदितं भवतामेतद्यथा मे राज्यमुत्तमम्। पूर्वकैर्मम राजेन्द्रैः सुतवत् परिपालितम्॥ सोऽहमिक्ष्वाकुभिः सर्वैर्नरेन्द्रैः प्रतिपालितम्। श्रेयसा योक्तुमिच्छामि सुखार्हमखिलं जगत्॥ मयाप्याचरितं पूर्वैः पन्थानमनुगच्छता। प्रजा नित्यमनिद्रेण यथाशक्त्यभिरक्षिताः॥ इदं शरीरं कृत्स्नस्य लोकस्य चरता हितम्। पाण्डुरस्यातपत्रस्य छायायां जरितं मया॥ राज प्रभावजुष्टां च दुर्वहामजितेन्द्रियैः। परिश्रान्तोऽस्मि लोकस्य गुर्वीं धर्मधुरं वहन्॥ सोऽहं विश्राममिच्छामि पुत्रं कृत्वा प्रजाहिते।

तब पृथिवीपति (महाराज दशरथ) ने सारी परिषद् को आमन्त्रित वा सम्बोधित कर हित करने वाली और हर्षप्रद तथा भली भांति श्रवण योग्य अपनी वक्तृता आरम्भ की, दुन्दुभि स्वर की शक्ति की भांति जिस की प्रतिध्वनि बड़ी गम्भीर होती थी, महान् स्वर के साथ मेघ की तरह गरजते हुए महाराज कहने लगे "आप लोगों को यह ज्ञात है कि मेरा राज्य कैसा उत्तम है, मेरे पूर्वज राजेन्द्रों ने पुत्रवत् इसे कैसा परिपालन किया है। जिस राज्य को हम सब इक्ष्वाकुवंशी राजाओं ने भली भांति पालन किया है उस में अब जगत् के सुख के लिये श्रेयस् अर्थात् विशेष कल्याण के साथ जोड़ना चाहता हूं। मैं भी अपने पूर्वजों की भांति आचरण करता हुआ और उन्हीं के मार्गों पर चलता हुआ निरालस्य होकर यथाशक्ति नित्य प्रजा की रक्षा करता रहा। सम्पूर्ण प्रजा का हित करता हुआ श्वेत राजछत्र की छाया के नीचे यह मेरा शरीर वृद्ध हो गया। प्रजा की भारी धर्म्म धुरा जिसे अजितेन्द्रिय पुरुष कठिनता से चला सकते हैं उसे राजप्रभावों के साथ युक्त हो कर चलाता हुआ अब मैं थक गया हूं। सब श्रेष्ठ द्विजगण जो मेरे निकट (इस महती सभा में) उपस्थित हैं उन को (उन की सम्मति को) अनुमित कर, मैं (जिस ने प्रजाहित के लिए पुत्रोत्पन्न कर लिया है विश्राम करना चाहता हूं। मेरा श्रेष्ठपुत्र राम जिस के गुण मेरे सब गुणों के अनुरूप बन गए हैं जो बल में पुरन्दर* के समान

संनिकृष्टानिमान् सर्वाननुमान्य द्विजर्षभान् ॥ अनुजातो हि मां सर्वैर्गुणैः श्रेष्ठो ममात्मजः । पुरंदरसमो वीर्ये रामः परपुरंजयः ॥ तं चन्द्रमिव पुष्येण युक्तं धर्मभृतां वरम् । यौवराज्ये नियोक्तास्मि प्रातः पुरुषपुंगवम् ॥ अनेन श्रेयसा भवद्भिः संयोजयेऽहमिमां महीम् । गतक्लेशो भविष्यामि सुते तस्मिन्निवेश्य वै ॥ यदिदं मेऽनुरूपार्थं मया साधु सुमन्त्रितम् भवन्तो मेऽनुमन्यन्तां कथं वा करवाण्यहम् ॥ यद्यप्येषा मम प्रीतिर्हितमन्यद्विचिन्त्यताम् । अन्या मध्यस्थचिन्ता तु विमर्दाभ्यधिकोदया ॥ इति ब्रुवन्तं मुदिताः प्रत्यनन्दन्नृपा नृपम् । वृष्टिमन्तं महामेघं नर्दन्त इव बर्हिणः ॥ स्निग्धोऽनुनादः संजज्ञे ततो हर्षसमीरितः । जनौघोद्घुष्टसंनादो मेदिनीं कम्पयन्निव ॥ तस्य धर्मार्थविदुषो भावमाज्ञाय सर्वशः । ब्राह्मणा बलमुख्याश्च पौरजानपदैः सह ॥ समेत्य ते मन्त्रयितुं समतागतबुद्धयः । ऊचुश्च मनसा ज्ञात्वा वृद्धं दशरथं नृपम् ॥ इच्छामो हि महाबाहुं रघुवीरं महाबलम् । गजेन महता यान्तं रामं छत्रावृताननम् ॥

(अयोध्या, सर्ग १ श्लोक ४९, ५० तथा सर्ग २, श्लोक १, २, ४, ५' ५, ६, ७, ९' १०, ११, १२, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २०, २२)

* नोटः—पुरन्दर जिन का नाम इन्द्र भी था प्राचीन आर्य्यों के बीच एक महातेजस्वी पुरुष हो चुके हैं। इन्द्र और विरोचनसम्बन्धी वार्त्ता उपनिषत् में भी पाई है। पुरन्दर नाम विष्णु का भी है जो प्राचीन आर्य्यों के बीच एक महातेजस्वी महापराक्रमी पुरुष हो चुके हैं, यह विराट् के पुत्र थे। कई मतवादियों ने अपने ग्रन्थों के भीतर महात्मा विष्णु

और दूसरा पुरंजय * है उस चन्द्रमा की तरह पोषण करने की शक्ति रखने वाले श्रेष्ठधर्म्म की पालना करने वाले श्रेष्ठ पुरुष को कल प्रातःकाल युवराज नियुक्त करना चाहता हूं ताकि ऐसे साक्षात् कल्याण (राम) के साथ मैं इस पृथिवी को संयुक्त कर अर्थात् अपने पुत्र को पृथिवीशासनकार्य्य में प्रविष्ट कर (सर्वथा) क्लेश रहित हो जाऊं। यदि यह मेरा कथन जिसे मैंने श्रेष्ठ समझ तथा भली भांति विचार कर कहा है आप लोगों के अनुरूप आप जैसा चाहते हैं वैसा ही हो तो आप लोग भी (मेरे कथन का) अनुमोदन करें अथवा बतलावें कि हम लोगों को (इस विषय में अन्य) क्या करना चाहिए। (जो विचार मैंने प्रकट किया है) यद्यपि उस के साथ मेरी प्रीति है तथापि (आप लोगों के जानने में इस के अतिरिक्त यदि कोई) अन्य हित (की बात) है तो उसे (आपस में) भली भांति विचारिए। आप मध्यस्थों रागद्वेषों रहित पुरुषों का जो दूसरा विचार होगा वह वादानुवाद द्वारा (निश्चित होने के कारण अवश्य ही) अधिकतर प्रकाशयुक्त होगा"।

(महाराज दशरथ की उक्त) वक्तृता ज्यों ही समाप्त हुई त्योंही वर्षते हुए महामेघ को देख कर जिस प्रकार मुदित मयूर हर्ष प्रकट करते हैं उसी प्रकार (वक्तृत्ववृष्टि से) प्रसन्न नृपति गणों ने हर्षध्वनि की [और महाराज दशरथ को आनन्दित कर दिया] उस हर्षध्वनि के पवन से स्निग्ध प्रतिध्वनि उत्पन्न हुई [परन्तु सभास्थ] जनसमूह की हर्षध्वनि से घोर प्रध्वनि उत्पन्न हुई जिस से [सभा] भूमि हिल सी गई।

इस प्रकार सब जनसमूह ने जब धर्म्मार्थ के ज्ञाता (महाराज दशरथ) के भावों को जान लिया तब (सभास्थ) ब्राह्मणों (धार्म्मिक विद्वानों), [बलमुख्याः] राजाओं, नगरनिवासियों, तथा ग्रामवासियों, ने मिल कर विचार करना आरम्भ किया, एक दूसरे की मनसा जब जान चुके तब एकमत हो लोग वृद्ध महाराज दशरथ से इस प्रकार बोले "महाराज ! हम लोगों की यही इच्छा है कि हम लोग महाबाहु महाबली रघुवीर राम के मुख को [राज] छत्र से आवृत तथा उन्हें महागज पर जाते हुए देखें इत्यादि इत्यादि। इस सभा की आगे की कार्य्यवाही वर्णन करने के पूर्व हम

तथा इन्द्र पर जो दोष लगाए हैं वे सर्वथा काल्पनिक और प्रमूलक हैं। इन्द्र सूर्य्य को भी कहते हैं अतः "पुरन्दरसम" का अर्थ होगा सूर्य्यसमान तेजस्वी।"

* नोटः—"पुरञ्जय" सूर्य्यवंशी महाराज ककुत्स्थ का दूसरा नाम है।

चाहते हैं कि यह दर्शादें कि उस समय के **सम्राट् दशरथ और उन की राज सभा की शक्ति** कैसी थी, उक्त श्लोकों में वर्णित विषय [अर्थात् श्री रामचन्द्र जी को युवराज बनाने के विषय में सम्मति देने के लिये अयोध्या में निकट तथा दूर २ के नगरों तथा देशों से प्रजा के मुख्य २ पुरुष तथा नृपतिगणों का एकत्रित होना, उन की सभा में महाराज दशरथ का व्याख्यान, पुनः प्रजा का परस्पर और निश्चय] गम्भीर आशाओं से पूरित हैं। ऐतिहासिक दृष्टि रखने वाला पुरुष इन श्लोकों से यह परिणाम निकाले विना नहीं रह सक्ता कि:—

(१) महाराज दशरथ अपने समय के सर्वोपरि सम्राट् थे जिन के शासनाधीन निकट तथा दूर २ के अनेक राजे थे।

(२) परन्तु इतने बड़े सम्राट् होकर भी राज प्रबन्ध विषय में मन मानी रीति से कार्य्य नहीं कर सक्ते थे। अपने गुणवान् पुत्र को राज सौंपने की इच्छा किस राजा की नहीं होती होगी! परन्तु स्वेच्छा से महाराज दशरथ श्रीरामचन्द्र जी जैसे सुपूत को भी युवराज नहीं बना सक्ते थे जिस कारण उन्हें इस विषय में सम्मति लेने के लिए अपनी राजधानी में अपनी राजसभा एकत्रित करनी पड़ी, जिस सभा में उन्हों ने अपनी वक्तृता के बीच स्पष्ट कह दिया कि "यदिदं मेऽनुरूपार्थं मया साधु सुमन्त्रितम्। भवन्तो मेऽनुमन्यन्तां कथं वा करवाण्यहम्। यद्यप्येषा मम प्रीतिर्हितमन्यद्विचिन्त्यताम्। अन्यामध्यस्थ चिन्ता तु विमर्दाभ्यधिकोदया" "यदि यह मेरा कथन जिसे मैंने श्रेष्ठ समझ तथा भली भांति विचार कर कहा है आप लोगों के अनुरूप आप जैसा चाहते हैं वैसा ही हो तो आप लोग भी [मेरे कथन का] अनुमोदन करें अथवा बतलावें कि हम लोगों को [इस विषय में अन्य] क्या करना चाहिए। (जो विचार मैंने प्रकट किया है) यद्यपि उस के साथ मेरी प्रीति है तथापि (आप लोगों के जानने में इस के अतिरिक्त यदि कोई) अन्यहित (की बात) है तो उसे (आपस में) भली भांति विचारिए, आप मध्यस्थों राग द्वेष रहित पुरुषों का जो दूसरा विचार होगा वह वादानुवाद द्वारा (निश्चित होने के कारण अवश्य ही) अधिकतर प्रकाश युक्त होगा।"

क्या कोई ऐसा महाराज जिस की शक्तियां नियमानुसार प्रति बन्धित न हों ऐसे वचन बोल सक्ता है? क्या वह अपने बल के अभिमान में अपनी यथेष्ट आज्ञाओं के सन्मुख प्रजा को शीश नवाने के लिए दबाना नहीं चाहेगा?

(३) उक्त श्लोकों से यह भी भाव निकलता है कि सब राज कार्य्यों के संचालन के लिए महाराजा दशरथ की मन्त्री सभा तो नियत थी परन्तु विशेष बड़े २ राजकीय विषयों के निर्णय के लिए एक विशेष राजसभा भी स्थापित थी जिस में राज के मन्त्री लोग तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के प्रतिनिधि थे। इस राज-सभा की विद्यमानता इस से भी सिद्ध होती है कि जब महाराज दशरथ स्वर्गवासी हुए तो राज सभा का शीघ्र ही अधिवेशन हुआ जिस में कई सभासदों ने कहा "इक्ष्वाकूणामिहाद्यैव कश्चिद्राजा विधीयताम्॥ (अयो० ६७।८) आज इसी समय इक्ष्वाकू वंश के किसी पुरुष को राजा बनायें। इन वचनों से तो यह मालूम होता है कि इस सभा की स्वीकृति बिना कोई भी पुरुष राजा नहीं बन सक्ता था। उक्त प्रमाणों के अतिरिक्त (अयो० ४।१६) में श्रीरामचन्द्र जी के प्रति श्रीमहाराज दशरथ का जो यह वचन है "अद्यप्रकृतयः सर्वास्त्वामिच्छन्ति नराधिपम्" अर्थात् इस समय सारी प्रजा (स्वेच्छा से) तुम्हें राजा (बनाना) चाहती है वह भी सिद्ध करता है कि रामायण के समय राजा की नियुक्ति प्रजा की ओर से होती थी।

सम्राट् दशरथ और उन की राजसभा की शक्ति

महाराज दशरथ अपनी वक्तृता के उत्तर में राज सभा की संतोष जनक वार्ता श्रवण कर बड़े ही प्रसन्न हुए और बोले कि मैं धन्य हूं, मुझ पर बड़ा प्रेम है और मेरा प्रभाव अतुल है क्योंकि आप सब लोग एकमत हो मेरे प्रिय ज्येष्ठपुत्र को युवराजपद पर स्थित देखना चाहते हैं। पुनः महाराज ने अपने मन्त्री महर्षि वसिष्ठ तथा वामदेव से कहा कि राम के युवराज्याभिषेक की तय्यारी शीघ्र ही कीजिए जिस में कल अभिषेक हो जावे। महाराज के ये वचन सुन सभा ने पुनः हर्षध्वनि की तदनन्तर इस महासभा की कार्य्यवाही समाप्त होगई और जन समूह सभास्थान से इधर उधर जाने लगे श्रीरामचन्द्र जी को एक मन्त्री द्वारा बुलवा तथा उन्हें युवराज्याभिषेक की सूचना दे तथा उन्हें बिदाकर और पुनः मंत्रियों से अभिषेक की तैयारी विषय में कुछ बातें कर महाराज दशरथ निजभवन में पधारे और पुनः श्रीरामचन्द्र जी को बुलवा कहने लगे हे राम इस समय सब प्रजा स्वभावतः (स्वेच्छा और स्वप्रेम से) तुम्हें राजा बनाना चाहती है अतः युवराजपद के लिए तुम्हारा अभिषेक मैं करना चाहता हूं, हे राघव! जब तक मेरी बुद्धि स्थिर है तब तक अपना अभिषेक करालो क्योंकि लोगों की मति बदलती रहती है* इत्यादि उपदेश जब महाराज दशरथ कर

---

* (देखिए अयो० ४ सर्ग, श्लोक १६ तथा २०) महाराज दशरथ के इन कथनों को ज्ञात कर भी क्या कोई सन्देह कर सक्ता है कि प्राचीन काल में राजा प्रजाओं के द्वारा नहीं चुना

चुके तो उन की आज्ञा पा श्री रामचन्द्र जी अपनी माता कौशल्या के समीप पहुंचे और उन से युवराज्याभिषेकसम्बन्धी सब बातें कह सुनाईं । वहीं सुमित्रा, लक्ष्मण और सीता भी थीं सब इस समाचार को श्रवण कर गद्गद हो गईं । पुनः सीता को साथ ले श्री रामचन्द्र जी स्वस्थान को पहुंचे जहां थोड़ी ही देर में महर्षि वसिष्ठ आए जिन्होंने युवराज्याभिषेक यज्ञ के लिए श्री राम और सीता को व्रत रखने के लिए आदेश किया और शीघ्र ही वहां से विदा हो गये । आदेशाऽनुसार श्री राम सीता सहित विधिवत् स्नान और अग्निहोत्र कर "ध्यायन्नारायणं देवं स्वास्तीर्णे कुश संस्तरे" (अयो० ६।३) कुशासन पर बैठ अपने कल्याण के लिए अन्तर्यामी परमात्मा देव का ध्यान करने लगे ।

आज अयोध्या के आनन्द का ठिकाना नहीं था, नगरनिवासी अपने २ स्थानों को सज धज रहे थे स्थान २ में तूर्यघोष हो रहा था । परन्तु कैकेयी की दासी मंथरा की दशा कुछ और ही थी, उस की उत्कट इच्छा थी कि उस की स्वामिनी कैकेयी के पुत्र भरत राजा बनते अतः श्रीरामाभिषेक का समय निश्चित हो जाने से उस की द्वेषाग्नि भड़क उठी और वह कैकेयी के निकट जा कहने लगी कि तुम निश्चिन्त क्यों बैठी हो, क्या तुम्हें ज्ञात नहीं कि राम युवराज बनेंगे ? उन के युवराज होने से क्या तुम कौशल्या के बराबर प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकोगी ? इत्यादि । यह सब सुन कैकेयी बोली " ऐ दासी ! रामाभिषेक की बात सुनाकर तूने मेरे हर्ष को बढ़ाया अतः ले यह भूषण तुझे पुरस्कार देती हूं ।

राम वा भरते वाहं विशेषं नोपलक्षये ।
तस्मात्तुष्टास्मि यद्राजा रामं राज्येऽभिषेक्ष्यति ॥ अयो० ७।३५ ॥

राम में वा भरत में मैं कोई विशेषता नहीं देखती (दोनों मेरी दृष्टि में समान हैं) अतः राजा जो राम का अभिषेक करना चाहते हैं उस से मैं सन्तुष्ट ही हूं ।"

परन्तु उस निकृष्ट कुटिल दासी ने कैकेयी के सन्मुख ऐसी २ बातें कहीं जिस से कैकेयी का भाव बदल गया और वह भरत को युवराज बनाने के लिए यत्न करने लगी, भूषणादि शरीर से उतार कोपभवन में जा बैठी और मंथरा से कह दिया कि महाराज जब आवें तो उन्हें मेरी दशा की सूचना दे देना । महाराज आए और उन को सूचना मिली और वह कोपभवन में पहुंचे जहां कैकेयी की दुर्दशा देख वि-

---

जाता था ? "लोगों की मति बदलती रहती है" क्या यह वचन यह सिद्ध नहीं करता कि प्राचीन काल के राजे प्रजासमूह की विरुद्ध सम्मति से सदा डरा करते थे ?

षाद करने लगे, उसे बहुत कुछ समझाया और पूछा कि ए देवि! क्यों अपनी ऐसी दशा बनाए हुए है, मांगो क्या मांगती हो जिसे लेकर प्रसन्न हो जाओ इत्यादि। कैकेयी ने कहा कि आप क्या शपथ करते हैं कि जो मैं मांगूगी सो आप देंगे? महाराज ने कहा मैं राम की शपथ करता हूं कि दूंगा तब कैकेयी बोली राजन्! आप को देवासुर-संग्राम की बात याद होगी जहां आप शत्रु (शम्बर) के प्रहारों से अचेत हो गए थे जब कि मैंने आप की रक्षा की थी और आप के प्राणों को बचाया था* आपने उस समय हमें दो वर देने की प्रतिज्ञा की थी जिन्हें अब मैं मांगती हूं (एक) तो यह है कि राम के स्थान में भरत युवराज बनाए जांय और (दूसरा) यह कि चौदह वर्षों तक दण्डकारण्य का आश्रय ले वल्कल वस्त्र तथा मृग-चर्म धारण किए हुए धीर राम तापस बने रहें। कैकेयी के वचन सुनते ही महाराज कुछ काल तो घोर चिन्ता और सन्ताप से व्यग्र हो गए पुनः क्रुद्ध हो कहने लगे "दुष्टे! इस, कुल की संहार करने वाली! राम ने तेरा क्या बिगाड़ा? वह तो सदा तुझे जननी की भांति समझता रहा है यदि कोई अपराध उस का हो तो बता! निश्चय जान कि मेरा प्राण राम बिना कभी भी शरीर में नहीं ठहर सक्ता, मैं तेरे चरणों में शीश रखता हूं कृपाकर, ऐसे अनुचित वर मत मांग"। यह सुन कैकेयी बोली राजन्! वर देने की प्रतिज्ञा कर विलाप करना धार्मिक पुरुष का काम नहीं है यदि आप अपनी प्रतिज्ञा नहीं पाल सक्ते तो न पालिए मैं तो अपनी प्रतिज्ञा पालूंगी। मैं भरत की शपथ खाती हूं कि यदि राम बन न भेजे गए तो मैं विष खाकर मर जाऊंगी।

कैकेयी के घोर शपथों को सुन राम के लिए चिन्तित हो महाराज मूलरहित वृक्ष की भांति पृथिवी पर गिर पड़े पुनः सचेत हो कैकेयी से कहने लगे "........तू मेरे पुत्र को वन में क्यों भेजना चाहती है? यदि मुझ से कोई पूछेगा कि राम को वनवास क्यों देते हो तो मैं क्या उत्तर दूंगा? कौशल्या और सुमित्रा को मैं मुख कैसे दिखाऊंगा, बेचारी सीता की कैसी दुर्दशा होगी? प्रातःकाल ही पुरवासी राजद्वार पर उपस्थित हो जायंगे तो मैं उन से कैसे बोल सकूंगा? क्या? लोग मुझे स्त्री के लिए पुत्र का बेचने वाला नहीं कहेंगे? क्या मेरी दुर्दशा मदिरा पीए हुए ब्राह्मण की

---

* मालूम होता है कि उन दिनों ऐसी वीरा नारियां भी होती थीं जो अपने पति के साथ रणभूमि में भी जा सकती थीं।

तरह नहीं होगी मैं जानता हूं कि राम को वन जाने के लिए मैं ज्योंही कहूंगा त्यों ही वह वन को चला जायगा, फिर मैं मर जाऊंगा तो क्या विधवा हो कर भी तू अपने भरत को राज्य करते देखना चाहती है ? यह सुन कैकेयी बोली " महाराज ? आप को तो लोग सत्यवादी और दृढ व्रत कहते हैं फिर आप वर देने में इस प्रकार आनाकानी (टालम टोल) क्यों कर रहे हैं ?" फिर महाराज ने यह समझा कि इस समय किसी मेरे घोर पाप का उदय हुआ है, मेरे राम को क्लेश होगा, सब राज-परिवार और प्रजा दुःखी होगी, मेरा घोर अपमान होगा, मैं मृत्यु को प्राप्त होऊंगा शोक सागर में डूब गए ।

उधर प्रहर रात के तड़के ही सीता और श्री राम अपने आसनों से उठे और सन्ध्यादि से निवृत्त हो युवराज्याभिषेक सम्बन्धी विविध कार्य्यों के विषय में विचार करने लगे । पुरवासी भी रात्रि के पिछले प्रहर ही उठ सन्ध्यादि से निवृत्त हो अपने २ स्थानों को सुसज्जित करने लगे । थोड़ी ही देर में सब मन्दिर विशेष स्वच्छ और सुन्दर बन गए, उन पर नूतन २ ध्वजाएं लहराने लगीं, स्थान २ के विशेष यज्ञों के धूम से नगर सुगन्धिमय हो गया । राजपथ परिष्कृत, चन्दन मिश्रित जल से सिञ्चित और राज पथों के दोनों पार्श्व पुष्पों से सुसज्जित बन गए । बड़े २ वणिकों तथा अन्यान्य श्रीमानों ने अपने २ स्थानों को विशेषालङ्कृत किया । सब सभा स्थानों में भी ध्वजा पताकादि लग गए* आने वाली रात को दीपमाला से नगर को जगमगाने के लिए "दीप वृक्षांस्तथा चक्रुः" (अयो० ६ । १८) स्थान २ में दीप वृक्ष खड़े किए गए, बच्चे भी श्री रामाभिषेक की बातें करते आनन्दित होने लगे नगर भर में आनन्द वर्धक तूर्य-घोष पुनः होने लगा, आनन्द मय गीतें भी स्थान २ में उठने लगीं.

इतने में सूर्य्योदय भी हो गया और लक्षों नरनारी आनन्द में भरे हुए रामाभिषेक दर्शन की लालसा से राजद्वार की ओर चले । महर्षि वसिष्ठ अपने शिष्यवर्ग सहित राज द्वार पर आन पहुंचे, मन्त्री मण्डल बाहर के नृपतिगण भी आगए, एक बृहत् जनसमूह एकत्रित हो गया तब महर्षि वसिष्ठ ने सुमन्त्र से कहा कि यज्ञारम्भ का समय हो गया है, महाराज को सूचना दो कि

---

* सभासु चैव सर्वासु वृक्षेष्वालक्षितेषु च ।
ध्वजाः समुच्छ्रिताः साधु पताकाश्चाभवंस्तथा ॥ अयो० ६।१३।

मालूम होता है कि महाराज सभा के स्थानातिरिक्त अन्यान्य प्रकार की कई सभाओं के स्थान भी अयोध्या में विद्यमान थे क्योंकि उक्त श्लोक "सभासु" शब्द बहु वचन है ।

हम आगए हैं। सुमन्त्र राजभवन में गये परन्तु महाराज को तेजहीन तथा नयन मूंदे हुए देखा, महाराज के विषय में कैकेयी और सुमन्त्र की बातें होने लगीं जब कि महाराज बोले मेरे प्यारे राम को शीघ्र लावो। सुमन्त आज्ञा पाते ही रथ पर चढ़ * श्री रामभवन की ओर चले और शीघ्र ही वहां उपस्थित हो गए। श्रीराम भी पितृचरणों के दर्शनों के लिए रथ पर सवार हो सुमन्त्र के साथ हो लिए। जिस २ मार्ग से श्री रामचन्द्र जी गए उस उस मार्ग में आप ने हर्षमय प्रजा की भीड़ देखी। प्रजा ने श्री रामचन्द्र जी की जयघोषणा की और श्रीराम ने भी पूज्यों की ओर शीश नवाया। इस प्रकार प्रजा की मङ्गलकामना से प्रमुदित होते हुए श्री रामचन्द्र जी राजद्वार पर पहुंच शीघ्र ही पिता के निकट चले गए। परन्तु वहां क्या देखते हैं कि पिता का मुख सूख रहा है, दीनता उन की मुखश्री को हरण कर रही है, कैकेयी उन के समीप बैठी है। श्री राम ने पिता तथा कैकेयी के चरणों को छूकर प्रणाम किया परन्तु महाराज कुछ न बोले। तब श्री राम भयभीत हुए और कैकेयी से पूछा "माता! पिता जी की ऐसी दशा क्यों है?" कैकेयी ने कहा यदि तुम प्रतिज्ञा करो कि अपने पिता की की हुई प्रतिज्ञा की रक्षा करने पर उद्यत हो तो मैं बता सक्ती हूं कि राजा की इस दशा का क्या कारण है। इन वचनों के सुनते ही श्री रामचन्द्र जी इस कारण व्यथित हो कि कैकेयी ऐसी शङ्का क्यों करती है कि राम पिता की प्रतिज्ञा की रक्षा कदाचित् न कर सके बोल उठे "अहो धिक् † मेरे सम्बन्ध में हे देवि! आप ऐसे बचन नहीं बोल सक्तीं, मैं राजा के वचनानुसार आग में कूद सक्ता हूं' तीक्ष्ण विष को खा सक्ता हूं, समुद्र में कूद सक्ता हूं, जो मेरे गुरु पिता तथा राजा हैं (उन की आज्ञापालन के लिए मैं सदा। उद्यत हूं। हे देवि! उस वचन को सुनाइये जो राजा चाहते हैं। मैं उसे करने को तय्यार हूं, यह ठीक जानिए कि राम जो कुछ कह देता है उस के विपरीत कभी नहीं करता।"

---

* मालूम होता है कि अयोध्या की सड़कें इतनी चौड़ी थीं कि उन पर साधारणतः एक घर से दूसरे घर में जाने के लिए भी आवश्यकतानुसार गाड़ियां चला करती थीं।

† अहो धिङ् नार्हसे देवि ? वक्तुं मामीदृशं वचः। अहं हि वचनाद्राज्ञः पतेयमपि पावके ॥ भक्षयेयं विषंतीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे। नियुक्तो गुरुणा पित्रा नृपेण च हितेन च ॥ तद्ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकांक्षितम्। करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते अयो० सर्ग १८, श्लोक २८, २९, ३० ॥

श्री रामचन्द्र जी की इन प्रतिज्ञाओं को श्रवण कर कैकेयी बोली "बहुत दिन हुए देवासुरसंग्राम में जब कि तुम्हारे पिता घायल हो गए थे मैंने उन के प्राणों की रक्षा की थी जिस से प्रसन्न हो उन्होंने वर देने की प्रतिज्ञा की थी तदनुसार मैंने राजा से मांगा है कि भरत युवराज बनाए जांए और तुम अभी दण्डकारण्य को जाओ, यदि तुम अपने पिता की प्रतिज्ञा को सत्य करना चाहते हो तथा अपने को भी सत्यप्रतिज्ञ सिद्ध करना चाहते हो तो अभिषेक को छोड़ वल्कल (छाल वस्त्र वा चर्म्म ओढ़ जटा धारण कर चौदह वर्षों के लिए दण्डकारण्य का आश्रय लो। इन अप्रिय मित्र का बध-करने वाले तथा मरणसमक्लेश पंहुचाने वाले वचनों को श्रवण कर भी श्रीरामचन्द्र जी का हृदय दुःखित * नहीं हुआ और उन्हों ने कैकेयी के वचन समाप्त होते ही कहदिया "एवमस्तु" मैं राजा को प्रतिज्ञापालनार्थ वैसा ही करूंगा, मेरे हृदय में केवल एक जिज्ञासा रह गई कि पिता पूर्ववत् अपने वचनों से मुझे हर्षित क्यों नहीं करते। कैकेयी बोली राम! जब तक तुम वन को नहीं जाते राजा न स्नान करेंगे और न खाएंगे। इन वचनों को सुन महाराज बोल उठे "धिक्" और मूर्छित हो गिरपड़े। श्रीराम ने उन्हें उठा उन के पलंग पर लेटा दिया और उन के सुधबुध सम्भालने की बाट देखने लगे परन्तु कैकेयी पुनः शीघ्र वन जाने के लिए श्रीराम से कहने लगी, कैकेयी के वचन सुन श्रीराम कहने लगे हे देवि? मैं अर्थ लोलुप नहीं हूं, मैं विमलधर्म्म की मर्य्यादा को समझता हूं, पिता की शुश्रूषा और उन के वचन का पालन महान्धर्म्म है। यद्यपि महाराज ने मुझ से नहीं कहा तथापि आप के वचनानुसार ही मैं बन जाने को तय्यार हूं। ताकि भरत राज की पालना और पिता की शुश्रूषा भली भांति करें ऐसा यत्न आप करते रहना मैं अपनी माता तथा सीता से मिल कर दण्डकारण्य के लिए शीघ्र ही प्रस्थान करता हूं। श्रीराम के इन वचनों को भी महाराज ने सुन लिया और उच्चस्वर से रो उठे परन्तु फिर मूर्छित हो गए और कुछ बोल न सके। तब श्रीराम ने पिता तथा कैकेयी के चरणों को स्पर्श किया और उन की प्रदक्षिणा कर राज द्वार पर चले आये जहां

---

* नोटः—"न विव्यथे रामः" (अयो० १९ । १) आश्चर्य्य है ऐसी धीरता को, कहां युवराज्यपद की प्राप्ति और कहां बनवास की आज्ञा! क्या कोई पुरुष सिवाय उस के जो पृथिवी के राज्य को तृणवत् समझता हो ऐसी आज्ञा श्रवण कर शोकाकुल हुए बिना रह सकता है? संसार के इतिहास में ऐसी धीरता का अन्य उदाहरण हमें तो अभी तक नहीं मिला।

जन समूह एकत्रित था । श्रीराम ने मधुर स्वर से सब को प्रणाम किया, वन जाने की इच्छा रखने वाले पृथ्वी का राज्य छोड़ने वाले (राम) के चित्त में एक जीवनमुक्त पुरुष की भांति कुछ भी विकार नहीं हुआ, उन के बड़े २ श्रीमान् मित्रों ने भी श्रीमान् सत्यवादी राम के मुख पर किसी प्रकार का शोकचिन्ह नहीं देखा * परन्तु राजमन्दिर से तुरत ही घोर रुदन का शब्द निकला जिस ने सब को विस्मित कर दिया और रामवनवास की वार्ता दावानल की भांति नगर में फैलती हुई सब के हृदयों को दग्ध करने लगी ।

श्री राम राजद्वार से सीधे माता कौशल्या के गृह पर पधारे और वनवास विषयक वार्ता कह सुनाई । माता के उमंग भरे हुए हृदय पर इस शोक समाचार ने वज्राघात सा प्रहार किया । बहुविधि विलपती हुई कौशल्या ने पुत्र को समझाया परन्तु मर्यादापुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जी माता से बिदा ही मांगते रहे । लक्ष्मण ने भी बहुत सी नीति की बातें कहीं परन्तु श्रीराम ने अपने धार्म्मिक उत्तरों से उन्हें भी चुप कर दिया । तब माता ने आंसू पोंछ आचमन कर कहा "पुत्र ! सन्मार्ग पर चलने से मैं तुम्हें नहीं रोक सक्ती, जिस धर्म का पालन तुम प्रेम और नियम के साथ करते हो वह धर्म्म तुह्मारी रक्षा करे, परमात्मा तुह्मारी रक्षा करें, विश्वामित्र के दिए अस्त्र शस्त्र तुह्मारी रक्षा करें, तात ! वन को जावो परन्तु ऐसा करना जिस में ठीक समय पर मैं तुह्मारा मुख देख सकूं...." माता के आशीर्वचन ग्रहण कर तथा उन्हें प्रणाम कर श्रीराम सीता भवन की ओर चले । मार्ग में जिस २ ने श्रीराम को देखा उस उस का हृदय अधिकतर शोक से भर गया । अभी तक सीता युवराज्याभिषेक की बातें ही सोच रही थीं जब कि श्रीरामचन्द्र जी आन पहुंचे और सीता को देखते ही "सीता के दुखों की चिन्ता के कारण" उन का हृदय शोकमय हो गया, मुख की छवि बदल गई । सीता शोकाकुल हो पूछने लगी, स्वामिन् ! यह परिवर्तन क्यों ? आज तो आप को आनन्दमय होना चाहिए था, यह शोक क्यों ? तब श्री राम ने वह सब वार्ताएं कह सुनाईं जिस प्रकार उन के पिता नें देवासुरसंग्राम में कैकेयी से प्रतिज्ञा की थी और जिस प्रकार कैकेयी भरत के लिए युवराज्याभिषेक और राम के लिए वनवास की याचना कर चुकी है और फिर निवेदन किया कि हे धर्म्मज्ञे जानकि ! पिता की

---

* नोटः—देखिए अयोध्या, सर्ग १९, श्लोक ३३ तथा ३६ ।

सदा वन्दना किया करना, दुःखिनी मेरी माता तथा अन्य माताओं की शुश्रूषा करते रहना, भरत और शत्रुघ्न मेरे प्राण से भी अधिक प्रिय हैं उन के विपरीत मत चलना, अब मैं तुम से विदा मांग वन को जाता हूं। सीता ने कहा आर्यपुत्र! आप क्या कह रहे हैं, भर्ता के भाग में नारी का भाग भी होता है आप के लिए बनवास मिला है तो मेरे लिए क्यों नहीं? आप वन को चलेंगे तो मैं भी चलूंगी आप के आगे २ कुश कण्टक दूर करती हुई यात्रा करूंगी। बड़े २ राजमहलों में रहने, विमान द्वारा आकाश में घूमने आदि से जो सुख मिलता है उन सब से बढ़कर सुख पतिचरणों के समीप रहने से मिलता है * आप तपस्वी बनकर वन में रहेंगे तो मैं भी नियता ब्रह्मचारिणी † बनकर रहूंगी, वन में आप के साथ अपने पातिव्रतधर्म की पालना करती हुई बड़े सुख के साथ निवास करूंगी, केवल फल मूल खाकर रहूंगी, ‡ आप के साथ रहते हुए किसी प्रकार का दुःख न मानूंगी, और आप के बिना चाहे मुझे कहीं भी रहना पड़े मुझे सुख न होगा अतः हे स्वामिन्! मुझे साथ अवश्य ले चालिए·······"। यह सुन श्री रामचन्द्र जी ने वन के बहुत से दोष वर्णन किए परन्तु सीता वन के भयों को श्रवण कर किञ्चित् भी भयभीत न हुई प्रत्युत कहने लगीं कि मेरे पितादि की आज्ञा है कि मैं सदा आप के साथ रहूं, आप के वियोग में जीना भी मैं अनुचित समझती हूं, मैं आप की भक्त पतिव्रता, आप के सुख में सुख और दुःख में दुःख मानने वाली हूं पुनः आप मुझे क्यों नहीं साथ ले चलते। इस प्रकार बहुविधि प्रार्थना करने पर भी श्री राम जब सीता को ले जाने पर तैयार न हुए तो सीता की आंखों से आंसु की धारा बह निकली। श्री राम ने पुनः समझाया परन्तु सीता के हृदय में धीर न बंधा वह रोरो कर पुनः प्रार्थना करने लगीं और शोकाकुल हो एकाएक श्री राम की गर्दन से लिपट गईं और बेसुध हो गईं तब श्री राम ने समझा कि सीता मेरे पीछे किसी भी प्रकार जी नहीं सकती और कोमल वचनों से सीता की मूर्छा दूर करने लगे। धीरे २ सीता ने सुध सम्भाला और अपने स्वामी के यह वचन सुन कि वह सीता को कभी भी अपने से पृथक् नहीं रखेंगे वह हर्षित हो गईं। श्री राम ने सीता को

---

* प्रासादाग्रे विमानैर्वा वैहायसगतेन वा।
सर्वावस्थागता भर्तुः पादच्छाया विशिष्यते ॥ अयो० २७। ९ ॥

† नियता ब्रह्मचारिणी ॥ अयो० २७। ३ ॥

‡ फलमूलाशना नित्यं भविष्यामि न संशयः ॥ अयो० २७। १६ ॥

कहा कि वन चलने के लिए शीघ्र तय्यार हो जाओ अपने आभूषण और रत्नादि और हमारी सब सम्पत्ति ब्राह्मणों को दान कर दो तथा सेवक सेविकाओं को बांट दो।

पति पत्नी की यह सब बातें लक्ष्मण एक स्थान से श्रवण कर रहे थे। जब सीता को साथ चलने की आज्ञा मिल गई तो लक्ष्मण ने आकर भ्रातृचरणों को प्रणाम किया और कहा भ्राता! आप के सुखों में मैं भाग लेता रहा अब आप के दुःखों में से भाग क्यों न लूं आप वन वन डोलें और मैं राजप्रसाद में रहूं यह नहीं हो सक्ता, मैं अपने धनुष बाणों के साथ आप और महाराणी सीता के जागते और सोते हुए पहरा देना ही अपना परम कर्तव्य समझता हूं, आप को छोड़ मैं अयोध्या में कभी नहीं रह सक्ता। श्री राम ने कहा भ्राता! तुम्हारे भ्रातृस्नेह में किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं परन्तु मेरे तथा सीता के पीछे तुम्हारे विना पिता जी को कौन संतोष देगा? माताओं को कौन धीर बंधाएगा? अतः तुम मेरे साथ चलने के लिए हठ न करो। लक्ष्मण ने कहा, भ्राता! आप के प्रताप से भरत सब माताओं की सेवा करेंगे यदि राजनियम विरुद्ध विश्वासघात करेंगे तो मेरे बाणों से उन के प्राणों की कोई भी रक्षा नहीं कर सकेगा। मेरी यहां आवश्यकता नहीं है। आप की सेवा करता हुआ मैं अपने जीवन को धन्य मानूंगा, तपस्वियों के आहारयोग्य मूल फल तथा हवन के लिए काष्ठादि प्रस्तुत करूंगा * आप और महाराणी सीता जब सो जायंगे तो पहरा दूंगा, आप के पीछे मैं जी नहीं सक्ता, अतः कृपया मुझे साथ चलने की आज्ञा दें। श्री राम को लक्ष्मण का प्रेम देख विवश हो साथ चलने के लिए आज्ञा देनी पड़ी। श्री राम ने कहा कि अब शीघ्र अपने इष्ट मित्रादि से मिल आओ और दोनों वरुण धनुष, दो अभेद्य कवच, अक्षय सायकों वाले दो तूण तथा दोनों दिव्य खड्ग शीघ्र लाओ। लक्ष्मण ने आज्ञानुसार सब कार्य कर सब अस्त्र शस्त्रों सहित श्री राम के समीप शीघ्र ही पहुंच गए। तब श्री राम ने लक्ष्मण की सहायता से अपने दिव्य

---

* आहरिष्यामि ते नित्यं मूलानि च फलानि च।
वन्यानि च तथान्यानि स्वाहार्हाणि तपस्विनाम्॥ अयो० ३१। २६॥

इस श्लोक से स्पष्ट सिद्ध होता है कि इन लोगों ने वन में मांस नहीं खाया।

आभूषण रत्नादि, अश्व रथादि ब्राह्मणों को दान कर दिया और अपने सब सेवकों को भी बहुतसा धन दिया । तब अपने अस्त्र शस्त्रों को धारण कर श्री राम और लक्ष्मण सीता सहित वन जाने के पूर्व अपने पिता और माताओं को प्रणाम करने चले । जिस २ मार्ग से ये गये प्रजा ने हाहाकार मचा दिया । राजद्वार पर पहुंच कर श्री राम ने सुमन्त से कहा कि पिता जी को सूचना दीजिये कि राम दर्शनों के लिए खड़ा है । सुमन्त महाराज के समीप पहुंचे तो क्या देखते हैं कि महाराज रुदन कर रहे हैं और बे सुध पड़े हुए हैं परन्तु सुमन्त हाथ जोड़ कहने लगे कि महाराज ! श्री राम ने अपनी सम्पत्ति ब्राह्मणों तथा सेवकों को दे दी, अपने इष्ट मित्रों से वह विदाई ले चुके, अब वह आप के दर्शन कर वन जाने को तय्यार हैं । महाराज ने सुध संभाल सुमन्त से कहा जाओ मेरी राणियों को बुला लाओ । सुमन्त ने महाराणियों को महाराज की आज्ञा सुनाई और राणियां अपनी सहचरीगण सहित महाराज के समीप खड़ी हो गईं । महाराज ने सब को देख लिया तब सुमन्त को आज्ञा दी कि राम को बुलाओ । सुमन्त ने महाराज की आज्ञा राम को सुनाई और राम लक्ष्मण तथा सीता सहित महाराज के दर्शनों को चले । श्री राम ने प्रणाम करने के लिए ज्यों ही हाथों को जोड़ा त्यों ही महाराज अपने आसन से उठ पुत्र को छाती से लगाने के लिए दौड़े परन्तु बीच में ही गिर पड़े और बेसुध हो गए । यह देख देवियां घोर रुदन करने लगीं, श्री राम तथा लक्ष्मण भी रोने लगे और पिता के अर्धजीवी शरीर को सीता की सहायता से उठा एक पलंग पर लेटा दिया । महाराज को जब कुछ चेत हुआ तो श्री राम हाथ जोड़ इस प्रकार निवेदन करने लगे " महाराज ! आप हम सब के अर्धाश्वर हैं, हम दण्डकारण्य को जाने के लिए तय्यार हैं अब एक वार हम सब की ओर कृपादृष्टि करें कृपया लक्ष्मण और सीता को भी मेरे साथ जाने की आज्ञा दें, मैंने सीता और लक्ष्मण को बहुत समझाया परन्तु ये साथ छोड़ना नहीं चाहते अतः पूज्य पिता जी शोक छोड़ हम तीनों को विदा कीजिए जिस प्रकार प्रजापति ने अपने पुत्रों को विदा किया था । महाराज ने यह सब सुन अपने पुत्र पर दृष्टि डाली और बोले "हे राम ! मैं कैकयी को वरदान दे कर मोहित (निरुत्तर, शोकमय, परवश अतः राज करने के सर्वथा अयोग्य) हूं तुम मेरा निग्रह कर (मुझे मार वा बन्दी बना) अयोध्या का राज्य करो " । यह सुन हाथ जोड़ श्री राम बोले " महाराज ! चिरकाल तक आप अयोध्या का राज्य करें, मुझे राज्य करने की लालसा नहीं है,

मैं वन में प्रसन्नता पूर्वक रहूंगा, ज्यों ही चौदह वर्ष समाप्त हो जायंगे त्यों ही आकर आप के चरणों को संस्पर्श करूंगा........"

कैकेयी के मन में अब तक भी कुछ दया नहीं आई और वह अपनी मांग पर तुली रही तब सत्य के बन्धन में बंधे हुए रुदन करते हुए महाराज कहने लगे "हे राम ! जब कि तुम्हारा मन सत्य और धर्म्म के साथ ऐसा बंधा हुआ है कि तुम उसे सर्वथा पालन करने के लिए उद्यत हो तो हे तात ! जावो ! तुम्हारा कल्याण हो, तुम्हारी वृद्धि हो, तुम्हारा कुशल पूर्वक पुनरागमन हो, मैं जानता हूं कि तुम केवल मुझे सत्यप्रतिज्ञ सिद्ध करने के लिए इतना दारुण क्लेश उठाते हो परन्तु पुत्र सत्य जानो मैं तुम्हारे लिए बड़ा दुःखी हूं" यह सुन श्री रामचन्द्र जी बोले महाराज "यह राज, धन, धान्य तथा अन्य जो कुछ आप मुझे देने के लिए उद्यत थे वह सब भरत को देवें, जिस प्रकार देवासुरसंग्राम में दिया हुआ आप का वचन अटल है उसी प्रकार वनवास की मेरी प्रतिज्ञा भी अटल हैं । न मैं राज चाहता हूं न कोई अन्य सुख मैं केवल आप को सत्यप्रतिज्ञ सिद्ध करना चाहता हूं । ...."

श्री राम के वचन ज्यों ही समाप्त हुए त्यों ही मन्त्री सुमन्त्र क्रुद्ध हो कैकेयी से कहने लगे "जिस तू ने अपने पति की मर्य्यादा का कुछ भी ध्यान न रक्खा जो तू अपने कार्य्यों से अपने पति तथा इस कुल का नाश करना चाहती है उस के साथ अब हम लोगों का क्या काम है । तू भरतसहित राज कर हम सब अयोध्या-वासी रामसहित वन जाते हैं राम तेरे अयोध्या के नहीं प्रत्युत अपने नूतन राज्य के राजा बनेंगे इत्यादि...." परन्तु कैकेयी पर इन कथनों का कुछ भी प्रभाव न हुआ । तब महाराज दशरथ बोले सुमन्त्र ! चतुरांगिणी सेना तय्यार करो, पुष्कल धन धान्य राम के साथ करदो, ताकि वन में वह भली भांति यज्ञ कर सके, बहुत से नगरनिवासि-यों को भी उस के साथ भेजो, और अयोध्या में भरत को राज्य करने दो। यह सुन कैकेयी डरी और कुछ बोली जिस का उत्तर महाराज ने दिया। पुनः कैकेयी बोली जिस का उत्तर मन्त्री सिद्धार्थ ने दिया ।

श्री राम बोले "पूज्य पिता ! जब कि हमें सब भोगों को छोड़ वन में तापस का जीवन व्यतीत करना है तो धन धान्य और जन-समूह से हमें क्या करना है, हमें तो वल्कल वस्त्र और फल मूल खोदने के लिए खनित्री चाहिये........" यह

सुनते ही कैकेयी बल्कल वस्त्र ले आई और बोली लो पहिनो । श्री राम ने वल्कल वस्त्र धारण कर लिया और अपने वस्त्र उतार दिये, लक्ष्मण ने भी वैसा ही किया परन्तु सीता वल्कल वस्त्र ले सोचने लगी कैसे पहनूं अपनी गर्दन पर उसे डाला भी परन्तु पहन न सकी तब पूछने लगी कि वनवासी मुनि लोग बल्कल वस्त्र कैसे पहनते हैं तब राम सीता के कौशेय वस्त्र के ऊपर ही उस बल्कलवस्त्र को पहनाने लगे । यह देख सब देवियां रो उठीं और सारी प्रजा चिल्ला उठी "धिक्त्वां दशरथम्" धिक्कार है तुझे ए दशरथ ! महर्षि वासिष्ठ बोल उठे क्योंकि कैकेयी ने महाराज को धोखा दिया है इस कारण वह प्रामाणिक नहीं रही. वह सीता को किसी भी प्रकार वनवास नहीं दे सक्ती राम के स्थान में सीता राजसिंहासन पर बैठ पृथिवी का शासन कर सक्ती है । यदि वैदेही को राज करना स्वीकार न हो और वह अपने स्वामी के साथ वन को ही जाना उत्तम समझे तो हम लोग सब पुरवासी सीता राम के पीछे २ वन को जा सक्ते हैं । देवियों के रुदन और प्रजा के अपमान ने महाराज दशरथ के हृदय को घोर दुःखित किया तथापि वह कैकेयी से बोले, "तूने मुझ से सीता के विषय में तो नहीं कहा था सीता तपस्विनी का वेष धारण नहीं कर सक्ती...." पुनः श्री राम ने निवेदन किया "पिता ! मेरी वृद्धा माता कौशल्या यहां खड़ी है, उस का हृदय महान् दुःख से भर रहा है उस पर पूर्ण दया रखना ताकि हमारे वियोग के दुःख से वह अपने प्राण न छोड़ दे...." यह सुन महाराज दशरथ पुनः बेसुध हो गए परन्तु फिर चेतन हो और आंखों में आंसू भर सुमन्त्र से बोले जल्दी द्रुतगामी घोड़ों का रथ जोतलाओ ताकि राम के पिता माता मिलकर अपने पुत्र को तप करने के लिए शीघ्र बन में भेज सकें पुनः महाराज ने अपने कोषाध्यक्ष से कहा जल्दी उत्तमोत्तम रत्नों तथा वस्त्रों को लाकर सीता को दो। सुमन्त्र ने रथ द्वार पर खड़ा कर महाराज से निवेदन किया कि रथ तय्यार है, कोषाध्यक्ष ने बहुमूल्य रत्नजटित आभूषणों की ढेरी और उत्तमोत्तम वस्त्र सीता के सन्मुख रख दिये । श्वशुर की आज्ञानुसार कुछ वस्त्रों को सीता ने पहना और रत्नमय आभूषणों को धारण कर लिया । तब कौशल्या सीता को अपने अङ्क में ले तथा सीता के शीश को चुम्बन कर पातिव्रत धर्म का उपदेश करने लगी । सीता ने सास की सब बातें सुन कहा "माता मैं सब प्रकार पातिव्रतधर्म की पालना करूंगी......." तब कौशल्या के नेत्रों में आंसू भर आया । पुनः श्री राम अपनी माता के निकट आए और हाथ जोड़ कहने लगे माता ! अब शोक दूर कर, पिता की ओर देख, उन

यह चित्र उस समय का है जब कि वनयात्रा के लिए उद्यत श्रीराम, लक्ष्मण तथा जानकी सहित अपने मूर्च्छित पिता को अन्तिम बार प्रणाम करने आए हैं। खड़ी हुई श्री जानकी वल्कल वस्त्र हाथ में लिए हुए पूछ रही हैं कि तपस्वी वनवासी वल्कल वस्त्र कैसे पहनते हैं। देखिए पृष्ठ ३१०-३११

सद्धर्म-प्रचारक यन्त्रालय गुरुकुल कांगड़ी में अनन्तराम शर्मा द्वारा मुद्रित।

की कैसी दशा हो रही है उन्हें संभाल, मैं चौदह वर्ष व्यतीत कर जब तेरे चरणों का पुनः दर्शन करूंगा तो ये चौदह वर्ष स्वप्न की भांति बीते हुए तुझे ज्ञात होंगे। पुनः श्री राम ने अपनी अन्य माताओं को प्रणाम किया और बोले यदि मेरे मुख से कोई कटु शब्द कभी निकला हो तो उस के लिए क्षमा करें अब मैं आप सब से विदा मांगता हूं। श्री रामचन्द्र के ये विनीत वचन श्रवण कर राजमहल की सब देवियां रो उठीं। पुनः श्री राम ने सीता और लक्ष्मण सहित पितृचरणों को प्रणाम किया और पिता से बन जाने की आज्ञा ले पिता की प्रदक्षिणा की पुनः श्री राम ने मातृचरणों को प्रणाम किया और लक्ष्मण ने कौशल्या को प्रणाम कर अपनी माता को प्रणाम करने लगे। तब सुमित्रा पुत्र का शिर चूम आंखों में आंसू भर कहने लगी "देखना पुत्र! राम सीता की भली भांति रक्षा करना, राम को पितृवत् और सीता को मातृवत् समझते हुए उन की सेवा में सदा तत्पर रहना, बन को अयोध्या समझते हुए सुखपूर्वक समय व्यतीत करना, जाओ पुत्र तुम्हारी यात्रा सफल हो हर्षपूर्वक तुम्हारा अयोध्या में पुनरागमन हो……"।

इस प्रकार सुमित्रा बोल ही रही थीं जब कि सुमन्त्र ने श्रीराम की सेवा में उपस्थित हो कहा, महाप्रभु! रथ तय्यार है चलिए चढ़िए। रथ पर सीता को चढ़ा तथा सीता को जो वस्त्र तथा रत्नादि मिले थे उन्हें और अपने अस्त्र शस्त्रों को भी रथ पर रख श्रीराम और लक्ष्मण उस पर बैठगए और सुमन्त्र ने रथ हांक दिया।

रथ के हंकते ही अयोध्या में हाहाकार मच गया सब नर नारी फूट २ कर रोने लगे। रथ के पीछे २ बहुत से मनुष्य दौड़े और रथ के आगे भी बहुत से खड़े हो गए और कहने लगे सुमन्त्र! घोड़ों को किञ्चित् धीरे २ चलावो बहुत दिनों के बाद राम का पुनः दर्शन होगा इस समय तो नयन भर देख लेने दो, तब रथ धीरे धीरे चलने लगा। महाराज दशरथ "मैं अपने पुत्र को देखूंगा" यह कहते हुए और रोते हुए राजद्वार से निकले और सब नारियां भी रोती हुई साथ ही निकलीं। यह देख श्रीराम ने सुमन्त्र से कहा रथ वेग से चलावो परन्तु पुरवासियों ने कहा सुमन्त्र ठहरो २! परंतु सुमन्त्र ने रथ हांक ही दिया और पुरवासी रथ के पीछे २ दौड़े। तब पुरवासी राम के गुणकीर्तन करते हुए अधिक २ रोने लगे और कई लोगों ने कौशल्या तथा महाराज दशरथ से कहा कि अब राम के पीछे २ जाना ठीक नहीं जब तक रथचक्र से उड़ती हुई धूली दिखाई देती रही महाराज और कौशल्या उस

धूली की ही ओर दृष्टि डाले रहे परन्तु जब धूली बिल्कुल न दीखने लगी तब महाराज रुदन करते हुए पृथिवी पर गिर पड़े, महाराणी कौशल्या दाहिनी ओर से और कैकेयी बांई ओर से हाथ लगाकर महाराज के शरीर को उठाने लगीं महाराज को जब सुध हुई और कैकेयी को अपना वाम अङ्ग स्पर्श किए हुए देखा तो बोले "कैकेयी ! मेरे अङ्गों को अब तू न छू, मैं तुझे अब देखना नहीं चाहता, अब तू मेरी भार्या नहीं रही, क्योंकि तू स्वार्थिनी और धर्म रहित है इस कारण तुझे परित्याग करता हूं" पुनः कौशल्या ने धूल भरे हुए महाराज के शरीर को उठाया और सहारा देती हुई शोकमय हृदय के साथ उन्हें राज भवन को ले आई ।

उधर श्रीराम बहुत यत्न करते थे कि प्रजा को पीछे लौटाएं और आप शीघ्र आगे निकल जांय परन्तु प्रजा उन का साथ नहीं छोड़ती थी । चलते २ सन्ध्या हो गई और तमसा नदी भी मार्ग में आगई इस कारण विवश हो राम को सीता लक्ष्मण सहित रथ से उतरना पड़ा । सुमन्त्र ने घोड़ों को रथ से खोल दिया और प्रजा समूह भी वहीं ठहर गया । सब ने सन्ध्योपासन किया और निराहार सीता राम के पत्तों पर शयन कर लेने के पश्चात् प्रजागण भी सो गए । रात्रि समय जब कि प्रजा सोई ही थी श्रीराम, लक्ष्मण सीता और सुमन्त सहित रथ पर सवार हो चुपचाप निकल भागे प्रजा जब जागी और राम को नहीं पाया तो उन्हें खोजने लगी । जब वह नहीं मिले तब हा राम ! हा राम !! कह रुदन करने लगी और शोकमय हृदय के साथ अयोध्या लौटी । श्रीराम रथ पर ही तमसा पार हो गङ्गा के किनारे पहुंचे जहां गूह निषाद ने उन का आतिथ्यसत्कार किया और श्रीराम के समीप नाना प्रकार के भोजनों को ला रक्खा तब श्रीराम ने कहा हे गूह !

कुशचीराजिनधरं फलमूलाशनं च माम् ।
विद्धि प्रणिहितं धर्मे तापसं वनगोचरम् ॥ अयो० ५०।४० ॥

कुश वल्कल वस्त्र तथा अजिन ही अब मैं धारण करता हूं, फल मूल ही मेरे लिये भोज्य हैं* तुम्हें ज्ञात हो कि मैं (पितृ-आज्ञा पालनरूप) धर्म्म में तत्पर

---

* "फलमूलाशनं च माम्" अर्थात् फल मूल ही मेरा भोजन है । इन वचनों को पढ़कर कौन कह सकता है कि धर्म्ममूर्ति श्री रामचन्द्र जी ने कभी भी मांस खाया होगा । रामायण में जितने वचन श्री राम के सम्बन्ध में पशु मारने तथा मांस खाने के विषय में हैं वे सब प्रक्षिप्त और वाममार्गियों के मिलाए हुए हैं ।

यह चित्र उस समय का है जब कि श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण तथा जानकी को रथ पर चढ़ा सुमन्त अयोध्या से वन को लिए जाते थे। अयोध्या की रोती हुई प्रजा रथ के पीछे दौड़ती और कहती है कि सुमन्त रथ का खड़ा करो। देखिए पृष्ठ ३११–३१२
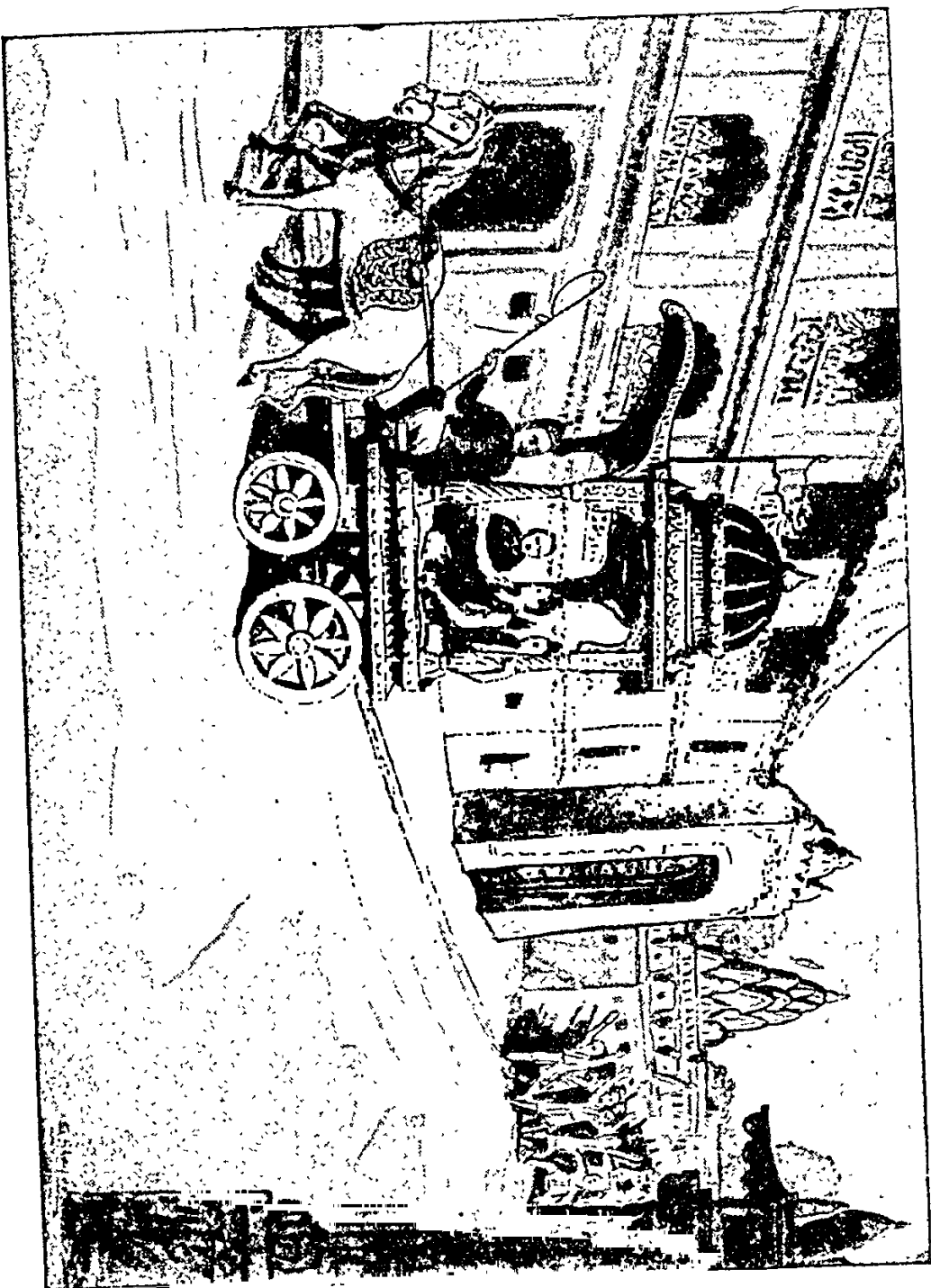
सद्धर्म्म-प्रचारक यन्त्रालय गुरुकुल कांगड़ी में अनन्तराम शर्म्मा द्वारा मुद्रित।

तपस्वी, वनवासी हूं (तपस्वियों की भांति रहना चाहता हूं) अतः मेरे रथ के घोड़ों को खिलवा पिलवा कर ठकि कर दो और विश्राम करो। आज्ञा पाते ही गूह ने वैसा ही किया और श्रीरामादि विश्राम करने लगे।

प्रातः होते ही श्रीराम ने न्यग्रोध (वट) का दूध मंगा अपने शीश के बालों में लगा लिया जिस से जटाएं बन गईं, लक्ष्मण ने भी वैसा ही किया और साथ चलने के लिए बड़ी बिनती करने वाले आतिदुःखी सुमन्त्र को रथसहित बिदा कर श्री राम गूह की नौका पर सवार हो गंगा पार आगए और वन वन विचरने लगे।

उधर सुमन्त्र ने जाकर जटाजूटधारी दोनों भाइयों और सीता के वन में चले जाने का समाचार महाराज दशरथ को सुनाया और वह हा राम! हा राघव! हा पितृप्रिय! इत्यादि कहते और रोते हुए इस संसार से पयान कर गए जिस कारण पूर्व से शोक संकुल महाराज की राणियां तथा पुरवासी और भी शोकाकुल हो गए राजमंत्रियों ने महाराज का शव (लाश) तेल के भीतर रख राजसभा बुलाई। राजसभा में प्रधानमन्त्री महर्षि वसिष्ठ को सम्बोधित कर सभासदों ने वक्तृताएं दीं जिन सब का सारांश यही था कि "इक्ष्वाकूणामिहाद्यैव कश्चिद्राजा विधीयताम्"* अराजकं हि नो राष्ट्रं विनाशं समवाप्नुयात् (अयो० ६७।८) आज इसी समय इक्ष्वाकूवंश के किसी पुरुष को राजा बनाएं ताकि राजाविहीन होने से हम लोगों का राज्य नाश को प्राप्त न हो जो भूमि राजा से हीन होती है वहां कृषक नियम पूर्वक खेती नहीं करते, लोग सभाएं नहीं कराते, रम्य उद्यानों में वा पुण्य गृहों में लोग एकत्रित नहीं होते, ब्राह्मण बड़े २ यज्ञ नहीं करा सक्ते, उत्सव और समाज वृद्धि को प्राप्त नहीं होते व्यवहारी लोगों की अर्थसिद्धि नहीं होती, कथा (अर्थात् इतिहासों) के द्वारा कथा शालि लोग कथा प्रिय लोगों के मनों को प्रसन्न नहीं कर पाते, उद्यानों में सुवर्णालङ्कारों से भूषित कुमारियां सन्ध्या समय खेलने नहीं जातीं, पुरुष अपनी पत्नी के साथ द्रुतगामी रथों पर बनों में घूमने नहीं जाते, न धनी वैश्य लोग धन धान्य से पूरित अपने गृह द्वारों को खोले हुए निश्चिन्त शयन करते हैं, न बड़े २ दांतों

---

* "कश्चिद्राजाविधीयताम्" अर्थात् किसी को राजा बनायें यह शब्द स्पष्ट सिद्ध कर रहे कि रामायण के समय में भी राजा बनाने का वास्तविक अधिकार ब्राह्मणों, राजगुरुओं तथा अन्य द्विजातियों की एक विशेष सभा को ही था।

और घण्टों वाले मस्त हाथी राजमार्ग से चलते हैं, न धनुर्विद्या के अभ्यासियों की बाणों को विचक्षणता के साथ चलाते समय (हर्षदायिनी) करताल ध्वनि सुनने में आती, न दूर २ देशों में बहुतसी वाणिज्य की वस्तुओं को लेकर क्षेम सहित वणिक् लोग जा सक्ते, परमात्मा की उपासना में लगे हुए मुनि लोग यथारुचि विचरते हुए जहां कहीं वह सन्ध्या के समय विश्राम करना चाहें वहां नहीं कर सक्ते, किसी के भी योग क्षेम का ठिकाना नहीं रहना, और न सेना अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर सक्ती न हृष्ट पुष्ट घोड़ों और रथों पर निःशङ्क हो लोग चलते फिरते, न शास्त्र विशारद लोग वनों और उपवनों में सम्वाद के लिए शान्ति सहित बैठ सक्ते। जैसे जल बिना नदी, जैसे तृण बिना वन, जैसे गोपाल विना गो-समूह होता है एवं राजा के बिना राष्ट्र हो जाता है। राजा विहीन देश में सम्पत्ति पर अधिकार किसी का नहीं रहता, जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को खाजाती है (उसी प्रकार उद्दण्ड लोग निर्बलों को नष्ट किया करते हैं), राजा ही सत्य और धर्म्म का प्रवर्तक है, राजा ही माता, पिता और मनुष्यों का हितकारी है, अतः हे महर्षे राजा बिना अरण्यवत् हुए राष्ट्र के लिए किसी इक्ष्वाकु वंशज का अभिषेक कीजिए (वाल्मीकि रामायण, अयोध्या काण्ड, सर्ग ६७ के श्लोक ८, १२, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २०, २१, २२, २३, २४, २५, २६, २९, ३१, ३४, ३८ के भागों का आशय) भिन्न २ वक्तृताओं को श्रवण कर महर्षि वसिष्ठ ने प्रस्ताव किया कि इस समय केवल भरत शत्रुघ्न को बोलाने के लिए राजदूत भेजना चाहिए * सब सभासदों ने इस प्रस्ताव को स्वीकार किया, दूत भेजे गए और वे भरत शत्रुघ्न से महाराज दशरथ की मृत्यु का समाचार न कह उन्हें अपने साथ लाए। भरत अपनी माता कैकेयी से मिले और उस के पूछने पर केकय नरेशादि के समाचार सुना, पूछने लगे कि पिता जी कहां हैं? कैकेयी ने उत्तर दिया कि महात्मा तेजस्वी तुम्हारे पिता परलोक वासी

---

* विचारने की बात है कि महाराज दशरथ के मरण दिन से लेकर उस समय तक जब तक कि भरत चित्रकूट से श्रीराम की पादुका लेकर नन्दीग्राम को नहीं लौटे यह निश्चित नहीं हो सका था कि अयोध्या का राजा कब कौन बनेगा तौ भी अयोध्या के विस्तृत राज्य में अथवा तदाधीन राज्यों में किसी प्रकार का राजविद्रोह नहीं हुआ क्यों? इस का एक मात्र कारण यही ज्ञात होता है कि चिरकाल से इक्ष्वाकु वंशजों के सुशासन के दृढ़ स्थापित रहने के कारण प्रजा अपने राजा को वास्तव में पितृवत् मानती थी, उन के हृदय से विद्रोह का भाव ही विलुप्त हो गया था।

होगए हैं। यह सुनते ही भरत शोकाकुल हो पृथिवी पर गिर पड़े और नाना भांति विलाप करने लगे। कैकेयी ने उन्हें बहुत समझाया और जब वह कुछ शान्त हुए तो कहने लगे कि पितातुल्य मेरे बड़े भाई राम जिन का मैं दास हूं उन्हें बोलावो ताकि उन के चरणों को छू मैं कुछ शान्ति प्राप्त करूं। तब कैकेयी ने कहा कि राम को तुम्हारे पिता ने दण्डक बन का वास दिया है और उन के साथ ही सीता और लक्ष्मण गए हैं। तब भरत भय भीत हो पूछने लगेः—

> कच्चिन्न ब्राह्मणधनं हृतं रामेण कस्य चित्।
> कच्चिन्नाढ्यो दरिद्रो वा तेनापापो विहिंसितः॥ अ० ७२। ४४॥
>
> कच्चिन्न परदारान् वा राजपुत्रोऽभिमन्यते।
> कस्मात् स दण्डकारण्ये भ्रूणहेव विवासितः॥ अ० ७२। ४५॥

क्या राम ने किसी ब्राह्मण का धन हरण कर लिया था? अथवा किसी निरपराध धनाढ्य वा दरिद्री को मार डाला था? अथवा किसी पर नारी को राजपुत्र ने अपनी स्त्री बनाली थी? किस कारण भ्रूणहत्यारे की भांति वह दण्डकारण्य को निकाले गए; *

इन प्रश्नों को श्रवण कर कैकेयी अब बातों को अधिक छिपा न सकी और बोली कि हे पुत्र मैंने बड़े यत्न से तुम्हारे लिए राज और राम के लिए वनवास महाराज से प्राप्त किया है।

माता के वचन सुनते ही भरत शोकाकुल हो पृथिवी पर गिर पडे और उच्चस्वर से विलाप करने लगे, लोग भरत की ओर दौड़े भरत के रुदन के शब्द कौशल्याभवन में भी पहुंचे और वह मैले वस्त्र धारण की हुई अङ्ग की सुध बिसारी हुई, रोती विलपती भरत की ओर दौड़ी, भरत और शत्रुघ्न भी उन की ओर दौड़, कौशल्या पुत्रों को अङ्क में ले रुदन करने लगी। रोने के पश्चात् जब कुछ शोक घटा तो कौशल्या बोली "भरत अब यह सारा राज्य तुह्मारा है जिस की तुम्हें इतनी कामना थी तुह्मारा अब कोई शत्रु यहां नहीं है" भरत के हृदय को इन वचनों से बड़ा कष्ट पहुंचा परन्तु वह धीर धारण कर कहने लगे माता! जब कि मैं इन बातों से सर्वथा

* भरतजी के इन प्रश्नों से तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि रामायण के समय न्याय सर्वथा पक्षपात रहित था, अन्यों को कौन कहे राजकुमार भी अपराध करने पर दण्डों से नहीं बच सक्ता था।

अनभिज्ञ था तो मैं दोषी कैसे ठहर सक्ता हूं ? इतना कह भरत शपथ खाने लगे * और अनेक शपथ खाकर दुःख से कातर हो पृथिवी पर गिर पड़े। तब माहाराणी कौशल्या भरत के दुःख से दुःखी हो कहने लगीं "पुत्र ! मैंने देख लिया तू धर्म्म से विचलित होने वाला नहीं है वत्स ! तू सत्य प्रतिज्ञ है...." और भरत को छाती से लगा पुनः रुदन करने लगीं, भरत भी रोते रहे, इस प्रकार पुत्र और माता के रोते विलपते रात्रि समाप्त होगई।

प्रातः होते ही महर्षि वसिष्ठ के आदेशानुसार महाराज दशरथ के शव की सरयू के किनारे वेदमन्त्रों द्वारा सुगन्धित द्रव्यों तथा घृताहुति से अन्त्येष्टि क्रिया हुई और रथी के साथ गए हुए सब शोक करने वाले नगर में वापस आए। अन्त्येष्टि क्रिया के कई दिन बाद जब कि भरत शत्रुघ्न से श्रीराम वनवास की बातें कर रहे थे। दासी मंथरा शृङ्गार किए हुए उस ओर आन पहुंची। शत्रुघ्न दौड़े और उस का झोंटा पकड़ कर घसीटने लगे और वह चिल्लाने लगी। भरत शत्रुघ्न को [विशेष] क्रुद्ध देख [उन के निकट जा] कहने लगे सब भूतों की नारी अवध्य है, क्षमा करो यदि श्री रामचन्द्र जी इस कुब्जा के वध का हाल जानलेंगे तो निश्चय है कि वह धर्मात्मा तुम से तथा मुझ से नहीं बोलेंगे† यह सुन शत्रुघ्न ने कुब्जा को छोड़ दिया।

चौदह वें दिन जब कि सूर्य्योदय हुआ राजसभा बैठी और लोग भरत से बोले "त्वमद्य भव नो राजा राजपुत्र महायशः" हे महायश राजपुत्र आप हम लोगों के राजा हूजिए। भरत ने उत्तर दिया, आप जैसे कुशल जनों को ऐसे वचन नहीं कहना चाहिए। हमारे ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामचन्द्र जी राजा होंगे................ चतुरङ्गिणी सेना तय्यार होनी चाहिए, राज्याभिषेक की सब सामग्री रथों पर ले चलना चाहिए और वन में ही श्रीरामचन्द्र जी का राज्याभिषेक करना चाहिए ...."यह सुन "प्रत्युवाच जनः सर्वः श्रीमद्वाक्यमनुत्तमम्" सब लोग

---

* नोटः—भरत के कतिपय शपथ ये हैं "जो राजा प्रजा का पालन पुत्रवत् करता हो उस से द्रोह करने वाले को जो पाप होता है, राजा, स्त्री, बालक वा वृद्ध के वध करने में जो (घोर) पाप होता है तथा जिन्हें पोषण करना चाहिए उन्हें त्याग कर देने से जो पाप होता है, अपनी धर्म्म पत्नी को छोड पर नारी सेवन तथा धर्म्म विगर्हित कर्म्मों में लगे रहने वालों को जो पाप होता है वह सब पाप मुझे लगें यदि मेरी अनुमति से श्रीरामचन्द्रजी वन को भेजे गए हों (देखिए अ० सर्ग ७९। श्लोक २४, २९, २७, ३७,)

† नोट—देखिये अयो० सर्ग ७८, श्लोक २१, २३ रामायण के समय स्त्रीजाति की मर्यादा कितनी थी इस का पता इन वचनों से लगता है।

बोल उठे आप के वचन अत्युत्तम हैं। सभाविसर्जन हो जाने पर वनयात्रा की तय्यारी होने लगी, आगे मार्ग शुद्ध करने वाली सेना चली गई। पुनः यात्रा के दिन सभा एकत्रित हुई भरत राजसन्मान पाने से दुखी हुए फिर भरत शत्रुघ्न, अपनी माताओं वशिष्ठादि महर्षियों तथा अन्यान्य प्रतिष्ठित पुरुषों तथा चतुरङ्गिणी सेना और पुरवासियों के एक अतिबृहत् समूह के साथ तथा राज्याभिषेक की सब सामग्री ले अयोध्या से रवाना हुए और चलते २ गङ्गा के किनारे पहुंचे, जहां सेनादि ने विश्राम लिया।

निषादराज गूह यह समझे कि भरत राम को पकड़ने आते हैं भरत से युद्ध करने के लिए उद्यत हो गया परन्तु भरत की वास्तविक मनसा जब उसे ज्ञात हो गई तो वह भरत की पहुनाई करने लगा। भरत गूह के आतिथ्य सत्कार तथा उस से श्रीरामचन्द्र की बातें सुन बहुत प्रसन्न हुए। रात्रि व्यतीत होते ही गूह के मल्लाह ५०० पांच सौ नौकाओं के साथ गङ्गा के किनारे पंहुच गए और अपनी नौकाओं पर सेना को उतारने लगे कई वार नौकाएं इस पार से उस पार और उस पार से इस पार और फिर उस पार गई आई, हाथी और अनेक पुरुष भी तैर कर गंगा पार हुए। फिर गंगा पार से सारी सेना प्रयाग को चली जहां महर्षि भारद्वाज ने सारी सेना का आतिथ्यसत्कार किया। रात्रि व्यतीत होने पर यहां से सेना चित्रकूट को चली और मार्ग में विश्राम लेती हुई चित्रकूट पहुंची, यहां पहुंचते ही सारीसेना महर्षि भारद्वाज की शिक्षानुसार श्रीराम, लक्ष्मण, जानकी को ढूंढ़ने लगी। बन के एक भाग से धूम निकलता सा दीखा लोगों ने समझा यह श्रीराम की कुटी से निकलता होगा। भरत कई पुरुषों के साथ उसी ओर चले।

लक्ष्मण वन में कोलाहल होते देख एक वृक्ष पर चढ़ गए और एक महती सेना को बन में फैली हुई अवलोकन किया और श्रीराम से बोले भ्राता! भरत यहां भी पीछा नहीं छोड़ते सेना ले कर यहां तक चढ़ आए आज उन से संग्राम कर हृदय की आग बुझाऊंगा, हमारे बाणों से भरत के प्राण कोई भी बचा न सकेगा। श्रीराम ने उन्हें शान्त किया और बतलाया कि जैसा तुम भरत को समझते हो वैसे वे नहीं हैं। भरत धीरे २ उस कुटि के निकट पहुंचे जिस से धूम निकलता था, कुछ आगे बढ़े तो क्या देखते हैं कि कुटी के भीतर श्रीराम लक्ष्मण तथा सीता सहित बैठे हुए हैं श्रीराम दर्शन से प्रसन्न परन्तु पुनः विषाद युक्त हो

भरत अपने भाई की ओर दौड़े और विलापकरते हुए उन के चरणों के समीप गिर पड़े, शत्रुघ्न भी प्रणाम करते हुए रोने लगे इतने में सुमन्त्र और गूह भी आन पहुंचे । श्रीराम ने भरत का शरीर अति कृशित देख विस्मित हुए और स्वयं आंखों से आंसू बहाते हुए भाइयों को छाती से लगा लिया और पूछने लगे प्यारे भाई तुम्हारे पिता कहां हैं जिन्हें छोड़ तुम हमें यहां ढूंढ़ने आए ? राज छोड़ जटा धारण कर और बल्कलवस्त्र पहन तुम्हारा यहां आना तो आश्चर्य्य जनक है ...." भरत कुछ देर में शान्ति धारण कर हाथ जोड़ बोले "आर्य्य ! पिता दुष्करकर्म कर, पुत्र शोक से संतप्त हो स्वर्ग को पधार गए, मेरी माता कैकेयी के वश हो पिता ने अपने यशहारी कर्म्मों को किया मेरी माता कैकेयी विधवा और शोककार्षित तो हो ही गई परन्तु घोर दुःखों में अभी उसे और भी पतित होना है, हे नाथ अब इस दास पर कृपा कीजिए और आज ही अपना राज्याभिषेक कराइये, सब विधवामातायें यहां उपस्थित हैं, वे तथा मन्त्री लोग तथा सब प्रजा प्रार्थी हैं और मैं आप का भ्राता, शिष्य और दास प्रार्थना करता हूं कि आप राज-धारण कर सब को प्रसन्न करें.........."

यह सब कहते हुए भरत पुनः श्रीराम के चरणों पर शीश रख विशेष रुदन करने लगे । श्रीराम सीता तथा लक्ष्मण भी महाराज की मृत्यु का समाचार सुन रुदन करने लगे, पुनः ढाढस बांध श्रीराम ने भरत को आश्वासन दिया और कहा ।

कुलीनः सत्वसम्पन्नस्तेजस्वी चरितव्रतः
राज्यहेतोः कथं पापमाचरेन्मद्विधोजनः ॥ १०१।१६ ॥

न दोषं त्वयि पश्यामि सूक्ष्ममप्यरिसूदन।
न चापि जननीं बाल्यात्त्वं विगर्हितुमर्हसि ॥ अ० १०१।१७ ॥

कुलीन, सत्व सम्पन्न, तेजस्वी, चरितव्रत होकर मेरे जैसा कोई पुरुष राज्य के लिये कैसे पाप कर सक्ता है ! शत्रुओं को पीड़ित करने हारे भरत मैं तुम में सूक्ष्म दोष भी नहीं देखता और तुम अपनी माता को बालबुद्धिवत् दोषी नहीं ठहरा सक्ते *

* तात्पर्य यह ज्ञात होता है कि कैकेयी ने अपने जानने में तो भरत के कल्याण के लिये ही सब कुछ किया था अतः भरत उसे दोषी नहीं ठहरा सके । यह बात दूसरी है कि कैकेयी औरों की दृष्टि में दोषी हो ।

(पिताकी प्रतिज्ञापालनार्थ मेरेलिए बन में ही रहना ठीक है और तुम्हारे लिए अयोध्या में राज्य करना) पुनः भरत ने अपनी ओर से प्रार्थनाएं की परन्तु श्रीराम ने राज्य करना स्वीकार नहीं किया। श्रीराम, लक्ष्मण, सीता ने पितृशोक के कारण उस दिन आहार नहीं किया, मातादि से तीनों जन मिले और पितृशोक को रो २ कर हलका किया।

दूसरे दिन सभा बैठी जिस में भरतने वक्तृता देते हुए कहा "मेरी माता कैकेयी मेरे लिए राज्य पा संतुष्ट होगई, मैं अपने पिता से पाए हुए राज्य को अब बड़े भ्राता के चरणा में समर्पण करता हूं, मैं पितृविहीन, पितास्थानी अपने बड़े भाई से सब प्रकार लालन पालन की आशा रखताहूं........"सारी सभा ने भरत के कथनों का अनुमोदन किया तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजी बोलेः—

"यह जीवात्मा अपनी इच्छानुसार सब कुछ नहीं कर सक्ता क्योंकि पुरुषोऽयमनीश्वरः यह जीव ईश्वर नहीं है क्योंकि कर्म्म फल इस जीवात्मा को इधर उधर आकर्षित किया करता है, सब इकट्ठी हुई बड़ी २ सामग्रियां नष्ट होजाती हैं और बड़ी २ उन्नतियों का भी पतन हो जाता है, सब संयोग वियोग में अन्त होजाता है, जीवन भी मरण में अन्त हो जाता है * अतः मेरे वनवास पर अथवा पिता की मृत्यु पर शोक करना व्यर्थ है, पिता की प्रतिज्ञा सत्य सिद्ध करने के ही लिये हम वन में आए, पिता हमारे जिस समय देवासुरसंग्राम में कठिन घायल होगये थे उस समय अपने प्राणों की रक्षा करने वाली कैकेयी को वर दिया था, तदनुसार माता कैकेयी ने वर मांगा अतः पिता हमारे वचन बद्ध होने के कारण कैकेयी के मांगे हुए वरों को अस्वीकार नहीं कर सक्ते थे, और मुझे जितना सुख पिता को सत्यप्रतिज्ञ सिद्ध करने में मिलेगा उतना सुख और किसी भी प्रकार नहीं मिल सकता अतः चौदह वर्षों तक मेरा वन में विचरना और प्यारे भरत का राज्य करना ही ठीक होगा..........."

भरत जी ने पुनः वक्तृता की और श्रीरामचन्द्र जी ने पुनः समझाया, एवं एक महानराज्य को भरत भ्रातृ–चरणों में और श्री रामचन्द्र जी भरत के हाथों में

---

* देखिये अयोध्या सर्ग १०५। श्लोक १५, १६, श्लोक १५ में आया हुआ आपद "पुरुषोऽयमनीश्वरः अर्थात् यह जीव ईश्वर नहीं है" जीव ईश्वर की भिन्नता को स्पष्ट प्रतिपादन कर रहा है।

फेंकते रहे । धन्य है वह कुल और जाति और धन्य है वह देश जहां धर्म्म के सन्मुख राज्यादि सभी तृणवत् परित्याग योग्य समझने वाले श्रीराम तथा श्री भरत जैसे धर्म्म स्वरूप महात्मा उत्पन्न होते हैं ।

इसी सभा में से जावाल नाम एक ऋषि बोल उठे "हे राम आप पितृ आज्ञा पालनादि पर जो इतना बल दे रहे हैं सो निरर्थक है, कौन किस का पुत्र और कौन किस का पिता है, अकेला ही जीव उत्पन्न होता और अकेला ही मर जाता है, कोई किसी का नहीं है, महाराज दशरथ के मरने के साथ २ उन की सब बातें गईं, आप अयोध्या में चल राज भोगिए, इन धार्म्मिक ढकोसलों में क्या रक्खा है...."

जावाल की वक्तृता ज्यों ही समाप्त हुई त्यों ही श्री रामचन्द्र जी पुनः बोलेः—

आप ने मेरे सुख की कामना से जो कुछ कहा है वह कर्तव्याभास है (वास्तव में) कर ने योग्य नहीं है, वह अपथ्य सा (दुखदाई) है (केवल ऊपर से) पथ्य सा भास रहा है । जो पुरुष मर्यादा रहित और पापाचारी होता है वह (धर्म्म से) भिन्न शिक्षाओं के (देखने वा) धारण करने से सत्पुरुषों के बीच प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर सक्ता । सब लोग प्रायः गतानुगतिक हैं (**अतः यदि हम धर्म्माधर्म्म**—का विचार छोड़) यथेष्ठाचारी बन जांय (तो हमारी सब प्रजा पापमय हो जांयगी क्योंकि) जैसी वृत्ति राजाओं की होती है वैसी ही वृत्ति वाली प्रजा भी हो जाती है । यह सनातन बात है कि राजा की वृत्ति सत्य और दयामय होनी चाहिए इसी कारण राज्य भी सत्यात्मक होता है (और राज्य ही क्यों) ? सारा ब्रह्माण्ड सत्य के आधार पर ठहरा हुआ है । ऋषि और देवगण भी सत्य को ही प्यार करते हैं, सत्यवादी इस लोक में (सुख पाता है)और "परम् अक्षयम्" अर्थात् सर्वथा अविनाशी परमात्मा को भी प्राप्त करता है । इस संसार में वास्तविक स्वामी सत्यस्वरूप परमात्मा ही हैं उसी सत्य वा अविनाशी स्वरूप परमात्मा के आश्रय सदा धर्म्म रहता है । इस सारे ब्रह्माण्ड का मूल परमात्मा ही है और उस परमात्मा से बढ़ कर कोई नहीं है (तात्पर्य्य यह है कि पापी पुरुष शरीर छोड़ने पर भी सदा रहने वाले परमात्मा के न्याय से बच नहीं सक्ता अतः धर्म्म का ढकोसला व्यर्थ है यह कहना सर्वथा अनुचित है) । तब सत्य प्रतिज्ञ

(अपने पिता से) सद्भाव से जो मैंने सत्य प्रतिज्ञा की उस के द्वारा पिता की आज्ञा को मैं क्यों न पालूं ?* अतः पवित्र मूल, फूल और फलों से पितृसंज्ञक और देवसंज्ञक (धार्मिक विद्वानों) को तृप्त करते हुए और उसी पवित्र और नियत भोजन को खाते हुए मेरे लिये वन में ही रहना ठीक है ।

श्री रामचन्द्र जी की वक्तृता के अनन्तर जाबाल ने कहा कि मैं अपने पूर्व व्याख्यान के लिए क्षमा का प्रार्थी हूं मैंने श्रीराम को वनवास की प्रतिज्ञा से हटाने के लिए ही वैसी वक्तृता दी थी ।

---

* देखिए अयोध्या, सर्ग १०९। श्लोक २, ३, ९, १०, ११, १३, १६, तथा २६, इसी सर्ग में श्रीरामचन्द्र जी की वक्तृता के भीतर बम्बई के छपे वाल्मीकि रामायण में निम्न-लिखित श्लोक वर्तमान है:-

यथाहिचोरः स तथाहि बुद्धस्तथा गतं नास्तिक मत्र विद्धि तस्माद्धि यः शक्यतमः प्रजानां स नास्तिके नाभिमुखो बुधः स्यात् ॥ अयो० १०९ । ३४ ॥

अर्थात् जैसा कि चोर (होता है) वैसा ही बुद्ध (अर्थात् केवल अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार मानने वाला विज्ञ महात्माओं के कथनों में अविश्वास रखने वाला) होता है और वैसा ही यहां नास्तिक को भी जानो अतः जो प्रजा के भीतर सब से अधिक बलवान् होता है (अर्थात् राजा) वह नास्तिक के अभिमुख नहीं होता हुआ पण्डित कहलाता है।

कई यूरोपीय ऐतिहासिक कहते हैं कि उक्त श्लोक के प्रथमार्ध में जो "बुद्धः" शब्द आया है उस का अर्थ बौद्धधर्म्मावलम्बी है अतः सिद्ध होता है कि वाल्मीकि रामायण बुद्ध देव के समय के पश्चात् बना ।

इन यूरोपियनों के कथनों के उत्तर में हमारा वक्तव्य यह है कि बुद्धः का अर्थ है "जो पूर्वज ज्ञानियों के कथनों पर विश्वास न करता हुआ अर्थात् शब्द प्रमाण को न मानता हुआ केवल अपनी अल्प बुद्धि को ही सर्वोपरि मानता हुआ उसी के अनुसार कहता वा मानता है अतः "बुद्धः" शब्द से बुद्ध देव के अनुयायियों का ग्रहण नहीं हो सक्ता । यदि कोई कहे कि बुद्ध-देव के पूर्व तो बौद्ध वा नास्तिक थे ही नहीं फिर बुद्ध और नास्तिक से अन्यों का ग्रहण किस प्रकार हो सक्ता है । इस का समाधान यह है कि जिस समय सूर्य्य की अतिप्रखर किरणें भी चतुर्दिक् फैली रहती हैं, किसी २ गृह का कोई २ कोना अन्धकारावृत्त भी रह जाता है एवं भारत के प्राचीन काल में जिस समय वेद के ज्ञानमय प्रकाश से आत्माएं विशेष विज्ञानमय हो रहे थे, कोई २ कुसंस्कृत, वेद के प्रकाश को धारण करने की शक्ति न रखने वाला अपनी अल्प बुद्धि के कारण "स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः" अपने को धीर, पण्डित अर्थात् बड़ा बुद्धिमान् वा "बुद्ध" मानने वाला भी होता ही था और कोई२ अल्प बुद्धि होने के कारण ईश्वर की सत्ता को अनुभव न कर उस पर अविश्वास करने वाला नास्तिक भी हो जाता था । अतः उक्त श्लोक में आए हुए बुद्ध और नास्तिक शब्दों का अर्थ बौद्ध मतावलम्बी नहीं हो सक्ता ।

पुनः महर्षि वसिष्ठ की वक्तृता हुई जिसका उत्तर भी श्रीरामचन्द्रजी ने बड़ी योग्यता से दे सिद्ध कर दिया कि अयोध्या को लौटना उन के लिए किसी भी प्रकार ठीक नहीं है ।

तब अन्त में भरत ने रत्नजटित एक खड़ाउन के जोड़े को श्रीराम के सन्मुख रक्खा और कहा कि इन पर आप अपने चरण रख दें, श्रीराम ने वैसा ही किया । तब भरत उन खड़ाउनों को सादर ग्रहण कर कहने लगे "हे वीर ! अयोध्या के राजसिंहासन पर खड़ाउन का यह जोड़ा रक्खा जायगा, जटा तथा वल्कलवस्त्र धारण किए हुए फल मूल खाते हुए चौदह वर्षों तक मैं अयोध्या से बाहर निवास करूंगा

परन्तु उक्त श्लोक का अर्थ जो हमने किया है अथवा बुद्धि पर ही निर्भर करने वालों और नास्तिकों की स्थिति जो हमने बुद्ध देव के समय से बहुत पूर्व बतलाया है उस से यह तात्पर्य्य नहीं निकालना चाहिए कि हम उक्त श्लोक को प्रामाणिक मानते हैं । प्रामाणिक न मानने का प्रधान कारण यह है कि उक्त श्लोक का भाव आर्ष प्रतीत नहीं होता । प्रत्युत द्वेषमय ज्ञात होता है । द्वितीय कारण यह है कि सिवाय बम्बई के छपे रामायण वा उस के आधार पर किसी अन्य स्थान पर छपे रामायण के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्राचीन आवृत्ति के रामायण में चाहे गौड़ावृत्ति में चाहे इटैली के प्रसिद्ध विद्वान् गौरीशिव के छपाए रामायण की आवृत्ति में उक्त "बुद्धः" वाला श्लोक नहीं मिलता । तृतीय कारण यह है कि बौद्धों ने जो "दशरथ जातक" नाम ग्रन्थ संस्कृत में लिखा है उस में यह स्पष्ट वर्णन है कि बुद्ध देव वर्तमान शरीर धारण करने के पूर्व एक समय दशरथात्मज राम के रूप में भी रह चुके थे और कि राम ने

दश वर्ष सहस्राणि षष्ठि वर्ष शतानिच ।
कम्बु ग्रीवो महाबाहु रामो राज्यमकारयत् ॥

जिन की गर्दन शङ्ख की तरह सुन्दर थी और जिन की भुजाएं विशेष लम्बी थीं सोलह सहस्र वर्षों तक राज्य किया था ।

एवं बौद्ध स्वयम् कहते हैं कि श्रीरामचन्द्र जी बुद्ध देव से बहुत पहले हो चुके हैं । पुनः यह कैसे सम्भव हो सक्ता है कि श्री रामचन्द्र जी चित्र कूट पर्वत पर सभा के सन्मुख व्याख्यान देते हुए अपने से बहुत पीछे भविष्यत् में होने वाले बौद्ध मतानुयायियों का वर्णन वर्तमान की भांति करते हों ।

जो कोई हठ वश "यथाहिचोरः स तथा हि बुद्धः" में आए हुए "बुद्धः" का अर्थ बौद्ध-मतानुयायी ही करेगा उसे इतना तो अवश्य ही मानना पड़ेगा कि यह श्लोक बौद्धों के किसी विरोधी ने उस समय वाल्मीकि रामायण में प्रक्षिप्त किया जब कि यह बम्बई में छपता था क्योंकि बम्बई छापे से पूर्व का जो गौड़ में छपवाया हुआ वाल्मीकि रामायण है अथवा इटैली में गौरी-शिव का छपवाया हुआ जो वाल्मीकि रामायण है उन में कहीं भी उक्त श्लोक का पता नहीं चलता ।

और वहीं से राजकार्य्यों को सम्पादन करता रहूंगा, यदि चौदह वर्ष समाप्त होते ही आप अयोध्या न पहुंचे तो मैं अग्नि में प्रवेश कर भस्म हो जाऊंगा·······"

श्रीराम भरत के वचन सुन आंसु भरे नेत्रों से भरत और शत्रुघ्न को छाती से लगा लिया और सब से यथायोग्य मिल श्रीराम लक्ष्मण ने सब को विदा किया और भरत सेना सहित अयोध्या में पहुंच नन्दी ग्राम में निवास करने और वहीं से राज कार्य्य सम्पादन करने लगे ।

उधर भरत श्रीराम से विदा हुए और इधर ऋषियों का मण्डल श्रीराम के पास पहुंचा और कहने लगा कि हे राम ! राक्षसों ने हम लोगों के प्राण नाकों में कर रक्खे हैं, हम यज्ञ करने नहीं पाते, हमारे में से कई लोगों को इनराक्षसों ने खालिया, अब हम इस स्थान से भागते हैं, तुम भी अपनी कुटि कहीं अन्यत्र बनावो। श्रीराम ने यह दुःखमय समाचार सुन ऋषियों को कुछ शान्त्वना दी परन्तु मन में प्रतिज्ञा करली कि इस भूमि को राक्षसों के भार से हल्का किए विना हम शान्ति धारण न करेंगे ऋषियों के जाने पर भी बहुत दिनों तक श्रीराम वहां निवास करते रहे परन्तु धीरे २ वह स्थान ऋषियों से प्रायः शून्य एवं अप्रिय बनगया तब किसी दूसरे स्थान की खोज में श्रीराम लक्ष्मण तथा जानकी सहित अपनी कुटि से चलपड़े और घूमते घामते महर्षि अत्रि के आश्रम में पहुंचे महर्षि अत्रि ने बड़े प्रेम से उन का आतिथ्य सत्कार किया, और उस वन की बहुतसी बातें सुनाईं महर्षि की परम ज्ञानिनी धर्म्म पत्नी अनुसूयाने सीता को पातिव्रत-धर्म्म सम्बन्धी उपदेश दिया । वहां से श्रीराम विदा हो दण्डकारण्य के एक सुन्दर भाग में पहुंचे जहां अनेक ऋषियों से सम्मेलन हुआ । वहां से विदा हो जब ये लोग आगे चले तो एक निविड़ वन में विराध नाम राक्षस ने इन लोगों पर आक्रमण किया परन्तु विराध दोनों भाइयों के हाथ मारा गया । पुनः तीनों जन आगे बढ़े और मार्ग में विश्राम करते हुए महर्षि अगस्त्य के आश्रम में पहुंचे जिन्हों ने उन का भली भांति स्वागत किया और उन्हें अनेक अस्त्र शस्त्र दिए । वहां से श्रीरामादि विदा हो जटायु से मिलते हुए पञ्चवटी पहुंचे और वहां निवास करने लगे । एक दिन शूर्पणखा नाम राक्षसी वहां आन पहुंची, और श्रीराम को देख मोहित होगई और पूछने लगी कि तुम कौन हो ? श्रीराम ने अपने पिता आदि का नाम बतला पूछा तू कौन है, तू तो मुझे राक्षसों जैसी मालूम होती है । शूर्पणखा ने अपना पता दिया और कहा तुम मेरे पति

बननावो मैं तुम्हारी कुरूपा सीता और लक्ष्मण को खालूंगी और तुम्हारे साथ पर्वतों के शृंगों और वनों में विहार करूंगी ।

श्रीराम ने उस की प्रार्थना अस्वीकार की और जब उसने लक्ष्मण से प्रार्थना की तो उन्हों ने भी उस की बात न मानी तब वह क्रुद्ध हो सीता को मारने चली । तब श्रीराम ने आत्मरक्षा के नियमानुसार लक्ष्मण से कहा इस राक्षसी को दण्ड दिए बिना मत छोड़ो । आज्ञा पाते ही लक्ष्मण ने उस की नाक और कान अपने खड्ग से काट लिया । तब शूर्पणखा रोती हुई अपने भाई खर के पास पहुंची । खर ने पहले अपने १४ योद्धाओं को श्रीराम को मारने के लिए भेजा परन्तु राम ने उन्हें मार डाला तब खर, दूषण, त्रिशिरा तथा कई सहस्र राक्षस योद्धाओं को ले श्रीराम पर चढ़ आया ।

पञ्चवटी का युद्ध—श्रीराम ने लक्ष्मण तथा सीता को एक पर्वत की कन्दरा में भेज अपना कवच धारण कर तथा अस्त्र शस्त्र सम्भाल राक्षसों से युद्धारम्भ कर दिया । राक्षसों की ओर से जब अधिक बाण आने लगे तो श्री रामचन्द्र जी ने अपने गन्धर्वास्त्र को छोड़ा जिस से सहस्रों बाण चतुर्दिक् फैल राक्षसों का नाश करने लगे थोड़ी ही देर में श्रीराम ने दूषण, महाकपाल, स्थूलाक्ष, त्रिशिरादि वीरों को मार गिराया तब खर विशेष क्रुद्ध हो युद्ध करने लगा और उस के बाणों ने श्रीराम के कवच को तोड़ उन के शरीर से रक्त बहा दिया परन्तु श्रीराम वीरता के साथ पूर्ववत् युद्ध करते ही रहे और थोड़ी ही देर में ब्रह्मदण्डास्त्र जैसे अपने एक अस्त्र से अग्निमय बाण खर की ओर छोड़ा और " स पपात खरो भूमौ दह्यमानः शराग्निना" (अरण्य ३० । २७) खर शराग्नि से जलता हुआ पृथिवी पर गिर पड़ा । खरादि के विध्वंस होते ही लक्ष्मण सीता के साथ श्रीराम के निकट पहुंच गए ।

बाल्मीकि रामायण में उक्त युद्ध का वृत्तान्त बड़े बिस्तार के साथ लिखा हुआ है । हम ने अति संक्षेप से उस का आशयमात्र ऊपर लिखा है । जो लोग प्राचीन आर्य्यों की अस्त्र शस्त्र विद्या से कुछ अभिज्ञ हैं वह तो इस बात पर आश्चर्य नहीं करते कि युद्ध विद्याविशारद श्रीराम जी ने अकेले कई सहस्र राक्षसों से कैसे युद्ध किया । परन्तु अन्यान्य लोग और विशेष कर वे लोग जो पश्चिमी सभ्यता के शिष्य हैं उक्त युद्ध को असंभव बतलाते हैं परन्तु पश्चिमी सभ्यता के प्रेमी ऐतिहासिक प्रेसकाट आटुम्बा युद्ध का जैसा कि वर्णन करते हैं उसे पढ़कर तो कोई बुद्धिमान् पञ्चवटी के युद्ध को असम्भव नहीं मान सकता ।

प्रेसकाट ने अमेरिका के मेक्सिको विजय Mexican conquest का जो वृत्तान्त लिखा है उस में आटुम्बा युद्ध का वर्णन करते हुए यूरोप के स्पेन वालों के सैनिकों की संख्या केवल २०० दो सौ लिखी है और यह भी आङ्कित किया है कि इन दो सौ सैनिकों के पास तोप वा बन्दूकें न थीं, ये केवल तलवारों और बरछों को धारण करते थे, और मेक्सिकोवासी रेडइण्डियनों के सैनिकों का अनुमान एक लक्ष से दो लक्ष तक लगाया है और इतनी बड़ी सेना पर भी स्पेन वालों को विजयी बतलाया है । प्रेसकाट लिखते हैं:—

It is almost as difficult to form an accurate calculation of the numbers of a disorderly savage multitude as of the pebbles on the beach or the scattered leaves in autumn. Yet it was undoubtedly one of the men cradle victories achieved in the new world. And this not only on account of the disparity in the forces but of their unequel condition. For the Indians were in all their strength while the christians were wasted by disease famine and long protracted suffering, without canon or fire arms which had so often struck terror, deficient even in the terror of a victorious name. But they had discipline, desperate resolve and implicit confidence in their commander."

" अनियमाबद्ध जंगली समूह का ठीक २ संख्यानिरूपण प्रायः वसौ ही कठिन है जैसा कि समुद्र के किनारे के छोटे २ पत्थर की कंकड़ियों वा पतझड़ के दिनों में बिखेर हुए पत्तों का गिनना । तथापि नई दुनिया (अमेरिका) में जितने स्मरण रखने योग्य विजय हुए हैं उन में से निस्सन्देह यह भी एक था, और यह केवल (उभय) सेनाओं की संख्याओं के अन्तर के कारण नहीं प्रत्युत इस कारण भी कि उन (दोनों सेनाओं) की दशाओं में भी अन्तर था । (मेक्सिको के प्राचीन निवासी) इण्डियन्स अपने पूरे बल के साथ थे और क्रिश्चियन (स्पेन वाले) रोग, काल और दीर्घ समय के निरन्तर दुःखों से दुर्बल हो गये थे, इन के पास तोप वा बन्दूकें भी न थीं जो कि पहिले कई बार (मेक्सिको वासियों के हृदय में) भय उत्पन्न कर चुकी थीं और इन में यह भी न्यूनता थी कि ये अपने विजयी नाम का आतङ्क अभी तक जमा नहीं सके थे । तथापि इन में नियम का अनुवर्त्तन, कठिन प्रतिज्ञा और अपने सेनापति के लिये दृढ़ विश्वास था " ।

तोप बन्दूक के बिना केवल तलवार और बरछों के बल से जब कि कृशित शरीर वाले २०० स्पेनी, लाख दो लाख बलवान् मेक्सिको निवासियों की सेना पर विजयी हो सकते हैं तो शिवधनुष जिसे उस समय का कोई भी अन्य बलवान् अकेला उठा भी नहीं सका था, उस के तोड़ने वाले श्रीराम जो वारुणास्त्र, आग्नेयास्त्र, गन्धर्वास्त्र, ब्रह्मदण्डास्त्रादि अनेक अग्निबल से चलाए जाने वाले अस्त्र शस्त्रों का प्रयोग जानते थे, जिन्हें महर्षि अगस्त ने भी पञ्चवटी में आने के पूर्व अपने अनेक अस्त्र शस्त्र दिए थे यदि कई सहस्त्र राक्षसों पर (जो श्रीराम से कम बलवान् तथा उन से अस्त्र शस्त्र विद्या में बहुत न्यून थे) विजयी हों तो आश्चर्य्य ही क्या है ।

रावण का कोप और सीता हरण—पञ्चवटी युद्ध से भागे हुए अकम्पन राक्षस ने खरादि के वध की सूचना रावण को दी, रावण क्रुद्ध हो अकम्पन के साथ मारीच के पास आया परन्तु पुनः लङ्का को लौट गया । लङ्का में शूर्पणखा के पहुंचने पर रावण का क्रोध पुनः जागा और वह मारीच को ले पञ्चवटी में पहुंचा । मारीच मृग का वेष अपने ऊपर डाल सीता के सन्मुख विचरने लगा । सीता ने कहा इस मृग को पकड़ना चाहिए, लक्ष्मण ने कहा ऐसा सुन्दर तो मृग होता नहीं यह बनावटी मृग है, मैं सुन चुका हूं कि मारीच मृग का स्वाग बनाया करता है । तब श्रीराम ने कहा यह मारीच है तो " अहमेनं वधिष्यामि ग्रहीष्याम्यथवा मृगम् " मैं इसे मार डालूंगा और यदि सचमुच मृग है तो इसे पकड़ लूंगा, तुम सीता की रक्षा करो हम इस मृग की ओर जाते हैं । श्रीराम को अपनी ओर आते देख मृग भागा और दूर तक भागा तब राम ने उसे पहचान लिया और उसे ऐसा वाण मारा कि वह पृथिवी पर गिर पड़ा और मारीच " म्रियमाणस्तु मारीचो जहौ तां कृत्रिमां तनुम् " (अरण्य ४४ । १७) मृतप्रायः होते समय (मृग के) शरीर को (अपने ऊपर से) फेंक दिया और हा सीते ! हा लक्ष्मण ! कहता हुआ मर गया हा सीते ! हा लक्ष्मण ! का शब्द सुन, सीता ने श्रीराम रक्षा के विचार से लक्ष्मण को उस ओर भेजा दिया ।

लक्ष्मण थोड़ी ही दूर गए होंगे जब कि एक दण्डकमण्डलुधारी साधु सीता के निकट पहुंचा, सीता ने उसे अतिथि समझ बड़ी श्रद्धा से उस के सत्कार के लिये उस के सन्मुख जलादि ला रक्खा । साधु सीता से बातें करते हुए कहने लगा कि मैं लङ्का का राजा रावण हूं और तुझ पर मोहित हूं, मेरे साथ चल, आनन्दपूर्वक

लङ्का का शासन कर रावण के मुख से ऐसे वचन निकलते ही महाराणी सीता क्रुद्ध हो उसे दुर्वचन सुनाने लगीं जब कि रावण उन्हें बलात् पकड़ अपने आकाशयान पर चढ़ा लङ्का को ले चला ।

सीता रोती पीटती हा राम ! हा लक्ष्मण ! पुकारने लगीं परन्तु श्रीराम लक्ष्मण दूर थे सीता के हृदयविदारक रुदन को वह सुन नहीं सक्ते थे । परन्तु श्रीराम के प्रेमी जटायु ने वैदेही के रुदन को सुन लिया और वह रावण से युद्ध करने लगा। परन्तु रावण ने उसे शीघ्र ही घायल कर दिया और सीता को रथ पर चढ़ा पुनः ले चला। सीता अब सहायता की आशा न देख विह्वल हो रुदन करने लगीं और मार्ग में पर्वतशृंग पर कई व्यक्तियों को देख अपने कई आभूषण और कुछ वस्त्र नीचे गिरा दिए । रावण ने सीता को ले जाकर लङ्का की अशोकवाटिका में रख दिया जहां श्रीराम के ध्यान में वह अपना दुःखमय दिन काटने लगीं ।

रावण एक शीश और दो ही भुजाओं वाला था— महाराणी सीता के सन्मुख जिस समय रावण आया था मनुष्य मालूम होता था । "दश शीश" का अर्थ है जिस के शीश में दश साधारण शीशों के बराबर शक्ति हो । महर्षि बाल्मीकि ने इसी अभिप्राय से दशग्रीवादि शब्दों का प्रयोग किया था परन्तु पौराणिक समय में जब लोग वास्तविक रूपक न समझ सके तो दश गर्दनादि की कल्पनाएं करलीं । क्या श्रीरामचन्द्र जी के पिता, "दशरथ," इस कारण कहलाते थे कि उन के पास केवल दश रथ थे ? अथवा इस कारण कि वह एक समय ही दश रथों पर चढ़ा करते थे ?

रावण एक शीश और दो ही भुजाएं वाला था इस के लिए निम्नलिखित प्रमाण बाल्मीकि रामायण में ही मिलते हैं । हनुमान् जी ने लङ्का में जाकर और छिप कर सोए हुए रावण को निम्नलिखित प्रकार का देखा था:—

ददर्श स कपिस्तस्य बाहूशयनसंस्थितौ । मन्दरस्यान्तरे सुप्तौ महार्ही रुषिताविव ।। तस्य राक्षसराजस्य निश्चक्राम महामुखात् । शयानस्य विनिःश्वासः पूरयन्निव तद्गृहम् (सुन्दर० १० । २१, २४) उस कपि (हनुमान्) ने उस राक्षसराज (रावण के सोते समय के स्थिर दोनों बाहुओं ("बाहु" द्विवचन है) को ऐसा देखा मानों दो बड़े २ क्रुद्ध सर्प पर्वत के भीतर सोये हुए हों । उस सोये

हुए राक्षसराज के महामुख ("महामुखात्" एक वचन है) से निकला हुआ श्वास उस घर को भर रहा था ।

(उक्त श्लोक २१ पर जो "तिलका" नाम सुप्रसिद्ध टीका है उस में लिखा है "अत्र द्विभुजत्वकथनाद्युद्धादि काल एव विंशतिभुजत्वं दशशीर्षत्वं चेतिबोध्यम्" अर्थात् यहां (क्योंकि) दो भुजाएं कही गई (अतः) युद्धादि कालों में ही बीश भुज तथा दश शीश समझना चाहिए ।

टीकाकारने यहां विस्पष्ट दो भुजाएं और एक शीश लिखा हुआ देख और अन्यत्र बीस भुजाएं और दश शीश लिखा हुआ देख दोनों परस्पर विरुद्ध लेखों को अविरुद्ध सिद्ध करने का वृथा यत्न किया है क्योंकि युद्ध काल में भी रावण को एक शिर वाला कहीं २ लिखा है यथाः—

अद्य ते मच्छरैश्छिन्नं शिरो ज्वलितकुण्डलम् । क्रव्यादाव्यपकर्षन्तु विकीर्णं रणपांसुषु (युद्ध १०३ । २०)

(युद्ध करते हुए) श्री रामचन्द्र जी रावण से कहते हैं "अभी तेरा शिर (शिरः एक वचन है) ज्वलित कुण्डल सहित मेरे बाणों से कटा हुआ रणभूमि में विक्षिप्त, शवभक्षियों से खींचा जायगा । जब कि रामायण में ही विस्पष्ट लिखा है कि रावण का एक शीश और दो भुजाएं थीं और यह बात निर्भ्रान्त परमात्मा के अपरिवर्तनीय सृष्टि नियम के अनुकूल भी है तो क्यों न माना जाय कि रावण के वास्तव में एक शीश और दो ही भुजाएं थीं । रावण पुलस्त्य ऋषि के वंश में था, पुलस्त्य ऋषि मनुष्याकृति के थे पुनः रावण की आकृति भी मनुष्य की तरह क्यों न मानी जाय । क्या निर्भ्रान्त और सर्व शक्तिमान् परमात्मा के अपरिवर्तनीय सृष्टि नियम को बदलने की शक्ति किसी में कभी हो सकती है? कदापि नहीं रावण तथा उस के वर्ग बान्धव सहचर और अनुचरवर्ग जब कि मनुष्यों की भांति परस्पर में तथा हनुमानादि से बातें कर सकते थे तो उन्हें मनुष्याकृति का ही क्यों न माना जाय! यह बात कि राक्षस भांति भांति के रूप इच्छानुसार धारण कर लेते थे यदि बहुरूपियों जैसा माना जावे तो कुछ विश्वास में आ भी सक्ता है परन्तु अन्य प्रकार (सृष्टि नियम विरुद्ध होने से) कभी भी ठीक सिद्ध नहीं हो सक्ता । "यक्ष

...त्नं मद्य मांसं सुरासवम्" (मनु) के अनुसार विशेष मद्य मांसादि के ...सी वृत्ति वाले होने के कारण, रावणादि राक्षस कहलाते थे और सतो-

गुणी वेदानुयायी ऋषियों को सताया करते थे । दस्यु और म्लेच्छों के विषय में हम मनुस्मृति के प्रकरण में लिख चुके हैं ।

रावण के दोही नेत्र, एक ही शीश और दोही भुजाएं थीं इन के लिए निम्न-लिखित प्रमाण भी वाल्मीकि रामायण में विद्यमान हैं । मेघनाद के मारे जाने पर विलाप करने के पश्चात् रावण जब अति क्रुद्ध हुआ तो "तस्य क्रुद्धस्य नेत्राभ्यां प्रापतन्नश्रुविन्दवः । दीपाभ्यामिव दीप्ताभ्यां सार्चिषः स्नेहविन्दवः" (युद्ध ९२।२२) उस क्रुद्ध (रावण) के दोनों नेत्रों से आंसु की बूंदें ऐसी गिरने लगीं मानो दो जलते हुए दीपों से ज्वाला सहित तेल के विन्दु गिरते हों पुनः जब रावण मारा गया तो उस की स्त्रियां रण भूमि में आ विलाप करने लगीं । "उत्क्षिप्य च भुजौ काचिद् भूमौ सुपरिवर्तते । हतस्य वदनं दृष्ट्वा काचिन्मोहमुपागतम् ॥ काचिदङ्के शिरः कृत्वा रुरोद मुखमीक्षती स्नापयन्ती मुखं वाष्पैस्तुषारैरिव पङ्कजम्" (युद्ध ११० । ९, १०) कोई तो उस की दोनों भुजाओं ("भुजौ" द्विवचन) को उठाकर पुनः पृथिवी पर उन्हें (स्नेह सहित) फेरने लगीं कोई मरे हुए [रावण के] मुख को देखकर मूर्च्छित होने लगीं कोई उस के शिर ("शिर" एक वचन) को गोद में रख के उस के मुख को देखती हुई रोने लगीं और (अपने आंसुओं से) उस मुख को आर्द्र करने लगीं जैसे कि तुषार के वाष्प से कमल आर्द्र होजाता है) ।

श्रीराम का विलाप और सीता की खोज—सीताहरण के पश्चात् जब श्री राम और लक्ष्मण कुटी में आए और सीता को न देखा तो इधर उधर उन्हें खोजने के लिए दौड़ने लगे जब सीता न मिलीं तो दोनों भाई फिर कुटी में आगए और श्री राम, ! हा सीता ! हा सीता कह रुदन करने लगे, पागल की भांति हो वृक्षों की ओर देख २ पूछने लगे, वृक्ष ! तुम ने क्या मेरी सीता को देखा ? यदि देखा तो बतला मेरी प्राणप्यारी कहां है ? लक्ष्मण ने उन्हें ढाढ़स दे सावधान किया और तब दोनों भाई उस कुटी को छोड़ अस्त्र शस्त्र ले सीता की खोज के लिए पुनः चल पड़े । जाते २ क्या देखते हैं कि एक रक्त से लथ पथ घायल व्यक्ति पड़ा हुआ है । दोनों भाई समीप पहुंचे तो ज्ञात हुआ कि यह तो जटायु है और दोनों भाई जटायु के शरीर को अपने हाथों से प्यार देने लगे । सुध बुध सम्भाल घायल जटायु सीता हरण का वृत्तान्त सुना पुनः ऊर्द्ध श्वास लेने लगा और प्राण छोड़ दिया । शोका-

कुल दोनों भाइयों ने उस की अन्त्येष्टि क्रिया की और आगे बढ़े । मार्ग में आक्रमण करने वाले कबन्ध को मारते हुए तथा सुग्रीव का पता पाते हुए और मार्ग में विश्राम लेते हुए पम्पासर की पश्चिम ओर शबरी नाम तपस्विनी के आश्रम में पहुंचे।

तौ दृष्ट्वा तु तदा सिद्धा समुत्थाय कृताञ्जलिः ।
पादौ जग्राह रामस्य लक्ष्मणस्य च धीमतः ॥ अरण्य ७४।६ ॥
पाद्यमाचमनीयं च सर्वं प्रादाद्यथाविधि ॥ अरण्य ७४।७ ॥

दोनों (भाइयों) को देख वह सिद्धा *(शबरी) उठी और हाथ जोड़ धीमान् राम लक्ष्मण के चरण छू प्रणाम किया, पैर धोने और आचमन करने के लिए जल तथा (बैठने के लिए आसन और भोजनादि आतिथ्य सत्कार की) सब सामग्रियों को यथाविधि प्रस्तुत किया………", शबरी ने अपना भाग्य धन्य मनाया और श्री राम की बहुविधि स्तुति कर उन का भली भांति आतिथ्यसत्कार किया । श्री राम शबरी के प्रेमभक्ति से बड़े ही प्रसन्न हुए और उस से विदा मांग पम्पासर की ओर चले और कुछ काल वहां विश्राम कर पुनः ऋष्यमूक पर्वत पर चढ़ने लगे । सुग्रीव ने दोनों वीरों को तापस वेष में देख शङ्का किया और अपने मन्त्री हनूमान् को इन की परीक्षा के लिये भेजा । हनूमान् दोनों भाइयों के निकट पहुंच संस्कृत भाषा में अपना तथा सुग्रीव का वृत्तान्त सुना श्रीराम के वृत्तान्त पूंछने लगे । श्रीरामचन्द्र जी इन के वचनों से प्रसन्न हो लक्ष्मण से बोले:—

ऋग्वेद में जो व्युत्पन्न नहीं है† यजुर्वेद को जो धारण नहीं करता और जो सामवेद का ज्ञाता नहीं है वह इस प्रकार भाषण नहीं कर सक्ता, निस्सन्देह इन्होंने सम्पूर्ण व्याकरण बारम्बार (अपने गुरु से पढ़ा है) सुना है, (अपने भाषण में) बहुत से शब्दों को प्रयुक्त कर भी कोई अशुद्धि इन्होंने न की । इन के मुख, नेत्रों,

---

* शबरी एक नीच कुलोत्पन्न स्त्री थी परन्तु महर्षियों के उपदेश से योग साधन में तत्पर हो महायोगिनी वा सिद्धा हो गई थी जिस से पता लगता है कि श्री रामचन्द्र जी के समय नीच से नीच कुलोत्पन्न पुरुष स्त्रियों के लिए भी उन्नति का मार्ग खुला हुआ था। आज कल की भांति नीच कुलोत्पन्नों पर सामाजिक अत्याचार नहीं होता था ।

† नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः । नासामवेदविदुषः शक्य मेवं विभाषितुम् ॥ नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम् । बहुव्याहरतानेन न किञ्चिदपशब्दितम् ॥ न मुखे नेत्रयोश्चापि ललाटे च भ्रुवोस्तथा । अन्येष्वपि च सर्वेषु दोषः संविदितः क्वचित् ॥ एवं विधो यस्य दूतो न भवेत् पार्थिवस्य तु । सिद्ध्यन्ति हि कथं तस्य कार्य्याणां गतयोऽनघ ॥ किष्किन्धा ३।२८, २९, ३०, ३४ ।

ललाट वा भृकुटियों तथा अन्यान्य सब अंगों में भी कोई दोष (कपट) दीख न पड़ा इस प्रकार का दूत जिस राजा का न हो, हे लक्ष्मण ! उस के कार्य किस प्रकार सिद्ध हो सक्ते हैं ?

श्रीराम के कथनों के अनन्तर लक्ष्मण ने हनूमान् से कहा हम लोग सुग्रीव के मिलने के लिए ही इस पर्वत पर चढ़ रहे हैं । तब हनूमान् दोनों भाइयों को सुग्रीव के पास लाए सुग्रीव और श्रीराम के बीच मैत्री स्थापित हुई तब दोनों मित्रों ने एक दूसरे से अपना २ दुःख सुनाया । आकाशयान से सीता के गिराए हुए वस्त्राभूषण सुग्रीव से पा श्री राम ने उन्हें छाती से लगा रुदन किया पुनः शान्त हो भावी कार्यों का विचार करने लगे ।

हनूमान् और उन के सहचर मनुष्य थे, पूंछवाले वानर नहीं—कौन सत् असत् का विवेकी पुरुष ऐसा है जो विद्याव्रतस्नातक श्रीरामचन्द्र जी की इस सम्मति को पढ़ कर कि हनुमान् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अखिल व्याकरणशास्त्र के ज्ञाता थे यह कह सके कि हनूमान् वानर थे ? क्या परमात्मा की सृष्टि में कहीं भी ऐसा नियम दिखाई देता है जिस से अनुमान किया जाय कि वानर भी वेदों का ज्ञान धारण कर सक्ता है ? अतः निश्चय है कि वैदिक ज्ञानों के धारण करने वाले हनूमान् तथा सुग्रीवादि पूंछ वाले वानर नहीं थे । अभी थोड़े दिनोंकी बात है कि जब रूस और जापानियों का युद्धारम्भ हुआ था तो जापानियों की कूद फांद देख रूसियों ने उन का नाम "Yellow Monkeys" "पीले बन्दर" रख दिया था (जापानियों का रंग कुछ पीला होता है) । यह शब्द जापानियों के लिए वर्षों तक रूस में व्यवहृत होता रहा । Russian bear रूसी भालू ऐसे शब्द हैं जिन्हें आज भी सब यूरोप वाले तथा अन्यान्य कई देशों के लोग व्यवहृत करते हैं । British Lion बृटिशसिंह वा John Bull जान बैल ऐसे शब्द हैं जो बराबर अंगरेजों के लिए व्यवहृत होते हैं । नागवंशी क्षत्रिय प्रसिद्ध हैं जिन के वंश में ही छोटा नागपुरादि के कई महाराज हैं जो अपने को साभिमान "नाग" कहते हैं क्या वे नाग अर्थात् सर्प हैं ? नहीं नाग की तरह क्षात्र क्रोध धारण करने के कारण उन का वंश नाग कहलाता है । एवं विशेष स्फूर्त होने के कारण सुग्रीवादि के सहचर तथा अनुचरादि वानर कहलाते थे महर्षि वाल्मीक के वास्तविक भावों को नसमझ भारत में जब कि अद्भुत गाथा वर्णनकी शैली पुराणों के समय से प्रचरित हुई

तब हनूमान् सुग्रीवादि के नामों के साथ अद्भुत गाथाएं बढ़ाई गई। क्या कभी ऐसा हो सक्ता है कि वानर जाति की राजधानी किष्किन्धा का वर्णन मनुष्यों की एक समृद्ध शालिनी राजधानी जैसा रामायण में विद्यमान हो और फिर उस के निवासी और राज-कार्य्य संचालक पूंछों वाले वानर माने जांय ? काव्य की शैली है कि किसी के नाम को भी उस के पर्याय वाची शब्दों से पुकारते हैं इसी कारण वानर के स्थान में कप्यादि का भी रामायण में प्रयोग है। अन्यान्य काव्यों में भी विश्वामित्र के लिए सर्वमित्र तथा दशरथ के लिए पंक्तिरथ व्यवहृत हुए हैं।

बाली बध और सुग्रीव का राज्याभिषेक—सुग्रीवादि वानरों से बाली के घोर पापों के वृत्तान्तों को श्रवण कर श्रीरामचन्द्र जी ने निश्चित किया कि अपने छोटे भाई सुग्रीव के जीते हुए उन की स्त्री रुमा को हरण कर उसे अपनी स्त्री बनाने वाला बाली राजव्यवस्थानुसार बधदण्ड योग्य है। बस इस निश्चय के अनन्तर ही बाली को मार डाल ने के विचार से श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण तथा सुग्रीवादि पांच वानरों सहित किष्किन्धा की ओर चले और थोड़ी ही देर में उक्त नगर के द्वारपर पहुंचे। सुग्रीव ने बाली को युद्ध के लिए ललकारा बाली आया घोर युद्ध हुआ परंतु सुग्रीव भयभीत हो भागे और बाली, अपने राज महल में चला आया। पुनः सुग्रीव से मिल श्री राम ने पहचान के लिए सुग्रीव को एक माला धारण करवाया, सुग्रीवादि पूर्ववत् पुनः किष्किन्धा द्वार पर पहुंचे, सुग्रीव ने पुनः युद्ध के लिए बाली को ललकारा, बाली पुनः आ सुग्रीव से घोर युद्ध करने लगा जब कि वृक्ष की ओट से श्रीराम ने उसे एक बाण ऐसा मारा कि बाली पृथिवी पर गिर पड़ा उस ने श्री राम को छिप कर मारने के कारण अनेक धिक्कारें दीं परंतु श्री राम ने उसे समझाया कि राज्यव्यवस्थानुसार अनुजभार्याभिमर्श का तू दोषी था जिस दोष का दण्ड वध है तुझे जानना चाहिए था कि तू अपने उक्त अपराध के कारण एक न एक दिन माराजायगा परंतु मदान्ध होने के कारण इस परिणाम की ओर तेरा ध्यान न था। तू इक्ष्वाकु वंशज महाराजाओं की प्रजा है अतः यदि मैं तुझे दण्ड न देता तो स्वयं पाप का भागी बनता, तू अपने पापों की ओर ध्यान दे! श्री राम के वचन सुन बाली की आंखें खुल गईं उस ने अपने पापों के कारण घोर पश्चात्ताप किया, तब श्रीराम ने उस से कहा तू दण्ड पाकर पापमुक्त हो गया अब तू अपने पापों के लिये चिन्ता न कर। तब बाली ने कहा मैं आशा करता हूं कि आप मेरे पुत्र अङ्गद पर

कृपा दृष्टि रक्खेंगे, श्री राम ने कहा सुग्रीव तथा हम दोनों तुम्हारे अङ्गद के साथ वैसा ही बर्ताव करेंगे जैसा कि तुम अङ्गद के साथ करते थे ।

यह सब बातें जब कि इधर हो रहीं थीं बाली के घायल होने का समाचार उसकी धर्म्मपत्नी तारा के कानों में पहुंचा और वह रोती विलापती सीधे अपने पति की ओर चली अङ्गद और उन के योद्धा गण भी साथ चले । वानरों ने कहा इस समय शीघ्र ही अङ्गद को राजसिंहासन पर बैठा नगर की रक्षा में सब योद्धाओं को उद्यत हो जाना चाहिए मरते हुए बालि के निकट जाने से कुछ लाभ न होगा । तारा बोली मुझे अङ्गद वा राज्य वा तुम से क्या काम जब कि मेरा पति परलोक यात्रा के लिए तय्यार है । यह कहती और रोती हुई तारा अपने पति के समीप पहुंची और उस की दुर्दशा देख शोकाकुल हो पृथिवी पर गिर पड़ी पुनः सुधबुध सम्भाल पुकारने लगी "स्वामिन् ! बोलते क्यों नहीं वीरेन्द्र ! अपनी रुदन करती हुई पत्नी के पुकारों को क्यों नहीं सुनते ! उत्तर क्यों नहीं देते ! अङ्गद भी पिता के समीप खड़ा हो फूट २ कर रोरहा था । यह हृदय विदारक दृश्य सुग्रीव से देखा न गया और वह दौड़ कर वालि के समीप पहुंचे और रोने लगे । वालि अभी तक मरा नहीं था यह सब रुदन सुन किसी प्रकार बड़े साहस से सावधान हो कर कहने लगा "सुग्रीव! मैंने जितना तुम्हें सताया उस का बदला मुझे मिल गया, हम दोनों भाइयों के भाग्य में यही था कि जीते जी भ्रातृस्नेह का सुख नहीं भोगें अस्तु कर्म्म फल बड़ा प्रबल है उसे कौन टार सक्ता है ? मैं आशा रखता हूं कि तुम प्यारे अङ्गद को पुत्रवत् रखोगे, यह जब पूर्ण युवा हो जायगा तो तुम्हारे जैसा ही पराक्रमी हो तुम्हें पूरी सहायता देगा तुम्हें उचित है कि सुशेन की पुत्री तारा की सम्मति विरुद्ध कोई कार्य्य न करो क्योंकि वह विदुषी और ठीक सम्मति देने वाली है राम के साथ जो प्रतिज्ञा तुमने की है उसे भली भांति निबाहने का यत्न करना। सुग्रीव इन वचनों को सुन शोकमय हो गए द्वेषभाव का चिन्ह भी उन के हृदय में न रहा और बोले ! भ्रातृवर जैसी कुछ आप आज्ञा देते हैं तद्वत् ही कार्य्य होगा । तदनन्तर वाली ने अङ्गद को संतोष दिया और कहा कि सदा सुग्रीव की आज्ञा में रहना । इतना कह वाली का आत्मा शरीर छोड़ निकल गया । बानरराज की मृत्यु से बानर समूह शोका-कुल होगया तब श्रीरामचन्द्र जी ने सब के शोक दूर करने के लिए उपदेश किया जिससे कुछ ढाढस बांध बानरों ने बालि की दाह क्रिया की और तदनन्तर सब के सब श्री-राम के निकट पहुंचे तब हनुमान ने श्रीराम से निवेदन किया कि आप की कृपा से सुग्रीव

का सब कार्य सिद्ध हुआ अब आप नगर में पधार इन्हें राजा बनायें । श्रीराम ने उत्तर दिया चौदह वर्षों तक मैं अपनी प्रतिज्ञानुसार नगर में नहीं जासक्ता आप लोग जायें सुग्रीव को राजा और अङ्गद को युवराज बनायें यह मास श्रावण का है वर्षा ऋतु है आप की सेनायें इधर उधर जा नहीं सक्तीं तब तक मैं निकट-वर्ती पर्वत पर समय बिताऊंगा जब चार मास बीत जांय तब आप लोग मेरे कार्य्य के लिए यत्न आरम्भ करें ।

यह सुन सुग्रीवादि नगर में पहुंचे और सुग्रीव के राज्याभिषेक की तैयारी होने लगी । सुवर्ण जटित श्वेत छत्र, सुवर्ण मूठ की चँवरी, हेमदण्ड वाल व्यजन यज्ञ की सब सामग्री , सब प्रकार के रत्न तथा उत्तमोत्तम वस्त्राभूषण और भिन्न २ पात्रों में विविध प्रकार के जल इत्यादि राज्याभिषेक की सब सामग्री जब एकत्रित होगई ।

ततस्ते वानर श्रेष्ठमभिषेक्तुं यथा विधि ।
रत्नैर्वस्त्रैश्चभक्ष्यैश्च तोष यित्वाद्विजर्षभान् ॥ कि० २६ । २९ ॥
ततः कुशपरिस्तीर्ण समिद्धं जात वेदसम् ।
मन्त्रपूतेन हविषा हुत्वामन्त्र विदोजनाः ॥ कि० २६ । ३० ॥

तब सुग्रीव को यथाविधि अभिषिक्त करने के लिए वानरों ने ब्राह्मणों को रत्न वस्त्र तथा खाद्य वस्तुओं को दान दे सन्तुष्ट किया तदनन्तर कुशा विधिवत् बिछाई गई, (यज्ञकुण्ड में) अग्नि प्रज्वालित की गई और वेदज्ञ पुरुषों ने वेदमंत्रों से पवित्र कर हविष की आहुति दी ।

तदनन्तर वेद मन्त्रों से ही सुग्रीव राज्यासन पर बिठाए गए तब सुवर्ण घटों में जो जल भरा हुआ था उसे वानरों के मुखियों ने सुग्रीव के शीश पर डाला तब शास्त्र विधि से गज, गवाक्ष, गवय, शरभ गन्धमादन, मैन्द, द्विविद, हनूमान्, जाम्वान् ने सुगन्धियों से सुग्रीव का अभिषेक किया और सुग्रीव नियमानुसार राजा बनाए गए तदनन्तर अङ्गद का अभिषेक युवराज पद के लिए हुआ इस समय यह देख सब नगर निवासी प्रफुल्लित हो गए और

हृष्टपुष्टजनाकीर्णा पताकाध्वजशोभिताम् ।
बभूवनगरीरम्या किंष्किन्धागिरिगह्वरे ॥ कि० २६ । ४१ ॥

हृष्ट पुष्ट जनों से भरी हुई पताका और ध्वजाओं से सुशोभित किष्किन्धा

नगरी जो गिरि गह्वर में चतुर्दिक से पर्वतों से घिरी हुई और नीची भूमि में बसी हुई थी मनोहर बनगई *

इधर तो सुग्रीव राज करने लगे और उधर प्रस्रवण पर्वत के तपोवन में श्रीराम लक्ष्मण सहित निवास करने लगे। जब वर्षा ऋतु समाप्ति पर आई तब भोग विलास में डूबे हुए सुग्रीव को हनूमान् समझाने लगे कि अब सावधान हो जाओ श्रीराम के कार्य्य सिद्धि के लिए यत्न करो तदनुसार सुग्रीव सन्नद्ध हो नील से कहने लगे कि हमारी सेनाएं जहां २ हैं जो राज सीमाओं पर हैं तथा जो अन्यत्र हैं उन सब को पन्द्रह दिनों के भीतर राजधानी में पहुंचने की आज्ञा दो और दूतों से विस्पष्ट कह दो कि जो पन्द्रह दिन के भीतर यहां नहीं पहुंच जायगा उसे बध दण्ड मिलेगा।

उधर चार मासों के समाप्त होने पर सुग्रीव को अपने निकट आया न देख श्रीराम सीता के लिए पुनः विशेष चिन्तित हुए और लक्ष्मण भाई की आज्ञा से किष्किन्धा में पहुंचे। लक्ष्मण को क्रुद्ध देख वानर डरे। सुग्रीव इस समय कोई मादक द्रव्य पी मस्त थे अतः उन्हों ने तारा को लक्ष्मण से बातें करने के लिए भेजा। सुग्रीव के परामर्शानुसार तारा लक्ष्मण की ओर चली जिस के निकट पहुंचते ही लक्ष्मण ने शीश नीचा कर लिया और उन का क्रोध भी जाता रहा † तारा कहने लगी राजकुमार तुम क्रुद्ध क्यों हो, किस ने तुम्हारी आज्ञा उलंघन करने का साहस किया है? सुग्रीव ने तो अपने दूतों को चारों ओर भेज दिया है और अपनी सेनाओं को एकत्रित होने की आज्ञा दे दी है, सेनाओं के एकत्रित होते ही वह श्रीराम की सेवा में पहुंचने वाले हैं। तारा और लक्ष्मण बातें कर ही रहे थे जब कि सुग्रीव सावधान हो पहुंचे और लक्ष्मण से कहने लगे लक्ष्मण! हम श्रीराम के उपकारों को नहीं भूल

---

* कैसे कोई कह सकता है कि जिस सुग्रीव के राज्याभिषेक के समय यज्ञादि अभिषेक सम्बन्धी सब कर्म प्रायः क्षत्रियराजाओं के अभिषेक जैसे हुए, वह सुग्रीव मनुष्य नहीं प्रत्युत पूंछों वाला बन्दर था? और ध्वजा पताकादि से सुशोभित किष्किन्धा पुरी के रहने वाले पूंछों वाले बन्दर थे?

† अवाङ् मुखोऽभून्मनुजेन्द्र पुत्रः स्त्री संनिकर्षा द्विनिवृत्तकोपः॥ कि० ३३। ३९
इस से सिद्ध होता है कि रामायण के समय के आर्य्य वीरगण स्त्री का इतना सन्मान करते थे कि उस के मुख की ओर देखना अनुचित समझने और क्रुद्ध होने की दशा में भी स्त्री के निकट आजाने पर शान्त हो जाते थे।

सक्के, यदि हम ने कुछ असावधानी की है तो क्षमा करो, एवं अनेक बातें कह सुग्रीव ने लक्ष्मण को प्रसन्न कर लिया और अपने यूथपों तथा मन्त्रियों को साथ ले लक्ष्मण सहित श्रीराम की सेवा में पहुंचे और श्रीराम को प्रणाम किया। श्रीराम ने सुग्रीव को अपनी छाती से लगा लिया और राजनीति विषयक अनेक बातें उन्हें समझाया।

सीता की खोज के लिये वानरों की यात्रा—नियत समय पर ही सुग्रीव की सारी सेना एकत्रित होगई जिसे विभक्त कर सीता की खोज के लिए सुग्रीव चारों ओर भेजने लगे। जो सेना दक्षिण दिशा को जाने लगी उस के साथ नील, अङ्गद, हनुमान् और जाम्बवान् चले। सुग्रीव ने हनुमान को विशेष रीति से समझाया और श्रीराम ने इन्हें अपने हाथ की मुद्रिका जिस पर राम नाम खुदा हुआ था दिया और कहा कि हमें पूरी आशा है कि आप लोगों के परिश्रम से हमारा कार्य्य सिद्ध होगा।

सब सेनाएं अपने २ सेनापतियों सहित नियत दिशाओं को चल पड़ीं और सीता को खोजने लगीं।

दक्षिण दिशा की ओर जाने वाली सेना अनेक पर्वत, श्रृंगों, गिरी, गुहाओं निबिड़ बनों, नदिओं के किनारों, प्राकृतिक सरोवरों के तीर तथा अनेक अन्यान्य स्थानों में खोजती हुई एक वार भूखी प्यासी घोर चिन्ता से पीड़ित अपने मार्ग पर जारही थी जब कि एक गह्वर (गुफ़ा) में से बहुत से जल पक्षी उड़ते हुए दीख पड़े बानर सेना ने समझा कि यह किसी जलाशय से ही आते होंगे अतः अपनी प्यास बुझाने की इच्छा से यह सेना उसी गुफ़ा में घुसने लगी थोड़ी देर तक अन्धकारावृत्त मार्ग से चलती हुई यह सेना एकाएक अति सुन्दर प्रकाशमय उद्यान में जा पहुंची जहां के फल फूलों से लदे हुए वृक्षों की शोभा, निर्मल जलाशयों तथा छोटे २ सोतों से बहते हुए अति स्वच्छ जल तथा जलाशयों के किनारों पर के अति रम्य बने हुए बैठने के स्थान तथा सोने और मणि जालों से खचित अत्युच्च भवन, तथा चांदी सोने आदि के बने हुए कृत्रिम वृक्ष और फूल फलादि की महती शोभा देख बानर सेना चकित होगई और वहां मृगचर्मधारिणी एक तपस्विनी को बैठी देख वानरों ने प्रणाम किया और हनुमान् ने पूछा कि हे महाभागे हम लोग इन प्राकृतिक तथा कृत्रिम स्वर्णमय वनों और इन मनोहर भवनों और जलाशयों तथा

उन के जन्तुओं को देख आश्चर्य्यमय हो रहे हैं, कृपया बतलाएं कि ये सब किनके निर्मित किए हुए हैं और आप कौन हैं । उस तपस्विनीने कहा कि बहुत दिन हुए परम प्रवीण शिल्पी मय नाम दानव ने इन सब की रचना की थी मेरा नाम स्वयंप्रभा है। आप लोग भी बतलावो कि कौन हो और कैसे इस निर्जन स्थान में आए, परन्तु यह सब कहने के पूर्व यहां के फलों और जल से अपनी भूख प्यास बुझालो। बानर तो भूखे प्यासे थे ही आज्ञा पाते ही सब फल खा जल पी तृप्त होगए और पुनः उस तपस्विनी के निकट पहुंचे। हनूमान् ने सीताहरण और श्रीराम और सुग्रीव की मैत्री भी तथा सीता की खोज में बानर सेना के प्रस्थान की कथा संक्षिप्त रीति से कही और यह भी निवेदन किया कि हमलोगों के योग्य जो आप की सेवा हो सो बतलावें। तपस्विनी ने उत्तर दिया कि मैं अपने धर्म्म में परायण रहती हुई किसी प्रकार की कामना नहीं रखती। तब हनूमान् ने कहा कि हमलोग अपना मार्ग सर्वथा भूल गये हैं आप कृपया ऐसी युक्ति बतलाएं कि हमलोग शीघ्र ही इस गह्वर से निकल सीता की खोज में प्रवृत्त हो जावें। तापसी ने दया कर वैसा ही किया और बानरदल उस गह्वर से निकल आया *

यह बानर दल सीता को खोजता हुआ जब समुद्र के किनारे पहुंचा तो इसकी गति रुक गई। समुद्रपार लङ्का थी जहां जाना आवश्यक समझागया। लङ्का कोई कैसे जाय इस विषय पर विचार होने लगा। भिन्न २ कई बानर जब अपनी सम्मति दे चुके तब जाम्बवान् ने हनूमान् से कहा कि तुम इतने ज्ञानी और बलवान् होकर मौन क्यों धारण कर रहे हो तब हनूमान् ने कहा कि यदि आप लोगों की सम्मति हो तो मैं यह कठिन काम अपने हाथों में लेने को तयार हूं, मेरी भुजाओं में इतनी शक्ति है कि मैं समुद्रपार हो लङ्का को जा सकूं। यह सुन बानर बड़े प्रसन्न हुए और निश्चित किया कि हनूमान् ही लङ्का जांय तदनुसार हनूमान् समुद्र में कूद पड़े और तैरने लगे।

---

*स्वयंप्रभा तथा उस के अद्भुत भवन का वृत्तान्त किष्किन्धा काण्ड, सर्ग ५०,५१ तथा ५२ में है। इन सर्गों में प्रक्षिप्त श्लोकों का इतना भरमार है कि असल श्लोकों को प्रक्षिप्त श्लोकों से पृथक् करना अत्यन्त कठिन हो रहा है।

हनूमान् का समुद्र में तैरना—

एष पर्वतसंकाशो हनूमान् मारुतात्मजः ।
तितीर्षति महावेगः समुद्रं वरुणालयम् ॥ सुं० १ । २७ ॥
सागरस्योर्मिजालानामुरसा शैलवर्ष्मणा ।
अभिघ्नंस्तु महावेगः पुप्लुवे स महाकपिः ॥ सुं० १ । ६७ ॥
विकर्षन्नूर्मिजालानि बृहन्ति लवणाम्भसि ।
पुप्लुवे कपिशार्दूलो विकिरन्निवरोदसी (सुं० १ । ६९ ॥) ।
मेरुमन्दरसंकाशानुद्गतान् सुमहार्णवे ।
अत्यक्रामन्महावेगस्तरङ्गान् गणयन्निव ॥ सुं० १ । ७० ॥
तस्य वेगसमुद्घुष्टं जलं सजलदं तदा ।
अम्बरस्थं विबभ्राजे शरदभ्रमिवाततम् ॥ सुं० १। ७१ ॥

पर्वत के समान दृढ़ हनूमान्, महावेगवान्, (मानो वेगवान् वायु के पुत्र ही हों) वरुणालय (समुद्र) को तैरने लगे । पर्वतशिला की तरह सुन्दर दृढ़ अपनी उरसा अर्थात् छाती से समुद्र के तरंगों पर धक्का देते हुए महावेगवान् कपि तैरने लगे, (महान् खारे जल में) अर्थात् महासागर में लहरों की जाला को चीरते हुए कपिशार्दूल उसी प्रकार (वेग से) तैरने लगे जैसे कि आकाश में फेंकी हुई कोई वस्तु (जा रही हो) वा द्यावा पृथिवी आकाश में चल रहे हों । उस समुद्र में मेरुमन्दर (पर्वतों) के समान उठे हुए तरंगों को गिनते हुए के समान महावेगवान् हनूमान् लंघ गया (तैरगया) । उस समय (उस के तैरने के) वेग से ऊपर को फैंका हुआ जल मेघ के साथ आकाश में ऐसा शोभने लगा जैसा कि फैला हुआ शरद् ऋतु का अभ्र वा बादल (हनूमान् के तैरने से पानी के छींटे बहुतायत से जो ऊपर उठते थे उन्हीं का समूह मेघवत् प्रतीत होता था; ऐसा भी ज्ञात होता है कि तैरने के समय मेघ भी छाए हुआ था) ।

इस प्रकरण में बहुत से श्लोक ऐसे भी हैं जिन से प्रतीत होता है कि हनूमान् उड़ते हुए जाते थे परन्तु उस का भावार्थ यह है कि हनूमान् बड़े वेग से जाते थे । अंगरेज़ी भाषा में भी “फ्लाई” शब्द जिस का अर्थ “उड़ना” है “विशेष शीघ्रता के साथ चलने” के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ करता है । परन्तु “उड़ने”

के तात्पर्य्य को न समझ पीछे से लोगों ने इस प्रकरण में बहुत से श्लोक ऐसे भी प्रक्षिप्त कर दिए हैं जिन से प्रतीत हो कि हनूमान् सचमुच आकाश में ही उड़ रहे थे। परन्तु हनूमान् मनुष्य थे पक्षी नहीं और विना पंख वाले को आकाश में उड़ना सृष्टि–नियम विरुद्ध है (और वहां यह भी नहीं लिखा है कि हनूमान् किसी आकाश यान पर जा रहे थे) अतः यही सिद्ध होता है कि समुद्र में हनूमान् के बड़े वेग से तैरने को ही उड़ने के साथ उपमा दी है। हनूमान् लङ्का से लौटते हुए भी समुद्र तैर कर ही भारत में आए। हनूमान् के इस तैरने को इस प्रकार वर्णन किया गया है:—

अपारमपरिश्रान्तश्चाम्बुधिं समगाहत ।
हनूमान् मेघजालानि विकर्षन्निवगच्छति ॥ सुं० ५७ । ६ ॥

अर्थात् समगति से जाने वाले विना थके हुए हनूमान् अपार सागर को (अपार सागर के जल को) आहत करते हुए, नील मेघजाला की तरह समुद्र जाला को काटते हुए जाने लगे।

इस समय लङ्का और भारत के बीच ५८ मील का अन्तर है। भारत और लङ्का के बीच मनार तथा रामेश्वर नाम दो टापू हैं जो पैंतीस मील हैं अतः समुद्र भाग केवल २३ तेईस मील है, (देखिए इन्टरनेशनलजियाग्रफी पृष्ठ ५०४) उस समुद्र भाग में भी जल बहुत थोड़ा रहता है जब कि फ्रांस और इंगलैंड के बीच को इंगलिश चैनेल नाम खाड़ी को जिस की चौड़ाई प्रायः २१ इक्कीस मील है) कई बलवान् तैराक पुरुष तैर जाते हैं तो हनूमान् जैसे वीर बालब्रह्मचारी तैराक का भारत और लङ्का के बीच के २३ मील समुद्र भाग का तैरना कदापि असम्भव नहीं माना जा सक्ता।

महाशय, सी. वी. वैद्य, एम. ए. ने जो यह लिखा है कि हनूमान् समुद्र फांद-कर भारत से लङ्का गए वह सर्वथा अयुक्त है क्योंकि २३ मील समुद्र को एक छलांग में पार हो जाना असम्भव है।

इधर तो वानरसमूह हनूमान् के लङ्का से लौटने की बाट देखने लगे और उधर हनूमान् समुद्र पार हो लङ्काद्वीप के किनारे जा लगे। थोड़ा दूर चलने के पश्चात् उन की दृष्टिः—

की ओर जो पड़ी तो उस की शोभा देख विस्मित हो गए । देखा कि लङ्कानगर के चारों ओर खाई खुदी हुई है और खाई के पार परकोटा नगर के चारों ओर खींचा हुआ है, अत्युच्च विशाल भवन हलके पीले रंगों के खड़े हैं जिन गृहों के शिखरों पर ध्वजा पताकाएं लहरा रही हैं, उन घरों की दीवारें सुवर्ण मय लतापंक्तियों से चित्रित हैं, प्राकार के बीच २ में उच्च वप्रों पर शतघ्नियां * (तोपें) चढ़ी हुई हैं, यथास्थान यन्त्रागार भी स्थित हैं † ऐसी लङ्का को नगर के उत्तरद्वार से देखते हुए हनूमान् चकित हो गए और मन ही मन कहने लगे कि ऐसे दुर्गम दुर्ग पर चढ़ाई करने से क्या लाभ होगा ?

ज्यों ही अंधियाली हुई हनूमान् छिप कर नगर में घुस गए और सीता को खोजने लगे । ढूंढ़ते २ वह अशोकवाटिका में पहुंचे जहां राक्षसियों के रङ्ग से भिन्न एक कृशानन सुन्दरी शोकमय दशा में बैठी हुई थी । हनूमान् दूर एक वृक्ष पर छिप गए । नियमानुसार रावण अपनी बातें सीता को सुना गया, राक्षसियां भी उन्हें भय-भीत कर दूर जा सोईं । तब हनूमान् संस्कृत से बिगड़ी हुई एक भाषा ‡ में राम-गुण गान करने लगे (क्योंकि हनूमान् समझते थे कि यदि वह संस्कृत में भाषण करेंगे तो महाराणी सीता यह समझ कि यह रावण बोल रहा है भयभीत हो जायंगी) । सीता रामगुण गान सुन चकित हुई और इधर उधर देखने लगी, फिर हा राम ! हा लक्ष्मण ! कहती हुई धीरे २ रोने लगीं तब हनूमान् सीता के निकट पहुंचे और हाथ जोड़ कहने लगे "हे देवि ! मुझ से डरिए मत रामगुणगान करने वाला मैं राम का दूत हनूमान् हूं, लीजिए उन की दी हुई यह अंगूठी" । अंगुठी देख सीता का हृदय हर्षमय हो गया, उन्होंने विश्वास कर हनूमान् से श्रीराम लक्ष्मण का सब वृत्तान्त पूछा और हनूमान् ने उन सब बातों को सुनाया जिस प्रकार सीता के वियोग से श्रीराम दुखी हैं, जिस प्रकार सुग्रीव से उन की मैत्री हुई इत्यादि । तब सीता ने कहा क्या भरत और सुग्रीव अपनी सेनाएं ले कर लङ्का पर चढ़ाई नहीं कर सक्ते,

---

* शतघ्नीशूलकेशान्तामट्टालकावतंसकाम् ॥ सुन्दर २ । २१ ॥

† यन्त्रागारस्तनो मृद्धाम् ॥ सुं० ३ । १८ ॥

‡ यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम् ।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति ॥ सुं० ३० । १८ ॥

रावण ने केवल दो मास और मुझे जीती छोड़ने की प्रतिज्ञा की है तदनन्तर वह मुझे मार डालेगा । हनूमान् ने श्री जानकीजी से कहा आप का पता मिल गया अब शीघ्र ही लङ्का पर चढ़ाई होगी, आप भी मुझे कोई चिन्ह दीजिए जिसे मैं श्री राम को दिखा सकूं । सीता ने एक चूड़ामणि हनूमान् को दी और हनूमान् उसे ले और सीता की प्रदक्षिणा कर वहां से चले और अति भूखे होने के कारण लङ्का की एक वाटिका में फल खाने लगे, राक्षसों ने कोलाहल किया जिन से हनूमान् की लड़ाई हो पड़ी । अन्त को मेघनाद हनूमान् को पकड़ रावण की सभा में लेगया जहां निश्चित हुआ कि इसे कुरूप बना छोड़ दिया जाय । तदनुसार राक्षसों ने उन्हें कुरूप बना, लङ्का फिरा छोड़ दिया * हनूमान् लङ्का से जाते नगर में आग लगा गए और सीता को पुनः प्रणाम कर पुनः समुद्र के किनारे आन पहुंचे और जिस प्रकार समुद्र को तैर कर पहले आए थे उसी प्रकार "अपारमपरिश्रान्तश्चाम्बुधिं समगाहत । हनूमान् मेघजालानि विकर्षन्निव गच्छति" (सुं० ५७ । ६) समगति से जाने वाले विना थके हुए हनूमान् अपारसागर को (अपार सागर के जल को) आहत करते हुए, नीलमेघ की जाला की तरह समुद्रजाला को काटते हुए जाने लगे, और समुद्र पार हो चिन्तित वानरसमूह में जा पहुंचे । हनुमान् को देख और सीता का समाचार सुन वानरों के हर्ष की सीमा न रही, सब आनन्द पूर्वक खाते पीते श्रीराम की सेवा में पहुंचे । हनूमान् लङ्का का वृत्तान्त निवेदन करते हुए महाराणी सीता की दी हुई चूड़ामणि श्रीराम के हाथों में रखदियी । श्रीराम ने उस मणि को पहचान छाती से लगा लिया और सीता को स्मरण कर रुदन करने लगे, अन्त में शान्त हो हनूमान् को धन्यवाद दिया और यात्रा की तय्यारी कर सैन्यसहित समुद्र के किनारे पहुंच गए । और समुद्र पार होने के उपायों पर विचार करने लगे ।

उधर रावण शत्रु को शीश पर देख लङ्कारक्षा का यत्न करने लगा और विभीषण लङ्का में घोर अपमानित होने के कारण श्रीराम से आ मिले ।

समुद्र पर पुल—समुद्र पार होने के उपायों पर जब विशेष विचार हो

---

* सम्भव है कि हनूमान् को वानरजाति का सुन राक्षसों ने सचमुच उन्हें वानर के रूप में दर्शाने के लिए एक पूंछ का आकार उन के शरीर में बांध दिया हो और उस में आग लगादी हो ।

चुका तो अन्त में राजशिल्पी नील ने कहा कि हम भारत और लङ्का के बीच के सागर में पुल बांध देंगे। सब लोग यह सुन हर्षित हुए और वानर समूह आस पास के जङ्गलों से बड़े २ वृक्ष लाने लगे, पत्थरों की ढेरी भी एकत्रित होने लगी।

हस्तिमात्रान् महाकायाः पाषाणांश्च महाबलाः।
पर्वतांश्च समुत्पाट्य यन्त्रैः परिवहन्ति च ॥ युद्ध २२। ५६ ॥

महाकाय, महाबली, वानर (गण) यन्त्रों द्वारा पर्वतों को गिरा कर हाथी के बराबर २ पत्थरों को ढोने लगे * और नील की शिक्षानुसार इन सब वस्तुओं को समुद्र में डालने लगे। पांच दिनों में यह पुल † तैयार हो गया और श्रीराम सारी सेना सहित इस पुल से चल कर लङ्का के किनारे पहुंच गए और लङ्का पर आक्रमण करने की विधियों को सोचने लगे। पुनः श्री राम की सेना चार भागों में विभक्त हो लङ्का के चारों द्वारों पर पहुंच गई। अङ्गद को दूत बना भेजा गया ताकि अब भी रावण अपने पापों पर प्रायश्चित्त करे और युद्ध न हो। परन्तु रावण ने शान्ति की एक भी बात न मानी तब युद्धारम्भ हो गया।

---

* जब कि पर्वतों की शिलाओं को टुकड़े टुकड़े करने का यन्त्र वानरों के पास था तो बड़ी २ शिलाओं के ढोने का यन्त्र भी वानरों के पास होना असम्भव नहीं।

† जो लोग यह कहते हैं कि समुद्र में पुल बांधना सर्वथा असम्भव है उन्हें चाहिए कि भारत और लङ्का के बीच के समुद्र भाग का वर्णन किसी अच्छे भूगोल में देखें। इन्टर नेशनल जियाग्रफी के पृष्ठ ६०४ में मिल साहब जो लिखते हैं उस का सारांश यह है "लङ्का और भारत के बीच "मनार" नाम खाड़ी है। परन्तु मनार तथा रामेश्वर नाम टापुओं तथा मूंग वाले चट्टानों (जिन्हें "आदम का पुल" कहते हैं) के बीच में होने से भारत प्रायः लङ्का के साथ जुटा हुआ है। उक्त मूंग वाले चट्टानों के बीच कहीं भी इतना जल नहीं है जिस से कोई बड़ा जहाज़ निकल सके। लङ्का को रेलवेलाईन द्वारा भारत के साथ जोड़ देने के लिए सर्वे (पैमाइशें) हुई हैं जिस के अनुसार पैंतीस मील रेलवेलाईन मनार तथा रामेश्वर टापुओं पर, २२ मील रेलवेलाईन उक्त मूंग वाले चट्टानों पर और केवल एक मील रेलवेलाईन मनार की खाड़ी पर जिस में जल बहुत कम रहता है अर्थात् कुल ५८ मील रेलवेलाईन बनने वाली हैं" इस समय जब कि लोग लङ्का और भारत के बीच रेलवेलाईन को बनाने को तय्यार हैं तब श्री राम ने अत्यल्प जल वाले समुद्र भाग पर यदि पुल बना दिया हो तो इस में आश्चर्य्य ही क्या है। लङ्का और भारत के बीच का जो पथरीला भाग आदम के पुल के नाम से आज पुकारा जाता है उसे श्रीराम के पुल का भाग कहने में हम कभी भी हिचक नहीं सकते।

लङ्का का घोर संग्राम ।

* इन्द्रजीत अङ्गद से, प्रजंघ सम्पाती से, जाम्बूमाली हनूमान् से, गजपतन विभीषण से, निकुम्भ नील से, प्रघास सुग्रीव से, विरूपाक्ष लक्ष्मण से, अग्निकेतु श्रीराम से और अनेक अन्यान्य राक्षसयूथप अन्यान्य वानर यूथपों से युद्ध करने लगे। दिन भर लड़ाई होती रही, सन्ध्या समय युद्ध बन्द होना चाहिए था परन्तु राक्षसों ने अन्धकार से लाभ उठाना चाहा और दिन की अपेक्षा भी अधिक वीरता के साथ युद्ध करने लगे। अनेक वीर मारे गए और घायल हुए, अन्त में इन्द्रजीत ने एक छिपे स्थान से बाणों की वर्षा कर राम और लक्ष्मण को घायल कर दिया, और अपने विजय का समाचार रावण को जा सुनाया, सारी लंका में आनन्द होने लगा। इधर गरुड़ † ने आ श्रीराम लक्ष्मण की मूर्च्छा दूर कर दी तब तो रामदल में आनन्द हो गया, भेरी मृदङ्गादि आनन्दमय स्वर और तालों से बजने लगे। राम सेना पुनः युद्ध के लिए उद्यत हुई। द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम दिवस धूम्राक्ष, वज्रदंष्ट्र, अकम्पन तथा प्रहस्त ने रामदल के ऊपर चढ़ाइयां कीं दोनों ओर से घोर युद्ध हुए, हनूमान् ने क्रुद्ध हो धूम्राक्ष पर ऐसा प्रहार किया कि वह निर्जीव हो पृथिवी पर गिर पड़ा और अङ्गद ने तलवार से वज्रदंष्ट्र का शीश काट लिया, अकम्पन तथा प्रहस्त भी मारे गए। तब षष्ठ दिवस रावण विशेष कुपित हो बाण चलाने लगा, वानर सेना रावण से त्रसित हो भागने लगी, रावण ने सुग्रीव, हनूमान् तथा लक्ष्मण को भी घायल कर दिया तब श्रीराम रावण के सन्मुख आए और एक बाण उसकी छाती में ऐसा मारा कि वह बेसुध हो पृथिवी पर गिर पड़ा। श्रीराम यह कहते हुए कि गिरे हुए शत्रु का हम बध नहीं करते पीछे हटे और रावण भयभीत और लज्जित हो लङ्का में घुस गया। रामदल के घायल योद्धा भी इस समय तक सावधान हो गए थे अतः रामदल भी सन्ध्या हो जाने के कारण पीछे हटा।

सप्तम दिवस कुम्भकर्ण राक्षसी सेना सहित बानरदल पर चढ़ आया। प्रत्येक

---

* आगे कहे हुए प्रति दो नामों में से पहला नाम राक्षस का और दूसरा नाम रामदल के पुरुषों का है।

† रामायण में गरुड़ और श्रीराम की जो बातचीत लिखी हुई है उन से तो ज्ञात होता है कि गरुड़ कोई मानुषी भाषा बोलने वाला अतः मनुष्य था। गरुड़ के विषय में अनेक असम्भव बातें तथा युद्ध विषय में अनेक असम्भव बातें पीछे से जोड़ी हुई मालूम होती हैं।

वानर यूथप कुम्भकर्ण को दलित करने का यत्न करते रहे परन्तु प्रायः सभी कुम्भकर्ण के प्रहारों से घायल होते गए, लक्ष्मण ने भी कुम्भकर्ण का सामना किया परन्तु कुम्भकर्ण युद्ध करता हुआ आगे ही बढ़ता गया और अन्त में श्रीराम के निकट पहुंचा और घोर युद्ध करने लगा । परन्तु श्रीराम ने उसे मार पृथिवी पर गिरा दिया कुम्भकर्ण के मरते ही राक्षस सेना लङ्का को भागी और रावण को कुम्भकर्ण के वध का समाचार जा सुनाया ।

रावण भाई के वध पर घोर विलाप करने लगा, और कहने लगा कि शोक ! हम ने विभीषण के परामर्श को स्वीकार नहीं किया, परन्तु अब क्या, अवसर हाथ से चला गया, जब कि हमारा प्यारा भाई मारा गया तो अब हम जीकर क्या करेंगे, अब हमें आनन्द उल्लास से क्या मतलब, अब तो युद्धक्षेत्र में प्राणों को छोड़ना ही चाहिए । इस प्रकार विलाप करता हुआ रावण पुनः धैर्य्यधारण कर युद्ध की तैयारियां करने लगा । प्रातः होते ही आठवें दिवस नारान्तक, त्रिशिर और अतिकाय नाम महाबली राक्षसों को तथा अपनी सेना को रामदल से युद्ध करने के लिए भेजा परन्तु नारान्तक को अंगद ने, त्रिशिरा को हनूमान् ने और अतिकाय को लक्ष्मण ने मार डाला । इन राक्षसों के मारे जाते ही राक्षसों की सेना पुनः लंका में भाग छिपी और रावण को युद्ध का सब समाचार सुनाया ।

रावण अपनी सेना का पराजय सुन पुनः शोक करने लगा परन्तु इन्द्रजीत ने पिता को ढाढस दे नवम दिवस बड़ी सफलता के साथ युद्ध किया । उस दिन रात्रि के समय वानरदल ने उल्का बाल लंका पर चढ़ाई करदी और लंका में आग लगाने लगे, घोर संग्राम हुआ, युद्ध होते २ दिन हो गया, महाबली राक्षस को श्रीराम ने आग्नेयास्त्र से मार गिराया ।

ग्यारहवें दिवस इन्द्रजीत अपनी यज्ञशाला में * पहुंचा और हवन समाप्त कर युद्ध के लिए चल पड़ा थोड़ी देर युद्ध कर पुनः लंका में आया और सीता की एक मूर्ति अपने रथ पर रख पुनः रणक्षेत्र में पहुंच गया और सारी वानर सेना के सन्मुख उस मूर्ति का शिर काट डाला । रामदल ने समझा सीता मारी गई अतः बड़ा शोक किया परन्तु विभीषण ने असल बात लोगों को बतला जब यह सुनाया कि सीता जीवित है तब रामदल को संतोष हुआ ।

---

*यज्ञभूमौ स विधिवत् पावकं जुहवेन्द्रजित् ॥ युद्ध ८०। ९ ॥

वारहवें दिवस इन्द्रजीत पर चढ़ाई कर वानरों ने उस के राक्षसी यज्ञ को विध्वंस कर दिया, तेरहवें दिवस इन्द्रजीत ने पुनः घोर संग्राम किया परन्तु इस दिन यह लक्ष्मण के हाथ मारा गया। इन्द्रजीत की मृत्यु का समाचार सुन रावण की छाती टूट गई, उस ने बहुविधि विलाप किया परन्तु फिर रणक्षेत्र में मरना ही ठीक समझ अपनी सभा में अपने मुख्य मुख्य वीरों को एकत्रित कर, युद्धविषय में उन से परामर्श कर, अपनी सेना के साथ रणक्षेत्र को चला* वानरों ने राक्षसी सेना का सामना किया, घोर युद्धारम्भ हुआ। महोदर, महापार्श्व और विरूपाक्ष नाम तीन राक्षस सेनापती मारे गए तब रावण विशेष क्रुद्ध हो युद्ध करने लगा और एक कठिन अस्त्र विभीषण पर चला लक्ष्मण पर एक शक्ति छोड़ी जिस से लक्ष्मण घायल हो पृथिवी पर गिर पड़े और रावण सैन्यसहित लंका लो चला गया।

श्रीराम लक्ष्मण को गिरा देख बहुविधि विलाप करने लगे, सुग्रीव ने उन्हें बहुत समझाया, सुषेण नाम वैद्य लाए गए, हनूमान् सुग्रीव की आज्ञानुसार औषधी लाए, सुषेण ने उसे लक्ष्मण को दिया और लक्ष्मण पुनः सुध सम्भाल उठ बैठे, श्री राम ने उन्हें छाती से लगाया और वानर सेना की सब चिन्ता दूर हुई।

लक्ष्मण के घायल होने से रावण कुछ प्रसन्न हुआ था परन्तु उन के अच्छे हो जाने का समाचार सुन पुनः चिन्तित हुआ और पुनः श्री राम से युद्ध करने चला। रावण और राक्षस सेना के साथ श्रीराम और उन की सेना का घोर संग्राम हुआ। इस युद्ध का वर्णन रामायण में विस्तार पूर्वक दिया हुआ है। भारतवर्ष में यह बात अब तक प्रसिद्ध है कि राम रावण का जैसा युद्ध हुआ वैसा युद्ध राम रावण का ही हुआ अन्य किन्हीं का नहीं † अन्त में रावण के घोर युद्ध से श्रीराम विशेष क्रुद्ध हुए और एक विशेष अस्त्र को (जिसे महर्षि अगस्त्य

---

* नोटः– युद्ध काण्ड सर्ग ९५ पंचानवे में लिखा है कि रावण के योद्धा धनुष बाणों के सिवाय निम्नलिखित अस्त्र शस्त्रों से भी सुसज्जित थेः–

ऋष्टिभिः पट्टिशैः शूलैर्गदाभिर्मुसलैर्हलैः। शक्तिभिस्तीक्ष्णधाराभिर्महद्भिः कूटमुद्गरैः॥ यष्टिभिर्विविधैश्चक्रैर्निशितैश्च परश्वधैः। भिन्दिपालैः शतघ्नीभिरन्यैश्चापि वरायुधैः॥ युद्ध ९२। २५, २६॥

† युद्ध काण्ड के युद्ध प्रकरण में बहुत से प्रक्षिप्तश्लोक हैं जिन में सृष्टिनियम विरुद्ध वर्णनायें भरी हुई हैं। हम ने जो कुछ युद्ध का वर्णन लिखा है वह अति संक्षिप्त आशय मात्र है।

ने श्रीराम को दिया था) रावण पर छोड़ा । उस अस्त्र ने रावण के हृदय को विदीर्ण कर उसे पृथिवी पर गिरा दिया और रावण का प्राण शरीर से निकल गया रावण के गिरते ही राक्षसों की सेना भागी, और वानरों ने हर्षध्वनि की । *

विभीषणका राज्याभिषेक—रावण के मारे जाने पर मन्दोदरी आदि रानियों तथा विभीषण ने बड़ा विलाप किया, अन्त में रावण की अन्त्येष्टि क्रिया ब्राह्मणों ने विधिवत् कराई और पुनः विभीषण का राज्याभिषेक हुआ ।

सीताका पुनः दर्शन—श्रीराम की आज्ञानुसार हनूमान् सीता को श्री रामविजय का समाचार सुना आए, और पुनः विभीषण सीता को शिविका (पालकी) पर सवार करा श्रीराम के सन्मुख लाए । बहुत दिनों से विछुड़ी हुई सीता को पा श्रीराम बहुत ही प्रसन्न हुए और लक्ष्मण तथा वानर दल भी अपने परिश्रमों को पूर्ण सफल देख प्रमुदित हो गए । और सब ने उस रात विश्राम किया ।

लङ्का से अयोध्या को प्रस्थान—प्रात, होते ही विभीषण नाना प्रकार के रत्नजटित भूषण वस्त्रादि लिए हुए श्रीराम के समीप पहुंचे और कहा राघव ! इन सब को धारण करें । श्रीराम ने कहा जब कि प्यारे भरत हमारी चिन्ता में तप का जीवन व्यतीत कर रहे हैं हमें यह सब वस्तुएं किस प्रकार भा सक्ती हैं ? सुग्रीव आदि को वस्त्राभूषणों से सत्कृत करो, हमारे लिए तो ऐसा प्रबन्ध करो जिस में हम शीघ्र अयोध्या पहुंचें विभीषण ने कहा अयोध्या पहुंचने की चिन्ता न कीजिए मेरे पास पुष्पक विमान है उस पर अति शीघ्र आप अयोध्या पहुंच सक्ते हैं कुछ काल लङ्का में निवास कर हम लोगों को उपकृत कीजिए । श्रीराम ने कहा आप ने युद्ध में जैसी सहायता हमें दी है उसे हम नहीं भूल सक्ते हम भली भांति जानते हैं कि आप का प्रेम हमारे साथ कैसा है आप अब शीघ्र पुष्पक मंगाएं ताकि हम शीघ्र यहां से विदा हों, और इन वानरों का सत्कार द्रव्यादि से कीजिए जिन्हों ने अपने प्राण का मोह छोड़ कर युद्ध किया है विभीषण ने पुष्पक ला खड़ा किया और सब वानरों का पुष्कल द्रव्यों से यथा योग्य सत्कार किया

---

* श्रीराम और लक्ष्मण अपनी सेना को शत्रुसेना से कैसे लड़ाना चाहिए इस विद्या में राक्षसों से अधिक निपुण थे तथा आग्नेयास्त्र, वारुणास्त्र, वायव्यास्त्र, गन्धर्वास्त्रादि अनेक अस्त्रों दूर २ से भी शत्रु सैन्य पर अग्न्यादि बल से चलाए जाते थे उन के परिचालन में श्रीराम लक्ष्मण राक्षसों से विशेष व्युत्पन्न थे, इसी कारण श्रीराम राक्षसों पर विजयी हुए ।

यूथपों को विविध रत्न भी दिए श्रीराम यह सब देख प्रसन्न हुए और सीता को पुष्पक पर चढ़ा लक्ष्मण सहित आप उस पर चढ़ गए और उस पर बैठे ही बैठे कहने लगे हे सुग्रीव ! हे विभीषण ! तथा अन्यान्य वीरगण ! आप लोगों ने जो हमें सहायता दी है उस के लिए हम सदा आप के आभारी बने रहेंगे सुग्रीव आप किष्किन्धा में पहुंच कर और विभीषण लङ्का में सुख पूर्वक राज्य करें अब हम आप लोगों से विदा मांगते हैं । यह सुन विभीषण तथा सब वानर सेनापति तथा वानर दल बोल उठे कि हम लोग आप का राज्याभिषेक देखना चाहते हैं, माता कौशल्या को प्रणाम करना चाहते हैं हम लोगों को भी साथ ले चलिए । तब श्रीराम ने विभीषण तथा उन के मन्त्री, सुग्रीव तथा कई हरि युथपों को विमान पर चढ़ा लिया । जितने जन विमान पर बैठ सक्के थे उतने जब उस विमान पर बैठ चुके तब विमान चलाया गया ।

अनुज्ञातं तु रामेण तद्विमानमनुत्तमम् ।
हंसयुक्तं महानादमुत्पपात विहायसम् ॥ युद्ध १२३।१॥

राम की आज्ञा से (चलाए जाने पर) वह अत्युत्तम विमान जो हंसयुक्त था (अर्थात् जिस में हंस का आकार बना हुआ था) आकाश में उड़ता हुआ घोर शब्द करने लगा ।

श्रीराम सीता को आकाश से ही लङ्का, रणक्षेत्र, समुद्र, किष्किन्धा, ऋण्य-मूक, अनेक ऋष्याश्रम, चित्रकूट तथा गङ्गादि दिखाते हुए गूहनिषाद की राजधानी शृङ्गवेरपुर के निकट पहुंचे और वहां से हनूमान् को कई प्रकार की शिक्षाएं दे उन्हें अयोध्या के लिए रवाना कर दिया और आप महर्षि भारद्वाज के आश्रम में प्रयाग पहुंचे जहां अयोध्या का सब समाचार उन्हें मिल गया । उधर हनूमान् गूह निषाद से मिलकर और श्रीराम का समाचार सुना कर अयोध्या के निकट नन्दीग्राम में पहुंचे जहां भरत तापसवेष में निवास कर रहे थे, और हाथ जोड़ भरत से निवेदन करने लगे "हे देव ! जिन की चिन्ता करते हुए आप जटा चीर धारण कर रहे हैं वह श्रीराम दण्डकारण्य से सकुशल आ रहे हैं, रावण को मार सीता को पुनः प्राप्त कर लक्ष्मण, सीता तथा अपने मित्रों सहित आ रहे हैं ।"

भरत इन बचनों के सुनते ही आनन्द से मूर्च्छित हो गिर पड़े परन्तु शीघ्र ही संभल हनूमान् को अङ्क में लगा नेत्रों से आंसु बहाने लगे । पुनः हनूमान् से श्री

रामादि के समाचार विशेष पूछ, भरत ने शत्रुघ्न को आज्ञा दी कि अभी अयोध्या में जाओ और सहस्रों मनुष्यों को लगा कर नगर के पथादि को सुशोभित करादो । शत्रुघ्न ने वैसा ही किया । अयोध्यावासी श्रीराम के आगमन का समाचार सुनते ही आह्लादित हो गए और माता कौशल्यादि तथा मन्त्री दल सहित बहुत से पुरवासी नन्दीग्राम में पहुंच गए। देखते ही देखते पुष्पक आकाश से पृथिवी पर आ लगा* ।

श्रीराम का स्वागत और उन का अभिषेक—श्रीरामादि पुष्पक से उतरे और भरत श्रीराम के चरणों को छू प्रणाम करने लगे और श्रीराम ने भरत को उठा छाती से लगा लिया । पुनः भरत ने प्रणाम करते हुए लक्ष्मण को छाती से लगा सीता को प्रणाम किया । पुनः भरत, सुग्रीव, जाम्बवान्, अङ्गद, मैन्द, द्विविद नील, सुषेण, नल, गवाक्ष, गन्धमादन, शरभ, पनस तथा विभीषण से मिलते हुए उन के कुशल पूछने लगे और अन्यान्य भी परस्पर मिलने जुलने लगे । श्रीराम अनेक श्रेष्ठों को प्रणाम कर वहां पधारे हुए नगरनिवासियों के सन्मुख आए और नगरनिवासी हाथ जोड़ एक स्वर हो बोले "स्वागतं ते महाबाहो ! " तदनन्तर भरत ने उस पादुका के जोड़े को जिसे वह चित्रकूट से लाए थे श्रीराम के चरणों में पहना दिया और कहा कि आज मेरा जन्म कृतार्थ हुआ, अब आप अपने कोश, कोष्ठागारादि को देखें जिन्हें आप के प्रताप से हमने दशगुण कर दिया है † मेरी पूज्या माता ने आप के राज्य को मुझे दिलाया था उसे मैं पुनः आप को देता हूं। प्रजा की प्रार्थना को स्वीकार कर और राजभार (जिस भार से मैं दब रहा हूं) अपने हाथों में ले प्रजा को रञ्जित करें । श्रीराम ने भरत की प्रार्थना स्वीकार की और सब लोग नन्दीग्राम से अयोध्या पहुंचे जहां श्रीरामचन्द्र जी का विधिवत् राज्याभिषेक हुआ तदनन्तर किष्किन्धा और लङ्का के मित्रों का रत्नों से जटित आभूषणादि से सत्कार कर श्रीराम ने बड़े सन्मान के साथ उन्हें विदा किया, और आप अयोध्या का शासन करने लगे । आपने ऐसी योग्यता और सुप्रबन्ध से राजकार्य्य करना आरम्भ किया कि सारे राज्य में शीघ्र ही अद्वितीय सुखशान्ति फैल गई ।

---

* हंसयुक्तं महावेगं निपपात महीतलम् ॥ युद्ध. १२७ । ३८ ॥

† अवेक्षतां भवान् कोशं कोष्ठागारं गृहं बलम् । भवतस्तेजसा सर्वं कृतं दशगुणम् मया ॥ युद्ध १२७ । ५६ ॥

हमारी क्या शक्ति है कि हम श्रीराम के गुणों को भली भांति गान कर सकें। अपने टूटे फूटे शब्दों में यत् किञ्चित् रामयश प्रकट कर हमने अपने मन का अरमान कुछ पूरा किया है परमात्मा कृपा करें कि इस पृथिवी के मनुष्य श्रीराम के यश को भली भांति ज्ञात कर उन के जीवन के अनुसार अपना जीवन बनाने का यत्न करें, अपने तथा अन्यों के अधिकारों को समझें और पुनः इस संसार में पूर्ण शान्ति संस्थापन करें।

उत्तरकाण्ड।

(१) युद्धकाण्ड के अन्तिम सर्ग १२८ के पिछले भाग में कई श्लोक ऐसे मिलते हैं जिन से यही परिणाम निकालना पड़ता है कि युद्धकाण्ड की समाप्ति के साथ ही साथ महर्षि वाल्मीकि का रामायण समाप्त होता है इस सर्ग के १०९ वें तथा ११० वें श्लोक में लिखा है:—

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं राज्ञां च विजयावहम्।
आदिकाव्यमिदं चार्षं पुरा वाल्मीकिना कृतम्॥ युद्ध १२८।१०९॥
शृणोति य इदं काव्यं पुरा वाल्मीकिना कृतम्।
श्रद्दधानो जितक्रोधो दुर्गाण्यतितरत्यसौ॥ युद्ध १२८। ११०॥

अर्थात् धर्म, यश, आयु तथा राजाओं के लिए विजय का देने वाला यह आर्ष पुरातन आदिकाव्य वाल्मीकि का रचा हुआ है। वाल्मीकि द्वारा रचे हुए इस पुरातन काव्य को जो कोई श्रद्धापूर्वक तथा क्रोध को जीत कर सुनेगा वह (कठिन दुःखरूप) दुर्गों के भी पार हो जायगा।

निस्सन्देह उक्त श्लोक महर्षि वाल्मीकि के नहीं प्रत्युत किसी अन्य के बनाए हुए और पीछे से जोडे हुए हैं। परन्तु मालूम होता है कि इन श्लोकों का बनाने वाला अवश्य ही महर्षि वाल्मीकि के रामायण का बड़ा प्रेमी था अतः रामायण की पूर्ति के पूर्व वह कभी " आदिकाव्यमिदम् " यह आदि काव्य, " इदं काव्यम् " यह काव्य ऐसे " ग्रन्थ के पूर्णता सूचक " शब्द नहीं लिख सक्ता था। अतःउत्तर काण्ड (जिस का अर्थ ही है पीछे का काण्ड), महर्षि वाल्मीकि के रामायण के साथ पीछे से जोड़ा हुआ ज्ञात होता है।

(२) रामायण की दो प्रकार की प्रतियां पहले पहल छपी थीं एक का नाम गौड़ (बङ्गाल) प्रति और दूसरे का नाम बम्बई की प्रति है । बंगाल की प्रति में केवल छः काण्ड थे और बम्बई की प्रति में उत्तरकाण्ड सहित सात काण्ड थे। इटैली देश के प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ " गौरीशिव " (Gorresio) ने स्वदेशभाषानुवाद सहित जिस वाल्मीकिरामायण को महाराज साडिनिया की सहायता से छपवाया था उस में भी केवल छः ही काण्ड थे ।

(३) वाल्मीकिरामायण, बालकाण्ड तृतीयसर्ग में जहां रामायण की कथाओं का संक्षेप है वहां बाल से युद्धकाण्ड तक की कथाओं का सार लिखते हुए किसी काण्ड का नाम नहीं लिया परन्तु अन्तिम श्लोक में लिख दिया "तच्चकारोत्तरे काव्ये वाल्मीकिर्भगवानृषिः" यहां उत्तरकाण्ड का नाम लेना सर्ग की लेखशैली से सर्वथा विरुद्ध है अतः यह श्लोक प्रक्षिप्त है एवं उत्तरकाण्ड के विषय भी प्रक्षिप्त हैं ।

(४) उत्तरकाण्ड के अन्तिम सर्ग १११ के प्रथम श्लोक में लिखा है:—

एतावदेतदाख्यानं सोत्तरं ब्रह्मपूजितम् ।
रामायणमितिख्यातं मुख्यं वाल्मीकिना कृतम् ॥

अर्थात् इतना यह आख्यान उत्तर सहित ब्रह्मपूजित है, इतना प्रसिद्ध मुख्य रामायण है जिसे वाल्मीकि ने बनाया है । यहां भी "सोत्तरम्" उत्तर सहित शब्द सन्देहजनक है । अनुमान है कि इस श्लोक के बनाने वाले ने यह समझते हुए कि लोग उत्तरकाण्ड को कहीं रामायण का भाग न समझें इस लिये "सोत्तरम्" शब्द लिख दिया ।

(५) चम्पू रामायण जो महाराज भोज के समय बना था उस में स्पष्ट लिखा है कि यह वाल्मीकि रामायण का सार है, और क्योंकि चम्पूरामायण में युद्धकाण्ड तक ही है अतः सिद्ध होता है कि वाल्मीकि रामायण में छःही काण्ड हैं चम्पूरामायण में लवकुश का यतकिञ्चित् वृत्तान्त तो है जो कि सम्भव है कि महाराज भोज के समय के आर्यों में प्रसिद्ध हो परन्तु यदि यह प्रसिद्धि उत्तरकाण्ड द्वारा हुई होती तो उत्तर काण्ड के विषयों का सार भी चम्पूरामायण में अवश्य होता परन्तु इन का पता चम्पूरामायण मात्र में नहीं है । अतः सिद्ध हुआ कि उत्तर काण्ड वाल्मीकि रामायण में पीछे से जोड़ा गया ।

(६) उत्तरकाण्ड में इतनी अधिक सृष्टि नियम विरुद्ध बातें हैं कि उसे

आर्ष कहने में सर्वथा जी हिचकता है अतः उत्तरकाण्ड वाल्मीकिरामायण का भाग नहीं।

(७) उक्त प्रमाणों के अतिरिक्त निम्नलिखित प्रमाण जो उत्तर काण्ड् में हैं उन से भी सिद्ध होता है कि उत्तरकाण्ड महर्षि वाल्मीकि की रचना नहीं है:—

उपाख्यान शतं चैव भार्गवेणतपस्विना ॥ उ० ९४। २५
आदि प्रभृति वैराजन् पञ्चसर्ग शतानि च।
काण्डानि षट् कृतानीह सोत्तराणि महात्मना ॥ उ० ९४। २६॥

अर्थात् भार्गव तपस्वी के (रामायणस्थ) सौ उपाख्यान (बनाए हुए) हैं। हे राजन्! (रामायण के) आदि से ५०० तक सर्ग हैं। इस के छः काण्ड उत्तर काण्ड सहित (उक्त) महात्मा भार्गव ने किए हैं (अर्थात् महर्षि वाल्मीकि के बनाए रामायण के ५०० सर्गों का छ काण्डों में विभाजन तथा उत्तर काण्ड का निर्माण भार्गव द्वारा हुआ है) अतः उत्तरकाण्ड महर्षि वाल्मीकि का बनाया हुआ नहीं है।

चतुर्थो भागः सम्पूर्णः॥

पञ्चम भाग

महाभारत के समय का इतिहास

रामायण और महाभारत के समयों की तुलना—महाभारत के कर्त्ता और इस के श्लोकों की संख्या—महाभारतयुद्ध का समय निरूपण—कौरव तथा पाण्डवों की उत्पत्ति कौरव तथा पाण्डवों की शिक्षा—द्रोणाचार्य के लिए गुरुदक्षिणा—युधिष्ठिर का यौवराज्य और वनवास—द्रौपदी का स्वयम्बर—इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) का स्थापन—राजसूय यज्ञ और दिल्ली का पहला राजदर्बार—द्यूतक्रीड़ा और उस का विषमय परिणाम—बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञात वास—युद्ध की तय्यारी—अठारह दिनों का घोर संग्राम और उस का शोकमय परिणाम।

रामायण और महाभारत के समयों की तुलना—धर्म्ममय एवं आत्मिक तथा प्राकृतिक सब प्रकार की उन्नतियों से परिपूर्ण रामायण के समय के संक्षिप्त इतिहास का वर्णन कर तथा उस के पीछे के एक दीर्घकाल के इतिहास को छोड़ शोकमय हृदय के साथ महाभारत के समय का यत् किञ्चित् इतिहास लिखना पड़ता है। श्रीरामचन्द्रजी के पवित्र आचरण के प्रतिकूल युधिष्ठिर के जूआ खेलने आदि कर्म्मों को, लक्ष्मण भरतादि के भ्रातृस्नेह के प्रतिकूल युधिष्ठिर के प्रति भीम के अपमानसूचक शब्दों को, महाराज दशरथ की प्रजा के सन्मुख सीता को कैकेयी द्वारा तपस्विनी के वस्त्र देने पर प्रजा का एक साथ चिल्ला उठना " धिक् त्वां दशरथम् " तथा धृतराष्ट्र की राज सभा में द्रौपदी की दुर्दशा होने पर भी भीष्म द्रोणादि वीरों का नपुंसक की भांति कुछ कर न सकना, कुटिला दासी मंथरा का भी अपमान भरत के लिए असह्य और महाराज्ञी द्रौपदी की दुर्दशा में दुर्योधन कर्णादि की प्रसन्नता, सती साध्वी सीता का पातिव्रत और श्रीरामचन्द्र जी का पत्निव्रत उस के प्रतिकूल सत्यवती और कुन्ती के कानीनपुत्रों की उत्पत्ति और पाण्डवादि के बहु विवाह, श्रीरामचन्द्रजी के वन की ओर चलने पर अयोध्या वासियों का उन के साथ वनगमन के लिये यत्न और युधिष्ठिर के दो वार हास्तिनापुर से निकाले जाने पर सिवाय थोड़े से नगर निवासियों के पाण्डवों के दुःख साथखुलमखुलादुःख प्रगट करने के अन्यों का कौरवों

के भय से मौनावलम्बन, श्रीराम और भरत का महान् राज्य जैसे पदार्थ को धर्म्म-पालन के सन्मुख तुच्छ समझना और उसे एक का दूसरे के हाथ में फेंकना और दुर्योधन का यह कहना कि "सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव!", युद्ध क्षेत्र में रावण के घायल हो जाने पर श्रीरामचन्द्र जी का यह कहना कि घायल का बध करना धर्म्मविरुद्ध है और शस्त्र छोड़े हुए भीष्म और द्रोण का बध, रथ से उतरे हुए कर्ण का बध, सोते हुए धृष्टद्युम्न, शिखण्डी तथा द्रौपदी के पांचों पुत्रों का ब्राह्मणकुलोत्पन्न वीराभिमानी अश्वत्थामा द्वारा बध आदि कहां तक गिनाएं, यह सब घटनाएं हैं जो विस्पष्टरूप से रामायण और महाभारत के समय की अवस्थाओं को प्रकट करती हैं। यद्यपि महाभारत के समय रामायण के समय की भांति ही अथवा उस से भी अधिक आर्य्यावर्त में सम्पत्ति भरी हुई थी और रामायण के समय के वीरों की भांति भीष्म, द्रोण, अर्जुनादि कतिपय योद्धा वायव्यास्त्र, पाशुपतास्त्र, वारुणास्त्र, अन्तर्धानास्त्र, ब्रह्मास्त्रादि आग्नेयास्त्रों की विद्या भी जानते थे, अश्वतरी नाम अग्नियान जल पर चलता था आर्य्यावर्त का दब दबा सारी पृथिवी पर जमा हुआ था परन्तु रामायण के समय की अपेक्षा इस समय धर्म्म का बहुत ही ह्रास था, वैदिक आज्ञाओं को मनमानी रीति से लोग पददलित कर रहे थे इसी कारण दुष्टाचारी हो महाभारत के समय के योद्धा परस्पर में युद्ध कर लड़ मरे जिस से यह देश घोर पतित हो उत्तरोत्तर दुःख ही भोगता गया। परमात्मा कृपा करें कि कुलहत्यारे दुर्योधन का भाव आर्य्यों के बीच से दूर हो और वे एक दूसरे के दुःख में दुःख और सुख में सुख मानते हुए अपनी उन्नति करें। अस्तु, अब हम महाभारत के कर्त्ता और इस के श्लोकों की संख्या तथा महाभारत युद्ध के समयविषय में अतिसंक्षिप्त आलोचना कर कौरव पाण्डवों की उत्पत्त्यादि तथा महाभारत युद्ध की दुःखमय वर्णना तथा उस के शोकमय परिणाम को अति संक्षिप्त रीति से अङ्कित कर इस भाग को समाप्त करते हैं।

महाभारत के कर्त्ता और इस के श्लोकों की संख्या।

यह बात सुप्रसिद्ध है कि महर्षि पराशर के पुत्र तथा कौरव पाण्डवों के पितामह महर्षि कृष्ण द्वैपायन ने (जिन का नाम वेदों के पारंगत होने के कारण वेदव्यास भी पड़ा था) महाभारत की रचना की थी* परन्तु यह बात महाभारत के आन्त-

* देखिये आदिपर्व, अध्याय १। श्लोक १५, ९५, ९६ तथा स्वर्गारोहणिकपर्व अध्याय ५। श्लोक ३९, ४०, ५२॥

रिक प्रमाणों से ही सिद्ध होती है कि वर्तमान महाभारत (जिस की श्लोक संख्या इस समय ९५८२६ † पचानवें हज़ार, आठ सौ छब्बीस है) के कुछ श्लोक तो महर्षि व्यास के बनाए हैं और बहुत से श्लोक पीछे से अन्यों के प्रक्षेप किए हुए हैं।

महर्षि व्यास ने महाभारत युद्ध का वृत्तान्त लेखबद्ध करा अपने शिष्य वैशम्पायन, सुमन्तु, जैमिनि, पैल, तथा पुत्र शुक को पढ़ाया था। इन लोगों ने उक्त युद्ध-वृत्तान्त को ऐसी उत्तमता के साथ अवगत कर लिया था कि उक्त पांचों ऋषियों का नाम "भारताचार्य्य" पड़ गया था।

जब परीक्षित के पुत्र जन्मेजय ने सर्पसत्र (यज्ञ) किया था तो उस समय महर्षि वैशम्पायन ने † महर्षि व्यास रचित महाभारत युद्ध का वृत्तान्त जन्मेजय को सुनाया था। वर्तमान महाभारत में वह सब प्रश्न लिखे हैं जिन्हें जन्मेजय ने युद्धवृत्तान्त सुनते समय वैशम्पायन से किया था तथा वह सब बातें भी जो वैशम्पायन ने इन प्रश्नों के उत्तर में कही थीं। ये प्रश्नोत्तर महर्षि व्यासरचित महाभारत युद्ध वृत्तान्त के भाग नहीं हो सक्ते अतः ये प्रश्नोत्तर असल ग्रन्थ में पीछे से जोड़े गए हैं।

वर्तमान महाभारत में यह भी लिखा है कि नैमिषारण्य में जब कि शौनकादि ऋषि यज्ञ कर रहे थे उस समय वहां लोमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवा (सौती) आए, जिन्होंने शौनकादि के पूछने पर बताया कि वह महर्षि वैशम्पायन से महाभारत युद्ध का वृत्तान्त सुन कर तथा कुरुक्षेत्र की रणभूमि देखते हुए आए हैं * पुनः शौनकादि के निवेदन करने पर सौती ने उक्त युद्ध का वृत्तान्त कहना आरम्भ किया। शौनक के प्रश्न भी बीच २ में होते गए जिन के उत्तर भी सौती देते गए। ये सब प्रश्नोत्तर भी वर्तमान महाभारत ग्रन्थ में विद्यमान हैं अतः इन्हें उस ग्रन्थ का भाग नहीं कह सक्ते जिसे महर्षि व्यास ने बनाया था।

उक्त बातों के देखने से स्वभावतः प्रश्न उठता है कि इस प्रकार अनेक पुरुषों के मिश्रित श्लोकों के समुदाय वर्तमान महाभारतग्रन्थ में से कौन सा भाग असल

---

† देखिये बम्बई का छपा महाभारत।

† जन्मेजयेन पृष्टः सन् ब्राह्मणैश्च सहस्रशः। शशास शिष्यमासीनं वैशम्पायनमन्तिके॥ स सदस्यैः सहासीनः श्रावयामास भारतम्। कर्म्मान्तरेषु यज्ञस्य चोद्यमानः पुनः पुनः॥ आदि० १। ९७, ९८॥

* कथितास्चापि विधिवद्या वैशम्पायनेन वै, श्रुत्वाऽहं ता विचित्रार्था महाभारतसंश्रिताः॥ गतवानऽस्मि तं देशं युद्धं यत्राऽभवत् पुरा। कुरूणां पाण्डवानो च सर्वेषां च महीक्षिताम्॥ आदि० १। ११,१२॥

ग्रन्थकर्त्ता का है और कौन २ से भाग अन्यों के । यह प्रश्न और इस का उत्तर वर्तमान महाभारत में भी विद्यमान है । महाभारत आदिपर्व अध्याय ११ श्लोक ५२ में लिखा है:—

मानवादिभारतं केचिदास्तिकादि तथाऽपरे ।
तथोपरिचरादन्ये विप्रः सम्यगधीयते ॥

कोई तो विप्र "मानव" शब्द के आरम्भ से भारत को' दूसरे "आस्तीक" के आरम्भ से और अन्य "उपरिचर" के आरम्भ से भारत को ठीक २ पढ़ते हैं (वा बताते हैं) ।

परन्तु उक्त श्लोक बलपूर्वक कोई निर्णय ठीक २ नहीं करता, केवल तीन भिन्न २ सम्मतियों को प्रकट कर देता है ।

परन्तु महाभारत का निम्नलिखित श्लोक निश्चयरूप से इस विषय में साक्षी देता है यथा:—

चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम् ।
उपाख्यानैर्विनातावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः ॥ आदि १ ।१०१ ॥

(महर्षि व्यास ने) चौबीस सहस्र (श्लोक युक्त) भारतसंहिता बनाई थी । उपाख्यानों के विना इतने को ज्ञानी लोग "भारत" कहते हैं ।

इस श्लोक से यह भी ज्ञात होता है कि महाभारत ग्रन्थ का नाम पहले केवल " भारत" था, परन्तु इस श्लोक के विपरीत लोग निम्नलिखित श्लोक को बताते हैं:—

अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च ।
अहं वेद्मि शुको वेत्ति सञ्जयो वेत्ति वा नवा ॥ आदि १ । ८१ ॥

अर्थात् आठ सहस्र आठ सौ श्लोकों को मैं जानता हूं, शुक जानता है, सञ्जय न जानें जानता है या नहीं जानता ।

परन्तु यह श्लोक भारत की श्लोकसंख्या का निरूपक नहीं है क्योंकि इस श्लोक के पश्चात् जो ८२ श्लोक है उस में लिखा है "तत् श्लोककूटमद्यापि ग्रथितं सुदृढ़ं मुने !" जिस से सिद्ध होता है कि उक्त ८८०० संख्या महाभारतस्थ केवल कूट श्लोकों की है ।

परन्तु चौबीस सहस्र श्लोकों से बढ़कर इतना बड़ा महाभारत किस प्रकार बना इस के विषय में सूत लोमहर्षण के पुत्र सूत उग्रश्रवा कहते हैं " एकं शतसहस्रन्तु

मयोक्तं वै निबोधत" (आदि १ । १०७) एक लाख श्लोक मेरा बनाया हुआ समझो।

इस से तो ज्ञात होता है कि उग्रश्रवा के समय में महाभारत चौबीस सहस्र तथा एक लाख श्लोकयुक्त बन चुका था ।

परन्तु महर्षि दयानन्दकृत सत्यार्थप्रकाश (चतुर्थावृत्ति) के पृष्ठ २९९ में लिखा है:—

"यह बात राजा भोज के बनाए संजीवनी नामक इतिहास में लिखी है कि (जो ग्वालियर के राज्य "भिण्ड" नामक नगर के तिवाड़ी ब्राह्मणों के घर में है जिस को लखुना के राव साहब और उन के गुमाश्ते रामदयालु चौबे जी ने अपनी आंख से देखा है उस में स्पष्ट लिखा है कि) व्यास जी ने चार सहस्र चार सौ और उन के शिष्यों ने पांच सहस्र छः सौ श्लोक युक्त अर्थात् सब दशसहस्र श्लोकों के प्रमाण भारत बनाया था" वह महाराज विक्रमादित्य के समय में बीस सहस्र, महाराज भोज कहते हैं कि मेरे पिता जी के समय में पच्चीस और अब मेरी आधी उमर में तीस सहस्र श्लोकयुक्त महाभारत का पुस्तक मिलता है जो ऐसे ही बढ़ता चला तो महाभारत का पुस्तक एक ऊंट का बोझा हो जायगा ।

यदि सञ्जीवनी में जो कुछ लिखा है वह ठीक है तो यह परिणाम निकलेगा कि महाभारत का प्रायः दो तिहाई भाग महाराज भोज के समय से पीछे २ बना है ।

जो हो इस में कुछ भी सन्देह नहीं है कि महर्षि व्यास ने जिस युद्ध वृत्तात को लिखा था तथा उन के शिष्य वैशम्पायन के समय में जो कुछ उस में वृद्धि हुई थी उस में सौती आदि के समय बहुत कुछ जोड़ा गया और उत्तरोत्तर भी उस में प्रक्षेप होता ही गया जिस कारण उक्त युद्ध वृत्तांत का ग्रन्थ बढ़ते २ वर्त्तमान महाभारत के रूप में परिणत होगया ।

वर्त्तमान महाभारत के प्रथम श्लोक का अन्तिमपाद है " ततो जयमुदीरयेत् " तथा महाभारत स्वर्गारोहाणिक पर्व अध्याय ५ श्लोक ४६ का द्वितीयार्द्ध है " जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो मोक्षमिच्छता " अर्थात् इस इतिहास का नाम " जय " है जिसे मोक्ष की इच्छा रखने वालों को श्रवण करना चाहिए । जिन से बोध होता है कि कौरव पाण्डवों के इतिहास का नाम जय भी था ।

अत: यह कहना अनुचित बोध नहीं होता कि महर्षि व्यास ने कौरव पाण्डवों का जो इतिहास लिखा था उस का पहला नाम "जय" था, पुनः महर्षि वैशम्पायन के समय में जो कुछ उस में वृद्धि हुई वह सब असल ग्रन्थ के साथ मिलकर "भारत" के नाम से प्रसिद्ध हुआ और पुनः सौती आदि के समयों में जो कुछ उस भारत के साथ जोड़ा गया वह सब भारत के साथ मिलकर अन्त में महाभारत के नाम से प्रख्यात हुआ।

इस विस्तृत महाभारत में से जो कोई महर्षि व्यास के श्लोकों को तथा उन के शिष्य वैशम्पायन के समय के बने श्लोकों को सौती आदि के प्रक्षेप किए हुए श्लोकों से पृथक् करना चाहे उसे चाहिए कि महाभारत को भी उसी प्रकार जांच ने का यत्न करे जिस प्रकार हमने मनुस्मृति के प्रकरण में उस ग्रन्थ की जांच की विधि अवलम्बन की है।

महाभारतयुद्ध का समय निरूपण।

डाक्टर हंटर साहब नाम ऐतिहासिक लिखते हैं The main story deals with a period assigned.................to about 1200 B. C. अर्थात (महाभारत की) मुख्य कथा उस समय की है जो कि ईसा के जन्म के १२०० वर्ष पूर्व का माना जाता है। आनरेबल एल फिंस्टन साहब नाम ऐतिहासिक लिखते हैं "We must place the war in the fourteenth century before Christ" अर्थात् हमें चाहिए कि महाभारत युद्ध को ईसा के जन्म से पूर्व चौदहवीं शताब्दि में स्थापित (निश्चित) करें एवं अन्यान्य कतिपय यूरोपीय विद्वान् इस युद्ध को भिन्न २ समयों का बताते हैं।

परन्तु महाभारत गदापर्व में लिखा है कि भीम और दुर्योधन के युद्ध के पश्चात् क्रुद्ध हुए बलराम को श्रीकृष्णचन्द्र जब समझाने लगे तो बोले "**प्राप्तं कलियुगं विद्धि**" जानो कि कलियुग प्राप्त हो गया, इस से बोध होता है कि कलियुग के प्रारम्भ में ही महाभारत का संग्राम भी आरम्भ हो गया था।

(वराहमिहिर नाम ज्योतिषी ने अपने ज्योतिष के ग्रन्थ वृहत्संहिता में गर्गसंहिता के निम्नलिखित श्लोक को उद्धृत किया है:—

आसन्मघासु मुनयः शासति पृथ्वीं युधिष्ठिरे नृपतौ। षड्द्विकपञ्च द्वियुतः शककालस्तस्य राज्ञश्च ॥ वृहत्संहिता अ० १३, अ० ३ ॥

अर्थात् जिस समय महाराज युधिष्ठिर पृथिवी का शासन कर रहे थे उस समय "मुनयः" अर्थात् सप्तर्षि मघा नक्षत्र में थे शककाल अर्थात् शाक्यसिंह शकसिंह (गौतम बुद्ध) के सम्वत् तक उस राजा युधिष्ठिर के छः, दो, पांच, दो अर्थात् २५२६ पच्चीस सौ छब्बीस वर्ष हो चुके थे । उक्त श्लोक में आया हुआ शककाल बारम्बार विवादास्पद हो चुका है । काश्मीर के इतिहास राजतरङ्गिणी के कर्त्ता ऐतिहासिक कल्हण ने वृहत्संहिता के उक्त श्लोक को अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है और शककाल से अभिप्राय महाराज शालिवाहन का शकाब्द ठहराते हुए महाराज युधिष्ठिर का समय कलियुग के आरम्भ से ६५३ वर्ष पीछे का बताया है, और क्योंकि काश्मीर के महाराज प्रथम गोनन्द प्रायः कलियुग के आरम्भ से ६५३ वर्ष पीछे हुए हैं अतः कल्हण ने प्रथम गोनन्द को महाराज युधिष्ठिर का समकालीन लिख दिया है। परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि वृहत्संहिता में आया हुआ उक्त श्लोक वास्तव में गर्गसंहिता का है, और आर्य्यावर्त की प्राचीन घटनाओं पर सन्देह करने वाले तथा उन्हें थोड़े दिनों के मानने वाले अनेक यूरोपीय विद्वानों ने भी अब स्वीकार कर लिया है कि गर्गसंहिता ईसा के जन्म से कम से कम १५४ वर्ष पूर्व विद्यमान थी, और महाराज शालिवाहन का शकाब्द ईसा के जन्म के प्रायः ७८ वर्ष पीछे आरम्भ हुआ है अतः गर्गसंहिता ने जिस शककाल को उक्त श्लोक द्वारा बतलाया है वह महाराज शालिवाहन का शकाब्द कभी भी नहीं हो सक्ता अतः अनुमान से यही बोध होता है कि शाक्यसिंह वा शकसिंह (गौतम बुद्ध) का सम्वत् जो उन की आयु के पचासवें वर्ष से चला है वही उक्त श्लोक में वर्णित "शककाल" का बोधक है । शाक्यसिंह के कालनिरूपण में भी ऐतिहासिकों का यत् किञ्चित् मत भेद है परन्तु प्रायः यही माना जाता है कि उन का जन्म शालिवाहन के शकाब्द से ७०१ वर्ष पूर्व अथवा सन् ईस्वी से ६२३ वर्ष पूर्व हुआ था, और वह ८० अस्सी वर्षों तक जीते रहे थे । अर्थात् उन की मृत्यु ईसा के जन्म से प्रायः ५४३ वर्ष पूर्व हुई थी । जब कि शाक्यसिंह के पचासवें वर्ष से उन का सम्वत् आरम्भ हुआ तो समझना चाहिए कि उन का सम्वत् (६२३—४९ = ५७४) ईसा के जन्म से ५७४ वर्ष पूर्व आरम्भ हो गया था ।

अतः महाराज युधिष्ठिर का समय वर्तमान विक्रमाब्द १९६७ वा शालिवाहनाब्द १८३२ वा सन् ईसवी १९१० तक निम्नलिखित प्रकार निश्चित होता है:—

गर्गसंहिता वा बृहत्संहिता के अनुसार शाक्यसिंह (गौतमबुद्ध) के सम्वत् तक — २५२६ वर्ष

गौतम के सम्वतारम्भ अर्थात् ईसा के जन्म से ५७४ वर्ष पूर्व से ईसा के जन्म तक प्रायः — ५७४ वर्ष

ईसा के जन्म से अब तक प्रायः — १९१० वर्ष

योग पांच हज़ार दश वर्ष — ५०१० वर्ष

उक्त गणना इस कारण भी ठीक है कि १८९९ ईसवी में प्रायः सभी प्रसिद्ध भारतीय ज्योतिषियों ने महाभारत युद्ध के समय वा कलि के आरम्भ समय की गणना की थी और सभी ने एकमत हो कहा था कि उस वर्ष महाभारत युद्ध के हुए ५००० पांच सहस्र वर्ष व्यतीत हो रहे थे।

भारत में प्रचरित पञ्चाङ्गों के अनुसार वर्तमान कल्यब्द ५०११ पांच सहस्र ग्यारह है अतः ज्ञात होता है कि महाभारत युद्ध कल्यब्द १ में ही आरम्भ हुआ था।

(३) अकबर बादशाह के समय में जब कि पण्डितों की प्रतिष्ठा बादशाह के दरबार में होने लगी थी उस समय संस्कृत के बड़े २ विद्वानों से और पक्की लिपियों व (ज्योतिष के) सिद्धान्तों से अनुसन्धान कर अकबर के प्रधान मन्त्री ने जो कुछ लिखा है उस से पता लगता है कि "कलियुग के लगते ही पहिला राजा युधिष्ठिर हुआ था, विक्रम के सम्वतारम्भ के पूर्व युधिष्ठिर के हुए ३०४४ वर्ष व्यतीत हो चुके थे" (देखिए कलकत्ते की १८६७ ईसवी की छपी हुई आईन, ई अकबरी पृष्ठ २६९)

इस प्रमाणानुसार भी वर्तमान सम्वत् १९६७ में कलि के आरम्भ हुए वा युधिष्ठिर के हुए ३०४४+१९६७=५०११) पांच सहस्र ग्यारह वर्ष होते हैं।

(४) पण्डित माधवाचार्य्य ज्योतिषी ने सम्वत् १८१६ में बनाए अपने ग्रन्थ "राजावली" में लिखा है कि "कलियुग के आरम्भ से विक्रम के सम्वत् तक ३०४४ वर्ष होते हैं" (देखिए हरिश्चन्द्रिका अङ्क अगस्त १८७४ ई०, पृष्ठ ८७ से ९० तक)

उक्त प्रमाणानुसार भी वर्तमान सम्वत् १९६७ में कलि के आरम्भ हुए (३०४४+१९६७=५०११) पांच सहस्र ग्यारह वर्ष होते हैं।

(५) कांउट जार्नस्टजर्ना नाम युरोपीय विद्वान बतलाते हैं कि "कलियुग

का समयारम्भ लिखते हुए आर्य्य ज्योतिषियों ने बतलाया है कि उस समय प्रायः सब ग्रह प्रायः एक सीध में आगए थे, बेली नाम यूरोपीय ज्योतिषी की गणनासार ज्ञात होता है कि वह समय (कालि) ईसा के जन्म से पहले ३१०२ तीन सहस्र एकसौ दो वर्ष, २० फरवरी को २ बजे के २७ मिनट तथा ३० सेकंड पर आरम्भ हुआ था "

उक्त प्रमाणानुसार वर्तमान सम्वत् १९६७ में कालि के आरम्भ हुए प्रायः (३१०२+१९०९ सन् ईसवी=५०११) पांच सहस्र ग्यारह वर्ष हो चुके हैं।

(६) इन प्रमाणों के अतिरिक्त महर्षि दयानन्द ने अपने सत्यार्थप्रकाश (चतुर्थावृत्ति) के पृष्ठ ३८९, ३९०, ३९१ तथा ३९२, में सम्वत् १७८२ के लिखे एक संस्कृतपुस्तक के प्रमाण से (जो कि नाथद्वारे राज उदयपुर के पाक्षिकपत्र हरिश्चन्द्र चन्द्रिका मोहनचन्द्रिका सम्वत् १९३९ मार्गशीर्ष शुक्लपक्ष के किरण १९ तथा २० अर्थात् दो पक्षों में छपा था) अङ्कित किया है कि महाराज युधिष्ठिर से महाराज यशपाल तक इन्द्रप्रस्थ में १२४ आर्य्य महाराजाओं ने ४१५७ वर्ष ९ मास तथा १४ दिनों तक राज किया था। उक्त १२४ महाराजाओं में से प्रत्येक महाराज का शासन काल भी सत्यार्थप्रकाश में अङ्कित है। अन्तिम आर्य्य राजा सम्वत् १२४९ में मुसल्मानों के द्वारा पकड़े गए थे। उक्त गणनानुसार, भी महाराज युधिष्ठिर का समय वा महाभारतयुद्ध का समय सम्वत् १२४९ तक प्रायः ४१५८ वर्ष, तथा सम्वत् १२४९ से सम्वत् १९६७ तक ७१८ वर्ष अर्थात् कुल (४१५८+७१८=४८७६) प्रायः ४८७६ वर्ष ठहरता है। इस गणना से और वर्तमान कल्यब्द ५०११ से केवल १२९ वर्षों का अन्तर पड़ता है।

परन्तु कलि के आरम्भ वा महाभारतयुद्ध की घटना को जब कि आर्य्यावर्त के विद्वान् आज से प्रायः ५०१० वर्ष पूर्व का बताते हैं और ऐतिहासिक डाक्टर हंटर उसे आज से प्रायः ३११० वर्ष पूर्व का और ऐतिहासिक आनरेबल एल्फिंस्टन उसे आज से प्रायः ३३१० वर्ष पूर्व का बताते हैं तो आर्य्यावर्त के विद्वानों की ही बात ठीक मानी जाय इस के लिए क्या प्रमाण है? ऐसा प्रश्न हो सक्ता है। इस का उत्तर यह है कि महाभारतयुद्ध के जिस समय को आर्य्यावर्त के विद्वान् निरूपण करते हैं प्रायः उसी समय को पुराने यूनानी ऐतिहासिक भी निरूपण करते हैं अतः आर्य्य विद्वानों का कथन प्रामाणिक है।

मेगस्थनीज़ नाम यूनानी राजदूत जिस के लेखों को सभी ऐतिहासिक बड़े मान्य की दृष्टि से देखते हैं जो महाराज चन्द्रगुप्त के दर्बार में एक दीर्घकाल तक रह चुका था उस के लेख तथा सिकन्दर के साथ जो यूनानी लेखक भारत में आए थे उन के लेखों के आधार पर यूनानी ऐतिहासिकों ने भारतीय राजाओं के विषय में लिखा है:—

"From the time of Dionysos to Sandrakottas, the Indian counted 153 kings, and a period of 6042 years. But among these a republic was thrice established. The Indians also tell us that Dionysos was earlier than Heracles by 15 generations" (Mc. Crindle's Ancient India, P. 204)........." This Heracles is held in special honor by the Shourseni Indian tribe who possess two large cities, Mothora and Cleisobora (Mc. Crindle's Ancient India, P. 201).

अर्थात् दायोनीसस के समय से संद्राकोटस के समय तक भारतीय १५३ महाराजों की तथा ६०४२ वर्षों की गणना करते थे परन्तु इस समय के भीतर तीन वार प्रजातन्त्र शासन भी स्थापित हो चुका था भारतीय हम लोगों से ऐसा भी कहते हैं कि दायोनीसस हरक्लिष से १५ पीढ़ी पूर्व हो चुका था। भारत के शौरसेनी * लोगों के बीच (जिन के आधीन मथुरा तथा क्लीसो बोरा नाम दो बड़े २ नगर हैं) उक्त हरक्लिष विशेष सन्मान के साथ स्मरण किया जाता है।

उक्त लेख में दायोनीसस, संद्राकोटस तथा हरक्लिष जो नाम आए हैं उन में से किस भारतीय महाराज को यूनानी दायोनीसस के नाम से पुकारते थे इस का पता अभी तक नहीं लगा। परन्तु संद्राकोटस महाराज चन्द्रगुप्त का नाम था यह भली भांति स्थापित हो चुका है। इस समय निश्चय यह करना है कि यह हरक्लिष कौन पुरुष था। संस्कृत 'र' वा 'ऋ' अक्षर के स्थान में प्राकृत "ल" प्रायः व्यवहृत हुआ है अतः संस्कृत कृष का यदि प्राकृत क्लिष बन गया हो तो आश्चर्य्य नहीं अतः हरक्लिष का पूर्व रूप हरकृष हो तो असम्भव नहीं है, और क्योंकि यूनानी ऐतिहासिक मथुरा और क्लोसेबोरा नगरों में शासन करने वाले शौरसेनी क्षत्रियों को हरकृष का नाम विशेष सन्मान के साथ स्मरण करने वाला बतलाते हैं अतः मथुरा के लोगों से विशेष सम्बन्ध रखने वाले यह हरकृष, "हरिकृष्ण" के

* महाराज कृष्ण के पिता वसुदेव के पिता का नाम शूरसेन था।

सिवाय अन्य कोई नहीं हो सक्ता। महाशय मैकरिंडिल के उक्त ग्रन्थ "एंशेंट इंडिया" में हरक्लिष का सम्बन्ध Pandia पाण्डय के साथ भी बतलाया है। यह पाण्डय शब्द वास्तव में "पाण्डव" का अपभ्रंश मालूम होता है अतः मथुरा के शौरसेन क्षत्रियों तथा पाण्डवों के साथ सम्बन्ध रखने वाला हरक्लिप या हरकुप सिवाय हरिकृष्ण वा कृष्ण महाराज के अन्य कोई नहीं हो सक्ता।

क्योंकि प्रजातन्त्र शासन स्थापित होने का समय भी १५३ राजाओं के समय ६०४२ वर्षों के भीतर ही है अतः यह नहीं कहा जासक्ता कि उक्त १५३ महाराजों का समय ठीक २ कितना है। उक्त लेख में जो यह अङ्कित है कि दायोनिसस हरक्लिप (हरिकृष्ण) से १५ पीढ़ी पूर्व हो चुका था इस से ज्ञात होता है कि हरिकृष्ण से चन्द्रगुप्त तक (१५३—१५=१३८) एक सौ अड़तीस महाराज होचुके थे। यदि प्रत्येक महाराज का शासन समय प्रायः बीस वर्ष भी मान लिया जाय तो हरिकृष्ण से चन्द्रगुप्त तक के महाराजाओं का समय अनुमान (१३८+२०=२७६०) सत्ताइस सौ साठ वर्ष होता है। महाराज चन्द्रगुप्त ईसा के जन्म से ३१२ वर्ष पूर्व विद्यमान थे अतः हरिकृष्ण का समय ईसा के जन्म से प्रायः (२७६०+३१२=३०७२) तीन सहस्र बहत्तर वर्ष पूर्व होता है। अर्थात् हरिकृष्ण को हुए आज तक (३०७२+१९१० सन् ईसवी=४९८२) चार सहस्र नौ सौ बयासी वर्ष होते हैं।

अतः यूनानी ऐतिहासिकों के लेखानुसार महाराज कृष्ण वा पाण्डवों का समय आज से प्रायः ४९८२ वर्ष पूर्व और आर्य्यावर्त के ज्योतिषियों के लेखानुसार आज से प्रायः ५०१० वर्ष पूर्व सिद्ध होता है। इन गणनाओं में क्योंकि केवल २८ वर्ष का भेद पड़ता है अतः यूनानी ऐतिहासिकों के प्रमाण से भी महाभारत युद्ध का समय प्रायः वही सिद्ध होता है जो आर्य्यावर्त के विद्वान् निरूपण कर चुके हैं।

इतने प्रमाणों के प्रस्तुत रहते हुए हमें कोई इस परिणाम पर पहुंचने से नहीं रोक सक्ता कि महाभारत युद्ध आज से प्रायः पांच सहस्र वर्ष पूर्व हुआ था।

महाभारत में निम्नलिखित श्लोक आया है:—

न शशाक वशे कर्तुं यं पाण्डुरपि वीर्य्यवान्।
सोऽर्जुनेन वशन्नीतो राजाऽऽसीद्यवनाधिपः॥

॥ आदि । १४१ । २०—२१ ॥

अर्थात् जिस को बलवान् महाराज पाण्डु भी वशीभूत न कर सके उस यवनाधिप को अर्जुन ने वश में कर लिया । और अन्यान्य भी कई ऐसे श्लोक आए हैं जिन में "यवन" शब्द व्यवहृत हुआ है । यूरोपीय ऐतिहासिक जो यह कहते हैं कि यह यवन शब्द सिद्ध कर रहा है कि यूनानी वा यवनों के सम्बन्ध के पश्चात् उक्त श्लोक लिखा गया सो सर्वथा अशुद्ध है । इस विषय को मनुस्मृति में आए हुए यवन शब्द के प्रकरण में हम विस्तारपूर्वक लिख चुके हैं वहां देख लीजिए । "यवन" वास्तव में संस्कृत शब्द है और अति प्राचीन काल से यह एक प्रकार के व्रात्य क्षत्रियों के लिए व्यवहृत होता रहा है ।

कौरव तथा पाण्डवों की उत्पत्ति—चन्द्रवंशी क्षत्रियों के बीच हस्ति नाम एक प्रतापी महाराज हुए थे जिन्हों ने गङ्गा के पश्चिम किनारे पर हस्तिनापुर नाम नगर बसाया था । महाराज हस्ति के प्रपौत्र "कुरु" हुए और महाराज कुरु की कई पीढ़ी बाद शान्तनु नाम महाराज हुए । शान्तनु की धर्मपत्नी गङ्गा के गर्भ से भीष्म उत्पन्न हुए । इस समय आर्यावर्त्त की सम्पत्ति इतनी बढ़ गई थी और इस का साम्राज्य इतना विस्तृत और निष्कण्टक हो गया था कि शान्तनु को किसी भी शत्रु का भय न रहा वह धनमद, सेनाबलमद और यौवनमद से उन्मत्त हो अपने को अद्वितीय समझने लगा और विषयानन्द में निमग्न हो गया उस की विषयवासना इतनी बढ़ी कि वह एक साधारण पुरुष की कन्या सत्यवती पर ऐसा मोहित हुआ कि उस के बिना उस का जीना कठिन ज्ञात होने लगा । सत्यवती के पिता ने दरिद्री होने पर भी अपनी कन्या जब राजा को न दी तब भीष्म ने अपना भावी राज्याधिकार सत्यवती के भावी पुत्र के लिए छोड़ दिया और यह भी प्रतिज्ञा की कि वह सत्यवती के भावी पुत्र का राज्य निष्कण्टक रहने देने के लिए अपना विवाह भी नहीं करेंगे तब सत्यवती का विवाह शान्तनु से हुआ । "यथा राजा तथा प्रजा" यह पुरानी जनश्रुति चरितार्थ होने लगी और पुष्कल धन धान्य से पूर्ण प्रजा विषयानन्द के उपवन में विहार करने लगी और धीरे २ व्यभिचार भी आरम्भ हो गया ।

सत्यवती के गर्भ से शान्तनु के दो पुत्र उत्पन्न हुए चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य इन में से चित्राङ्गद तो एक युद्ध में मारागया और विचित्रवीर्य जब यौवन को प्राप्त हुआ तो उस का विवाह काशी नरेश की कन्याएं अम्बिका और अम्बालिका से हुआ

(इन दोनों कन्याओं को भीष्म काशी से बलात् पकड़ लाए थे) परन्तु विचित्रवीर्य भी थोड़े ही दिनों में सन्तान विहीन मरगया। तब उस की माता सत्यवती ने अपने कानीन पुत्र कृष्णद्वैपायन (व्यास) को (जिसे वह शान्तनु से विवाह करने के पूर्व पराशर के साथ सम्बन्ध कर उत्पन्न कर चुकी थी) बोलाया जिन्हों ने अपनी माता सत्यवती की आज्ञा तथा भीष्म की सम्मति से विचित्रवीर्य की दोनों स्त्रियों से नियोग किया। इस नियोग से विचित्रवीर्य की स्त्रियों में दो पुत्र धृतराष्ट्र और पाण्डु उत्पन्न हुए।

धृतराष्ट्र जन्म से अन्धे थे। पाण्डु योग्य होने पर राज्यसिंहासन पर बैठे। धृतराष्ट्र का विवाह गांधार (वर्तमान कन्दहार) के महाराज की पुत्री गांधारी से हुआ जिस के पुत्र दुर्योधन, दुश्शासन, विकर्ण तथा चित्रसेनादि हुए * महाराज पाण्डु की दो स्त्रियां थीं कुन्ती और माद्री। महाराज कृष्ण के पिता वसुदेव की बहन कुन्ती थी शरीर के कुछ लम्बे चौड़े तथा दृढ़ होने के कारण कुन्ती को लोग पृथा भी कहते थे। महाराज पाण्डु की दूसरी स्त्री का नाम माद्री था जो कि ईरान के राजा की लड़की थी। पाण्डु राजपाट भीष्म और धृतराष्ट्र को सौंप आप अपनी स्त्रियों के साथ बराबर वनों में विहार करने लगे और आखेट तथा विषयानन्द में फंस गये। पाण्डु ने स्वयं पुत्रोत्पन्न न कर सकने के कारण अपनी दोनों स्त्रियों को नियोग करने की आज्ञा दी तदनुसार नियोग द्वारा कुन्ती ने युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन को उत्पन्न किया और माद्री ने नकुल और सहदेव को पैदा किया। वन में ही पाण्डु का देहान्त हो गया और माद्री पति के साथ चिता में भस्म हो गई। तब कुन्ती पांचों पुत्रों को लेकर वन के तपस्वियों के साथ हस्तिनापुर पहुंची * जहां भीष्म, विदुर, धृतराष्ट्र तथा सर्व वर्णों की सभा के सन्मुख पांचों पुत्र खड़े हुए। कुछ वादानुवाद पीछे पांचों पुत्र पाण्डु के माने गए और वे माता सहित हस्तिनापुर में रहने लगे। धृतराष्ट्र के पुत्र कौरव और पाण्डु के पुत्र पाण्डव के नाम से प्रख्यात हुए।

कौरव तथा पाण्डवों की शिक्षा—धृतराष्ट्र ने अपने पुत्रों तथा

---

* महाभारत में लिखा है कि धृतराष्ट्र के सौ पुत्र गान्धारी से उत्पन्न हुए थे परन्तु एक स्त्री से इतने पुत्रों के होने में लोग सन्देह करते हैं।

* महाभारत से यह ज्ञात नहीं होता कि पांचों पाण्डव जब कि हस्तिनापुर पहुंचे तो उन की आयु कितनी २ थी।

पाण्डवों * को उस समय के सुप्रसिद्ध धनुर्वेद विद्यावित् ब्राह्मण कुलोत्पन्न द्रोणाचार्य की शिक्षाधीन किये। द्रोणाचार्य बड़े प्रेम से अपने शिष्यों को सब प्रकार की विद्या और विशेष कर अस्त्र शस्त्र विद्या सिखाने लगे। ऐसे तो उन के सभी शिष्य सब प्रकार के अस्त्र शस्त्रों के सञ्चालन में कुशल तथा युद्धविद्या-व्युत्पन्न हो गए परन्तु भीम और दुर्योधन गदायुद्ध और मल्लयुद्ध में बड़े ही निपुण निकले और अर्जुन विविध प्रकार के बाणों के संचालन में अद्वितीय बन गए। जब कि कौरव, पाण्डव गुरु से शिक्षा ग्रहण कर रहे थे उसी समय से पाण्डवों की निपुणता के कारण कौरवों का हृदय जलने लग गया था। उन्हीं दिनों सोते हुए भीम को एक दिन कौरवों ने उठा कर गङ्गा में डाल दिया था परन्तु भीम डूबे नहीं दूसरे दिन गङ्गा से निकल कर सकुशल गुरु के समीप पहुंच गए। जब कौरव तथा पाण्डव शिक्षा पा चुके तो द्रोणाचार्य ने महाराज धृतराष्ट्र से कहा कि आप के पुत्रों और पाण्डवों की शिक्षा प्रायः समाप्त हो चुकी मैं चाहता हूं कि एक रङ्ग भूमि रची जाय जहां सब कुमार अपना २ हस्तकौशल दिखलावें। तदनुसार हस्तिनापुर से बाहर एक विशाल और सुन्दर रङ्गभूमि रची गई जहां नियत तिथि पर भीष्म, कृपाचार्य, धृतराष्ट्र, विदुर, कुन्ती, गांधारी, मन्त्री लोग तथा सहस्रों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र एकत्रित हो गए। हर्ष सूचक बाजे बजने लगे और घोर जनरव भी होने लगा। ज्योंही द्रोणाचार्य अपने पुत्र अश्वत्थामा तथा शिष्यों के साथ उपस्थित हुए सर्वत्र शान्ति छा गई और गुरु की आज्ञानुसार कुमार एक के पीछे दूसरे अपनी २ योग्यता दर्शाने लगे। भिन्न २ प्रकार के लक्ष्यों को वेध कर, छोड़े हुए बाणों के जाल से आकाश में भिन्न २ प्रकार के आकार बना कर, हाथी, घोड़े और रथों पर चढ़कर, गदा, खड्ग से कृत्रिमयुद्ध कर जब कुमारों ने दर्शकों को बारम्बार विस्मित और आनन्दित कर दिया तब भीम और दुर्योधन गदा लेकर रङ्गभूमि में उतरे और अद्भुत पैंतरे बदल २ कर एक दूसरे पर प्रहार करने लगे। दर्शक युद्ध देखकर विस्मित हो गए और दुर्योधन के कठिन प्रहार देख दर्शक भयभीत हो कभी हा भीम ! कह उठते थे और भीम के कठिन प्रहार पर कभी हा दुर्योधन, चिल्ला उठते थे दोनों योद्धा जब क्रुद्ध हो एक दूसरे

---

* महाभारत में लिखा है कि युधिष्ठिर दुर्योधन से एक वर्ष बड़े थे और दुर्योधन तथा भीम का जन्म एक ही दिन हुआ था।

पर घोर प्रहार करने लगे तब द्रोणाचार्य ने अश्वत्थामा को भेज दोनों योद्धाओं को पृथक् २ करा दिया ।

तब अर्जुन रङ्गभूमि में उतरे उन के आते ही घोर जनरव हुआ गुरु को प्रणाम कर अर्जुन अपना हस्तकौशल दिखलाने लगे ।

आग्नेयेनाऽसृजद्वह्निं वारुणेनाऽसृजत्पयः
वायव्येनाऽसृजद्वायुं पार्ज्जन्येनाऽसृजद्घनान् ॥ आदि० १३७ । १९ ॥

क्रमशः आग्नेयास्त्र से अग्नि, वारुणास्त्र से जल, वायव्यास्त्र से वायु और पार्जन्यास्त्र से मेघों को उत्पन्न कर दिखलाया । अन्यान्य कई अस्त्रों को भी छोड़ अर्जुन ने दर्शकों को विस्मित और आह्लादित किया, आकाश में घूमते हुए लोहे के वराह के मुख में पांच बाण एक दूसरे के पीछे छोड़े और पांचों बाण एक साथ वराह के मुख से निकले, रथ पर सवार हो उसे दौड़ाने लगे, दौड़ते हुए रथ से कूद पड़े और फिर उस पर चढ़ गए, खड्ग और गदा का संचालन भी दिखलाया। अर्जुन के सभी कृत्यों को देख दर्शकगण बड़े ही प्रसन्न हुए ।

अर्जुन के कृत्य ज्यों ही समाप्त हुए त्यों ही बाहर की ओर से एक वीर पुरुष आ पहुंचा और द्रोण तथा कृपाचार्य को प्रणाम कर अर्जुन से कहने लगा कि पार्थ ! मैं भी उन सब क्रियाओं को दिखा सक्ता हूं जिन्हें तुम ने दिखाया है । यह कह और द्रोण से आज्ञा ले कर्ण ने भी उन सब क्रियाओं को कर दिखाया जिन्हें अर्जुन ने दिखाया था । लोग आश्चर्य में डूब इस वीर के विषय में जिज्ञासा करने लगे तो ज्ञात हुआ कि यह कर्ण नाम योद्धा है । दुर्योधन अपने भाइयों सहित कर्ण के निकट पहुंचा और उसे छाती से लगा कहने लगा "स्वागतं ते महाबाहो ! आप भी हम लोगों के साथ राज्यसुख भोगिए" । कर्ण ने कहा आप की मैत्री की प्राप्ति से मुझे सब कुछ प्राप्त हो गया, मेरी तो बड़ी अभिलाषा यह है कि मैं अर्जुन के साथ द्वन्द्व युद्ध करता । दुर्योधन बोला आप हम लोगों के साथ भोगों को भोगिए और दुष्टों के शीश अपने पग से दलन कीजिए। अर्जुन यह सुन क्रुद्ध हो गए और बोले कर्ण ? जो विना बोलाए आते और विना पूछे बोलते हैं उन की जो दशा होती है उस दशा को मैं तुम्हें पहुंचाऊंगा । कर्ण ने कहा यह रङ्गभूमि सब के लिए सामान्य है राजाओं की श्रेष्ठता का मूल कारण बल है, तुम क्यों व्यर्थ बोलते हो, तुम्हारे गुरु के सन्मुख भी मैं तुम्हारा शीश अपने बाणों

से काट सक्ता हूं। यह सुन द्रोणाचार्य ने अर्जुन को आज्ञा दी कि कर्ण से द्वन्द्व-युद्ध करो। अर्जुन आज्ञा पाते ही गुरु को प्रणाम कर और भाइयों से मिलकर युद्ध के लिए खड़े हो गए उधर कर्ण भी दुर्योधनादि से घिरे हुए दूसरी ओर युद्ध के लिए खड़े हुए तब कृपाचार्य ने कर्ण से कहा कि राजकुमारों का द्वन्द युद्ध केवल राजकुमारों से ही हो सक्ता है। यह अर्जुन कुन्ती का पुत्र है तुम भी कर्ण बतावो किस राजवंश में तुमने जन्म धारण किया है*यह सुन कर्ण का शीश नीचा होगया। तब दुर्योधन ने कहा कि राजा तीन प्रकार के होते हैं एक तो कुलीन, दूसरे शूर, तीसरे सेनापति मैं इसी क्षण कर्ण को अङ्गदेश का राजा बनाता हूं यह कह दुर्योधन ने तुरन्त ही कर्ण का अभिषेक कर दिया, कर्ण ने कहा आप की इस कृपा के बदले मैं क्या दूं? दुर्योधन ने कहा केवल अपनी मैत्री। कर्ण के राजा बनने के समाचार ने उस के पालक पिता वृद्ध सारथि को आह्लादित करदिया और वह जनसमूह के बीच से कर्ण के समीप पहुंच आनन्द के आंसु बहाने लगा, कर्ण ने अपने पालक पिता को प्रणाम किया। तब भीम बोले सारथि को पुत्र अर्जुन के बाणों से मारने योग्य नहीं है! यह सुन दुर्योधन क्रुद्ध हुआ और कहने लगा कि गुणकर्मानुसार ही सब कुछ होता है, विश्वामित्र क्षत्रिय से भी ब्राह्मण बन गए, तुम्हारी उत्पत्ति किस प्रकार हुई है इसे भी हम जानते हैं, हमारी बात (अर्थात् कर्ण बङ्गेश्वर हो गए) जिसे स्वीकार न हो वह युद्ध करे।

दुर्योधन के इन वचनों ने रङ्ग में भङ्ग डाल दिया, सर्वत्र हाहाकार मच गया। कुछ वार्ताएं हो ही रही थीं जब कि सूर्यास्त हो गया और रङ्गभूमि से सब लोग अपने अपने गृहों को पधारे, दुर्योधन बड़े आदर के साथ कर्ण को अपने घर ले आया।

द्रोणाचार्य के लिए गुरुदक्षिणा—कौरव और पाण्डव जब गुरु के समीप हाथ जोड़ गुरुदक्षिणा देने को खड़े हुए तो द्रोणाचार्य ने कहा कि तुम लोगों से मैं यही दक्षिणा मांगता हूं कि पाञ्चाल के महाराज द्रुपद को जीते पकड़ लाओ। तदनुसार कौरव और पाण्डव द्रुपद के राज्य पर चढ़ गए और घोर संग्राम के पश्चात्

---

* कर्ण वास्तव में कुन्ती के पुत्र थे जिसे कुन्ती ने पाण्डु से विवाह करने को पूर्व सूर्य नाम पुरुष से सम्बन्ध कर उत्पन्न किया था। यह बात कर्ण को ज्ञात न थी। कर्ण एक सारथि को ही अपना पिता समझते थे जिस ने बाल्यावस्था से ही उन की पालना की थी

द्रुपद को पकड़ कर द्रोण के सन्मुख ला खड़ा किया । द्रुपद ने अपने सहपाठी द्रोण का एक वार अपमान किया था जिस का बदला द्रोण ने लेकर तथा द्रुपद के राज्य का कुछ भाग भी लेकर द्रुपद को छुड़वा दिया ।

युवराजपद की प्राप्ति और वनवास—उक्त घटना से एक वर्ष पश्चात् लोगों की सम्मति से धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर को युवराज बनाया । युधिष्ठिर का युवराज बनना था कि दुर्योधन की द्वेषाग्नि विशेष भड़क उठी, उस ने पिता से कहा कि पराए की रोटी खाकर हम यहां नहीं रह सक्ते । महाराज विचित्रवीर्य के पश्चात् आप को राज्य मिलना था, आप के प्रज्ञाचक्षु होने के कारण यदि आप को राज्य न मिला तो आप के पुत्र को राज्य मिलना चाहिए इत्यादि । कणिक नाम नीतिज्ञ, दुर्योधन, दुश्शासन, कर्ण तथा दुर्योधन के मातुल शकुनि ने अपनी २ बातों से धृतराष्ट्र को अपने वश में कर लिया और पाण्डवों के नाश के उपाय सोचे गए । तब धृतराष्ट्र ने पाण्डवों से यह कहकर कि घर के झगड़ों को मिटाने के लिए तुम लोगों को थोड़े दिनों के लिए हम गङ्गा के किनारे " वारणावत " नगर को भेजना चाहते हैं । कुछ नगरनिवासियों ने धृतराष्ट्र की बड़ी निन्दा की । युधिष्ठिर जब अपने बड़े भीष्मादि से मिलकर जाने लगे तब विदुर ने म्लेच्छभाषा में जाते हुए युधिष्ठिर को समझा दिया कि अति सुन्दर भवन तुम लोगों के रहने के लिए धृतराष्ट्र ने जो वारणावत में बनवाया है उस की दीवारों के भीतर लाख आदि जलने वाले पदार्थ भरे हुए हैं एक दिन उस में आग लगाई जायगी परन्तु मैंने उस घर के भीतर दूर से सुरङ्ग खोदवा रक्खा है जिस का द्वार उक्त घर के एक द्वार के नीचे है, आग लगने पर उस सुरंग से निकल जाना । पाण्डव इस समय वारणावत जाने के सिवाय और कुछ कर नहीं सकते थे अतः अपनी माता सहित वारणावत को रवाना हुए जहां पहुंचते ही प्रजा ने बड़े सन्मान और प्रेम के साथ उन का स्वागत किया । एक दिन उस गृह में जिस में पाण्डव निवास करते थे आग लगी, वारणावत की प्रजा हाहाकार कर उस ओर, दौड़ी परन्तु देखते देखते सारा गृह जल कर भस्म हो गया । घर में आग लगते ही कुन्ती सहित पाण्डव सुरङ्ग से निकल भागे और गङ्गा के किनारे पहुंचे, तबः—

> ततः स प्रेषितो विद्वान् विदुरेण नरस्तदा ।
> पार्थानां दर्शयामास मनोमारुतगामिनीम् ॥ आदि १५१ । ४ ॥

सर्ववातसहां नावं यन्त्रयुक्तां पताकिनीम् ।
शिवे भागीरथीतीरे नरै विस्रम्भिभिः कृताम् ॥ आदि १५१ । ५ ॥

विद्वान् विदुर के (पहले से ही) भेजे हुए लोगों ने पाण्डवों को मन तथा वायु की तरह शीघ्र चलने वाली सब प्रकार के पवनों (के झोंके) सहने वाली, यन्त्रकला युक्त तथा पताका वाली नौका * को जिसे भागीरथी (गङ्गा) के किनारे जल पर (विदुर के विश्वास पात्रों ने (पहले से ही) बना रक्खा था, दिखलाया ।

पाण्डव कुन्ती सहित उस नौका पर चढ़ शीघ्र ही गङ्गा पार हो गए और वन में छिप गए । दुर्योधन के जन जो वारणावत में रहते थे उन्होंने उक्त गृह के भस्म के साथ पांच, छः मनुष्यों की हड्डियां देख धृतराष्ट्र को सूचना दी कि पाण्डव कुन्ती सहित जल कर भस्म हो गए । धृतराष्ट्र यह समाचार सुन मन ही मन प्रसन्न हुआ परन्तु ऊपर से बड़ा खेद प्रकट किया । अब दुर्योधन निर्द्वन्द्व हो पिता के परामर्श से राजकार्य सम्पादन करने लगा ।

द्रौपदी का स्वयम्वर—इस समय पाण्डव इस योग्य नहीं थे कि कौरवों से युद्ध कर विजयी हो सकते अतः हस्तिनापुर से वारणावत को आते समय भी पाण्डव किसी प्रकार की उग्रता प्रकट नहीं कर सके और अब जब कि उन्हें वन का आश्रय लेना पड़ा तो भी शान्ति के साथ विपत्ति का सहना ही उचित समझा गया । पाण्डव जब कुछ दिन वनवास कर चुके तब महाराज द्रुपद की कन्या विवाह योग्य हुई । द्रुपद चाहते थे कि उस का विवाह अर्जुन से हो परन्तु अर्जुन का कहीं पता न लगा तब उन्हों ने अपनी कन्या के स्वयम्वर की घोषणा चतुर्दिक् भेजी । नियत तिथि पर दूर २ से महाराजगण पाञ्चालों की राजधानी काम्पिल्य में पहुंचे । पांचो पाण्डव भी माता सहित ब्राह्मण के वेष में काम्पिल्य पहुंच गए । सुसज्जित रंगभूमि में महाराज गण तथा प्रजासमुदाय जब बैठ गए तब महाराज द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न अपनी बहिन कृष्णा के साथ रंगभूमि में आए और घोषणा की कि यहां धनुष और बाण रक्खे हैं जो कोई इस धनुष पर बाणों को चढ़ा लक्ष्य बेधेगा उसे हमारी बहिन वरेगी । अनेक राजाओं ने क्रमशः धनुष चढ़ाने का यत्न किया परन्तु धनुष चढ़ न सका तब कर्ण धनुष चढ़ा उस पर बाण रखने लगा जब कि कृष्णा [द्रौपदी] बोल

---

* क्या इस नौका का वर्णन निस्सन्देह यह नहीं बताता कि उन दिनों अग्निवतरी वा आगबोट चलती थी ?

उठी मैं एक सारथी से विवाह नहीं करना चाहती। कर्ण लज्जित हो धनुप रख बैठ गया तब ब्राह्मणों के बीच से अर्जुन उठे, कोई तो ब्राह्मण ब्राह्मणवेषधारी अर्जुन के उठने से प्रसन्न हुए और कोई खिन्न, परन्तु, अर्जुन ने किसी की ओर भी ध्यान न दे धनुप चढ़ा उस पर बाण रख लक्ष्य को वेध ही दिया । तब तो ब्राह्मण बड़े प्रसन्न हुए कि हमारी जाति का एक पुरुष इस समय सर्वोपरि योद्धा सिद्ध हुआ । अर्जुन द्रौपदी का हाथ पकड़ रंगभूमि से चल पड़े और उन के अन्यान्य भ्राता भी ब्राह्मणों के बीच से उठ कर चल दिए । द्रौपदी के साथ भाइयों ने जाकर माता कुन्ती से कहा कि हम लोग भिक्षा लाए हैं, माता ने कहा कि आपस में बांट लो महाभारत में लिखा है कि इसी आज्ञा के कारण पांचो भाइयों की एक स्त्री द्रौपदी बनाई गई परन्तु हमारी समझ में यह बात नहीं आती कि जब तक पांचों भाई बड़े कामी वा दुराचारी न हों तब तक वे एक द्रौपदी से पत्नीवत् कैसे वर्त्ताव करते होंगे ? जो हो महाभारत में यही लिखा है कि द्रौपदी पांचों भाइयों की स्त्री बनी ।

इन्द्रप्रस्थ वा दिल्ली का स्थापन—इस स्वयम्बर में सब को ज्ञात हो गया कि पाण्डव जीते हैं। श्रीकृष्णचन्द्र जो इस स्वयम्बर में पधारे थे अपनी फूफी कुन्ती से मिले और द्रौपदी के विवाह समय बहुत से रत्नादि पाण्डवों को भेंट दिए। धृतराष्ट्र ने जब कि सुना कि पाण्डव जीते हैं और अब उन का सम्बन्ध बलशाली द्रुपद से हो गया है तब वह मन ही मन बड़ा दुखी हुआ परन्तु ऊपर से कहने लगा कि पाण्डव हमें दुर्योधन से कम प्यारे नहीं हैं और विदुर को भेज काम्पिल्यनगर से पाण्डवों को शीघ्र ही बोला लिया, और अपने राज्य को दो भागों में विभक्त कर एक भाग जिस में वन बहुत था पण्डवों को और दूसरा भाग दुर्योधन को दे दिया ताकि पुनः झगड़ा न हो। श्रीकृष्णचन्द्र जी की सहायता से पाण्डवों ने खाण्डव वन को जला कर उस में बहुत से लोगों को बसा दिया और अपने राज्य की एक राजधानी स्थापित की जिस का नाम इन्द्रप्रस्थ रक्खा । थोड़े ही दिनों में इन्द्रप्रस्थ चतुर्वर्णों के लोगों से भर गया, वाणिज्य से उस की सम्पत्ति बढ़ गई और एक बिशाल नगर बन गया। राज्य के अन्यान्य भागों में भी बहुत सी प्रजा बस गई जिस से राजकोष धीरे २ धन धान्य से परिपूर्ण हो गया । श्रीकृष्णचन्द्र जी की सम्मति से (परन्तु बलराम की सम्मति के विरुद्ध) अर्जुन ने उन की बहिन सुभद्रा को हरण कर उस से विवाह किया जिस के गर्भ से अभिमन्यु का जन्म हुआ । द्रोपदी के गर्भ से भी पांच पुत्र उत्पन्न हुए ।

राजसूय यज्ञ और दिल्ली का पहला राजदर्बार—बलशाली पाञ्चालों तथा यादवों से सम्बन्ध प्राप्त कर पाण्डव अपने को सर्वोपरि बलवान् समझने लगे और अपने को चक्रवर्त्ती सिद्ध करने के लिए राजसूय यज्ञ की बातें सोचने लगे । इस विषय में उन्होंने श्री कृष्णचन्द्र जी की सम्मति ली और उन्होंने कहा कि जब तक मगध का प्रतापशाली महाराज जरासन्ध नहीं मारा जाता तब तक राजसूय यज्ञ नहीं हो सक्ता । अतः युधिष्ठिर की आज्ञा ले श्रीकृष्ण, अर्जुन और भीम जरासन्ध की राजधानी राजगृह में ब्राह्मण का वेष बना पहुंचे और जरासंध को द्वन्द्वयुद्ध के लिए उद्यत कर लिया, भीम ने जरासन्ध से मल्लयुद्ध किया और उसे मार डाला। जरासंध को मार तीनों व्यक्ति इन्द्रप्रस्थ पहुंचे, और चारों दिशाओं के राजाओं को वश करने के लिए भीम अर्जुन, नकुल और सहदेव सेना लेले कर चारों दिशाओं को चल दिए और सब को वश कर पुनः इन्द्रप्रस्थ में पहुंचे जहां चारों दिशाओं के राजे नियत समय पर राजसूय यज्ञ में सम्मिलित होने को पधारे और यज्ञ होने लगा। अन्तिम दिवस जब कि अवभृत स्नान का समय आया और युधिष्ठिर सब से पहले श्रीकृष्ण की पूजा करने लगे तब चेदी का राजा शिशुपाल क्रुद्ध हो भरी सभा में श्रीकृष्ण की निन्दा करने लगा और उन से युद्ध करने को खड़ा हो गया तब श्रीकृष्ण ने कहा तेरी सौ गालियां मैंने सुन लीं तेरे सौ अपराध क्षमा कर दिये परन्तु अधिक क्षमा नहीं कर सक्ता और अपने चक्र से उस का शीश काट गिराया । दुर्योधनादि जो शिशुपाल के मित्र थे मन ही मन बड़े क्रुद्ध हुए परन्तु उस समय हाथ मल कर रह गये । यज्ञ समाप्त हुआ सब राजाओं ने महाराज युधिष्ठिर को चक्रवर्ती स्वीकार किया और युधिष्ठिर ने सब राजाओं को बहुमूल्य रत्नादि भेंट में दे सम्मान पूर्वक विदा किया ।

द्यूतक्रीड़ा और उस का विषमय परिणाम—पाण्डवों के वैभव से कौरव बहुत जले और शकुनी की सम्मति से पाण्डवों को जूआ खेलने के लिए आह्वान किया । आश्चर्य्य है कि जिस द्यूत की घोर निन्दा मन्वादि महर्षि लिख चुके थे वह महाभारत के पतित समय में क्षत्रियों का धर्म्म समझा जाता था। तदनुसार युधिष्ठिर हस्तिनापुर में पहुंच कर शकुनी तथा दुर्योधन के संग जूआ खेलने लगे, और जुआड़ी शकुनी की चालाकियों से युधिष्ठिर अपना सब राज पाट अपने पुत्रों भाइयों तथा अपने को भी दाव में रख कर हार गए । तब शकुनी ने कहा द्रौपदी को दाव में रक्खो, यदि जीत जाओ तो अपना सर्वस्व लौटा लो ।

युधिष्ठिर ने द्रौपदी को भी दाव में रख दिया और हार गए तब दुर्योधन ने अपने सेवक प्रतिकामी को आज्ञा दी कि द्रौपदी से यह कह कर कि युधिष्ठिर उस जूए में हार गए हैं यहां बोला ला। प्रतिकामी द्रौपदी के यहा जाकर और वहां से आकर सभा में कहने लगा कि द्रौपदी पूछती हैं कि अपने को हारे हुए युधिष्ठिर अपनी स्त्री को हारने का अधिकार रखते थे या नहीं तब दुर्योधन ने दुश्शासन को आज्ञा दी कि द्रौपदी को यहां शीघ्र ला। दुश्शासन द्रौपदी के निकट पहुंचा और कहने लगा लज्जा छोड़ शीघ्र सभा में चलो। द्रौपदी ने बहुत कुछ कहा परन्तु दुःशासन ने उन की एक भी न सुनी। तब द्रौपदी गान्धारी के घर की ओर भागी परन्तु दुःशासन ने द्रौपदी के शीश का झोंटा पकड़ लिया और उसे घसीट कर सभा में ले आया। द्रौपदी आते ही सभा में बोली "सभ्यगण बतलाइये क्या मैं नियमानुसार जीती गई हूं? क्या युधिष्ठिर जो अपने को हार गए थे मुझे दाव में रख सकते थे पाप होगा यदि सभा में बैठे हुए लोग ठीक २ न्यायप्रदान नहीं करेंगे। द्रौपदी के बचन सुन और तो कोई न बोला, भीष्म कहने लगे द्रौपदी का प्रश्न बड़ा सूक्ष्म है पति और पत्नी का सम्बन्ध बड़ा कठिन है अतः इस प्रश्न का निबटेरा बड़ा कठिन है। कटि से ऊपर द्रौपदी का शरीर खुला था दुःशासन बड़े बल से झोंटे को पकड़े हुए था द्रौपदी रक्षा चाहती थी परन्तु रक्षा मिलनी कठिन थी। भीम क्रुद्ध हो कहने लगे कि जुआरी युधिष्ठिर का हाथ जला देना चाहिए, तब अर्जुन ने उन्हें शान्त किया। पुनः कर्ण तथा दुर्योधन ने सलाह कर आज्ञा दी कि पाण्डवों तथा द्रौपदी के कपड़े उतार लिए जावें पाण्डवों ने अपने वस्त्राभूषण उतार कर रख दिए और बेचारी द्रौपदी को दुःशासन नंगी करने लगा और द्रौपदी आह भरे हृदय से परमात्मा की प्राथना करने लगी। * उसी समय श्रीकृष्णचन्द्र जी पहुंचे और द्रौपदी की रक्षा की † बहुत से अन्य लोग भी दुःशासन को धिक्कारने लगे,

---

* जिस सभा में भीष्मादि सरीखे पुरुष विद्यमान हों वहां एक अबला की ऐसी दुर्दशा होवे तो सिवाय इस के और क्या कहा जा सकता है कि महाभारत के समय धर्माधर्म के समझने वाले तथा धर्मानुसार चलने वाले पुरुषों का प्रायः अभाव हो गया था, और मनुष्य था भी ऐसा ही। यदि ऐसा न होता तो लाखों पुरुष परस्पर युद्ध में प्रवृत्त हो नष्ट क्यों हो जाते!

† महाभारत में लिखा है कि द्रौपदी के पातिव्रत धर्म के प्रताप से तथा श्रीकृष्णचन्द्रजी की कृपा से द्रौपदी का चीर इतना बढ़ा कि दुःशासन चीर खींचता २ थक गया परन्तु द्रौपदी नंगी न हुई। इस में ऐतिहासिक भाग इतना ही मालूम होता है कि श्रीकृष्ण ने द्रौपदी की रक्षा की।

धृतराष्ट्र भी इतने अपमान को अनुचित समझने लगा और द्रौपदी को निकट बुला कहने लगा "पुत्रि! जो कुछ तू चाहती है मांग, मैं देने को तय्यार हूं"। द्रौपदी ने कहा पाण्डवों को स्वतन्त्र कर दीजिए। धृतराष्ट्र ने "एवमस्तु" कह पाण्डवों से कहा युधिष्ठिर जावो पूर्ववत् राज्य करो मेरे पुत्रों की मूर्खता को मेरे पर कृपा रखते हुए क्षमा करो। पांडव द्रौपदी सहित चले गए परन्तु दुर्योधनादि की सम्मति से धृतराष्ट्र ने उन्हें पुनः बुलवाया और शकुनी के आह्वान करने पर युधिष्ठिर को पुनः जूआ खेलना और पुनः वह राज्य हार गये ।

बारह वर्ष वनवास और एकवर्ष अज्ञातवास—क्योंकि जूआ खेलते समय युधिष्ठिर प्रतिज्ञा कर चुके थे कि यदि वह हार जांयगे तो १२ वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास करेंगे अतः पाण्डवों को आज्ञा मिली कि वे बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास करें। पाण्डवों की वृद्धा माता तो विदुर के गृह पर रह गई और पांडव द्रौपदी सहित वनवास के लिए चले। सैकड़ों नगरनिवासी कौरवों की निन्दा करते हुए पांडवों को विदा करने गए। इन्द्रप्रस्थ राज्य के जङ्गलों में कुछ दिन निवास कर पाण्डव भारतभ्रमण को निकले और सर्वत्र घूम कर तेरहवें वर्ष के आरम्भ में अपने पुरोहित धौम्य को द्रुपद के यहां और अपने नौकरों को द्वारका भेज आप वेष बदल राजा विराट् के नगर को चले और वहां पहुंच अपने अस्त्र शस्त्रों को छिपा नए २ नामों से महाराज विराट् की नौकरी करने लगे। प्रायः एक वर्ष की समाप्ति पर जब कि विराट् के सेनापति अत्याचारी कीचक को भीमसेन ने मारडाला तथा कौरवों ने विराट् देश पर चढ़ाई की और अर्जुन ने उन्हें मार हटाया तब ज्ञात हुआ कि पांडव विराट् राजा के यहां हैं। श्रीकृष्ण सुभद्रा और अभिमन्यु को लेकर विराट् नगर को पहुंचे, अभिमन्यु का विवाह विराट् की कन्या उत्तरा से हुआ।

युद्ध की तय्यारी—विराट्नगर से चलकर पांडव मत्स्यराज्य के सीमावर्ती उपप्लव्य नगर को पहुंचे और महाराजद्रुपद और विराट् भी अपनी २ सेनाएं लेकर वहां पहुंच गए। पांडव, द्रुपद तथा विराट् ने भारतीय राजाओं की सेवा में सहायतार्थ पत्र भेजा और सत्यव्रत यादवों के राजा सात्यकी, चेदी के महाराज धृष्टकेतु, मगध के राजा जयतसेन, पांडेय देश के राजा तथा अन्यान्य कई छोटे २ राज अपनी २ सेनाएं लेकर पहुंच गए। कृष्ण ने भी पांडवों की ओर कार्य करना स्वीकार करलिया इस प्रकार पांडवों के आधीन सात अक्षौहिणी सेनाएं एकत्रित होगईं जिन में कुल

१९३०९० हाथी, १९३०९० रथ, ४५९२७० अश्व तथा ७९५४५० पैदल योद्धा थे।

दुर्योधन के दूत भी चारों ओर फिर रहे थे पांडवों की तय्यारी देख दुर्योधन ने भी सहायतार्थ चारों ओर के राजाओं को पत्र भेजा, चीन का भगदत्त, भूरिश्रवा, ईरान का राजा शल्य, भोजों के राजा कृतवर्म्मा , सिन्धु सौवीर के राजा जयद्रथ, काम्बोज और यवनों के राजा सुदक्षिण, महिष्मती (दक्षिण के राजा नील, अवन्ती के महाराज, केकय देश के महाराज तथा अन्यान्य कई छोटे २ राजा दुर्योधन के सहायतार्थ हस्तिनापुर पहुंचे, इन सब की सेनाएं ग्यारह अक्षौहिणी थीं जिन में कुल २४०५७० हाथी, २४०५७० रथ, ७२१६१० अश्व, तथा १२०२८५० पैदल योद्धा थे ।

जब दोनों ओर की सेनाएं युद्ध के लिए तय्यार होगईं तो धृतराष्ट्र ने अपने दूत संजय द्वारा युधिष्ठिर को कहला भेजा कि मनुष्य नाशी भावी घोर युद्ध संसार के लिए बड़ा हानि कारक होगा, युधिष्ठिर जैसे धर्मात्मा को चाहिए कि यादव वा पाञ्चालों के यहां रहें अथवा भिक्षा मांग कर निर्वाह करें परन्तु ऐसे युद्ध में प्रवृत्त न हों । युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि हम पांचों भाइयों को यदि पांच गांव भी धृतराष्ट्र देदें तो हम संतोष सहित उसी पर निर्वाह करेंगे और युद्ध में प्रवृत्त न होंगे। यह उत्तर जब धृतराष्ट्र की राजसभा में सुनाया गया तो दुर्योधन बोला कि पाण्डव डर गए हैं ।

पुनः युधिष्ठिर ने श्रीकृष्णचन्द्र को अपना दूत बना भेजा वह सात्यकी सहित रथ पर सवार हो कई दिनों में हस्तिनापुर पहुंचे और विदुर के साथ रातभर विश्राम किया । प्रातःकाल सन्ध्यादि से निवृत्त हो वह धृतराष्ट्र की राज सभा में पहुंचे जहां भीष्म, द्रोण, कर्ण तथा दूर २ देशों के नृपति उपस्थित थे । भरी सभा में श्रीकृष्ण जी ने शान्तिसंस्थापिनी एक ऐसी प्रभावशालिनी वक्तृता दी कि सब लोग श्रवण कर धन्य २ पुकारने लगे । धृतराष्ट्र ने श्रीकृष्णचन्द्र जी से कहा कि हमारे पुत्रों को समझाइये कि वे हठ परित्याग करें । श्रीकृष्णचन्द्रजी ने दुर्योधन को बहुत समझाया परंतु वह उन की बातें सुनते २ सभा से उठगया और श्रीकृष्ण को बन्दी बनाने का यत्न करने लगा, धृतराष्ट्र को जब यह ज्ञात हुआ तो सभा में बुला कर दुर्योधन को उन्होंने बहुत डांटा और श्रीकृष्ण से कहा कि आप देखते ही हैं कि हमारे पुत्र हमारी आज्ञा में नहीं हैं । फिर तो सभा से उठ सात्यकी

सहित श्रीकृष्ण विदुर के घर पहुंचे और वहां से पुनः रथ पर सवार हो पाण्डव दल की ओर रवाना होगए और वहां पहुंच युधिष्ठिर से हस्तिनापुर का सब वृतांत कह सुनाया । इधर कुन्ती हस्तिनापुर में विदुर के गृह से कर्ण के घर पर पहुंच बोली "तू मेरा पुत्र पाण्डवों का भाई है तू दुर्योधन का पक्ष छोड़ दे" कर्ण ने उत्तर दिया "माता । तू बहुत देर कर आई, इतने दिनों तक कौरवों की प्रीति का भाजन बन इस विपत्ति काल में उन्हें मैं कैसे छोड़ूं ? तेरे पांच पुत्र बने रहेंगे कर्ण और अर्जुन में से कोई एक अवश्य मारा जायगा ।

अठारह दिनों का घोर संग्राम और शोकमय परिणाम— जब शान्ति की कोई आशा न रही दोनों ओर की सेनाएं कुरुक्षेत्र के मैदान में शिविर (कैम्प डाल युद्ध के लिए सन्नद्ध होगईं । नियत दिन सूर्योदय से पहिले स्नान सन्ध्या से निवृत्त हो सब योद्धा युद्ध क्षेत्र में अपने २ स्थानों पर डट गए । कौरव सेना (जिस का अग्रभाग बहुत लम्बा था) के आगे सेनापति भीष्म अपने रथ पर आ पहुंचे, और पाण्डव सेना (जिस का अग्रभाग सूक्ष्म था) के आगे सेनापति अर्जुन अपने रथ पर आ खड़े हुए । यहां पहुंचते ही अर्जुन के मस्तिष्क में लक्षों मनुष्यों के भावी नाश का दृश्य घूम गया और वह धनुष रख अपने सारथी श्रीकृष्ण से कहने लगे एक राज्य के लिये इतने मनुष्यों का नाश मुझ से नहीं होता । श्रीकृष्ण ने क्षात्र धर्म्म का तत्त्व आत्मा का अमरत्वादि विषय अर्जुन को समझा उन्हें शीघ्र ही पुनः युद्ध के लिए उद्यत कर दिया । इतने में युधिष्ठिर अपने रथ से उतर कौरव दल की ओर दौड़े, लोगों ने समझा यह डर गए कौरवों से सुलह करना चाहते हैं । शेष चारों पाण्डव तथा कृष्ण भी युधिष्ठिर के पीछे २ दौड़े । युधिष्ठिर भीष्म के निकट पहुंचे और उन्हें प्रणाम कर उन से कहने लगे " पितामह ! हमें विवश होकर युद्ध करना पड़ता है अतः कृपया युद्ध करने की आज्ञा दें तथा आशीर्वाद दें, एवं गुरु द्रोणाचार्य, कृपाचार्य तथा अपने मामू शल्य से भी युद्ध करने की आज्ञा युधिष्ठिर ने मांगी और चारों ने क्रमशः युधिष्ठिर से कहाः—

अर्थस्यपुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित् ।
इतिमत्वा महाराज बद्धोस्म्यर्थेन कौरवैः ॥

(भीष्मपर्व, अध्याय ४३)

अर्थात् पुरुष धनका दास है, धन किसी का दास नहीं है, यह समझ कर

हे महाराज धन के कारण मैं कौरवों के साथ बंधा हुआ हूं। मैं कौरवों की ओर से युद्ध तो अवश्य ही करूंगा, अन्य आप जो कुछ कहें सो करूं। युधिष्ठिर ने उन से आशीर्वाद मांगा और चारों ने कहा आप की जय हो।

भीष्मपितामह का युद्ध—युधिष्ठिर की इस नम्रता से लोग बहुत प्रसन्न हुए, यहां तक कि धृतराष्ट्र का पुत्र युयुत्सु दुर्योधन के हठ से अप्रसन्न हो कौरव दल को छोड़ पाण्डवों की ओर आगया। युधिष्ठिर श्रीकृष्णादि सहित पुनः अपने दल में आगए और पाण्डवों ने वीरोत्साही बाजे बजाने की आज्ञा दे दी। कौरवों के दल में भी वीरोत्साही बाजे बजने लगे और भीष्म तथा भीम का युद्धारम्भ हो गया कौरवों ने शीघ्र ही भीम की ओर बाणों की वर्षा आरम्भ करदी, शेष चारों पाण्डव अभिमन्यु तथा धृष्टद्युम्न भीम की रक्षा को दौड़े। थोड़ी देर कौरव तथा पांडवों का युद्ध अन्यान्य महीपतिगण देखनेलगे पुनः अपने २ अस्त्र शस्त्र सम्भाल सभी युद्ध में प्रवृत्त हो गए। अर्जुन और भीष्म, द्रोण और धृष्टद्युम्न, दुर्योधन और भीम के घोर युद्ध हुए। नौ दिनों तक भीष्म प्रायः दश सहस्र रथियों को प्रतिदिन मारते हुए पाण्डवदल को त्रासित करते रहे। दशवें दिन द्रुपद का पुत्र शिखण्डी भीष्म से युद्ध करने लगा, भीष्म ने प्रतिज्ञा की थी कि वह शिखण्डी से युद्ध नहीं करेंगे अतः उन्हों ने अपने शस्त्र रख दिए शस्त्रों के रखते ही चारों ओर से बाणों ने भीष्म के शरीर को छेद दिया और वह घायल हो रथ से गिर पड़े। उन के गिरते ही युद्ध बन्द हो गया और दोनों दल के मुख्य२ योद्धा गण उन के निकट पहुंचे। भीष्म ने दुर्योधन से कहा कि अर्जुन सर्वोपरि योद्धा है, मेरा कहना मानो युद्ध अब बन्द करदो और आधा राज्य पाण्डवों को देदो। परन्तु दुर्योधन ने उन की एक भी न मानी तब घायल भीष्म की रक्षा का वहां उपाय रच, दोनों ओर की सेनाएं पीछे हट गईं।

द्रोणाचार्य्य का युद्ध—अब द्रोणाचार्य सेनापति नियत हुए, दो दिनों तक तो वह भीष्म की तरह युद्ध करते रहे तीसरे दिन उन्होंने अपनी सेना के एक वृहत् भाग को चक्रव्यूह में खड़ा किया और सेना के एक बलिष्ठ भाग को अर्जुन के सन्मुख भेजा। अर्जुन तो उधर युद्ध में फंस गए और चक्रव्यूह भेदने को अभिमन्यु और भीम चले। इन के साथ जो पाण्डव सेना गई उस के एक भाग को तो जयद्रथ और उस की सेना ने काट डाला और शेष को आगे बढ़ने से रोक दिया, भीम भी रुक गए, परन्तु अभिमन्यु चक्रव्यूह भेदता हुआ आगे ही बढ़ता

गया । उस के सब साथी जब मारे गए तब युद्धनियम के विरुद्ध दुर्योधन के छः योद्धा एक ही साथ अभिमन्यु पर टूट पड़े और उस के रथ, सारथी को मार उस के धनुष को काट दिया तब अभिमन्यु अपनी गदा ले युद्ध करने लगा और चारों ओर से अनेक योद्धा उस पर प्रहार करने लगे और अन्त में दुःशासन के पुत्र ने अभिमन्यु का शीश अपनी गदा से कुचल डाला ।

पाण्डवसेना में शोक छा गया, अर्जुन अपने शत्रुओं को परास्त कर जब पाण्डव सेना में पहुंचे और अभिमन्यु की मृत्यु का समाचार सुना तो प्रतिज्ञा की कि जयद्रथ को यदि कल मैं न मार डालूंगा तो चिता में भस्म हो जाऊंगा ।

दूसरे दिन प्रातःकाल पुनः युद्धारम्भ हुआ, दुर्योधन ने जयद्रथ को अपनी सेना के पीछे रक्खा, घोर संग्राम हुआ, उस दिन अर्जुन और भीम के पराक्रम देख दुर्योधन त्रसित हो गया और सन्ध्या होते २ अर्जुन ने जयद्रथ को मार ही डाला ।

दुर्योधन ने द्रोणाचार्य से कहा कि आज आपने अर्जुन के मोह से ठीक २ युद्ध नहीं किया । यह सुन द्रोणाचार्य जल उठे और कहने लगे कि यद्यपि सन्ध्या हो गई है तो भी मैं युद्ध बन्द नहीं करूंगा या तो विजय प्राप्त करूंगा अथवा युद्ध करते करते प्राण छोडूंगा । दोनों दलों के बीच प्रकाश का प्रबन्ध हो गया और रात्रि समय भी संग्राम होने लगा । भीम के पुत्र घटोत्कच ने इस रात घोर संग्राम किया परन्तु कर्ण के हाथ मारा गया । कतिपय घण्टे युद्ध बन्द हुआ और चन्द्रोदय के साथ ही पुनः युद्ध होने लगा । द्रोण ने आज अपना अद्भुत युद्ध-कौशल दिखलाया, ऐन्द्रास्त्र, पाशुपतास्त्र, वायव्यास्त्र और वारुणास्त्र के प्रयोगों से चतुर्दिक् प्रकाशमय कर दिया । अर्जुन तथा कृष्ण ने भी द्रोण के उक्त अस्त्रों को उक्त प्रकार के ही आग्नेयास्त्रों से दमन कर दिया तब द्रोण ने ब्रह्मास्त्र छोड़ा जिस से लोग विशेष त्रसित हो गए परन्तु अर्जुन ने उस ब्रह्मास्त्र के प्रभाव को अपने ब्रह्मास्त्र से शान्त कर दिया * युद्ध होते २ सूर्योदय हो गया और द्रोण ने पाण्डव सेना के सहस्रों योद्धाओं को और अर्जुन ने कौरव सैन्य के सहस्रों वीरों को भूशायी कर दिया । भीम ने इस समय अश्वत्थामा नाम एक हस्ति को मार डाला और

---

*देखिये द्रोण वध पर्व, अध्याय १८९ श्लोक ३१, ३२, ४८, ५१ उक्त सब अस्त्र तोप के गोले की भांति अग्नि से प्रज्वलित हो छूटते थे । इसी कारण लिखा है कि उन के छूटने पर विशेष प्रकाश हो जाता था ।

पाण्डव सेना में कोलाहल हुआ कि अश्वत्थामा मारा गया द्रोणाचार्य को सन्देह हुआ कि उन का पुत्र अश्वत्थामा मारा गया परन्तु उन्हों ने किसी के कथन पर विश्वास नहीं किया परन्तु जब युधिष्ठिर भी छल कर बोले "अश्वत्थामा हतः नरो वा कुञ्जरो वा" तब द्रोण का हृदय पुत्रशोक से भरगया और उन के हाथ से धनुष गिर गया धनुष के गिरते धृष्टद्युम्न उन की ओर दौड़ा और तलवार से उन का शीश काट लिया। पिता की मृत्यु सुन द्रोण के पुत्र अश्वत्थामा ने घोर युद्ध किया परन्तु कौरव सेना तितिर वितिर हो गई और उस दिन का युद्ध समाप्त हो गया।

कर्णादि के युद्ध और शोकमय परिणाम—दूसरे दिन कर्ण कौरव दल के सेनापति बने और युद्धारम्भ हुआ। कर्ण ने कहा कि अर्जुन मेरे सन्मुख आकर युद्ध करे तदनुसार अर्जुन सन्मुख आए और युद्ध होने लगा। थोड़ी देर तक तो घोर संग्राम हुआ परन्तु एक स्थान में कर्ण के रथ का पहिया एक गढ़े में फंस गया। कर्ण रथ से कूद पहिया खींचने लगा त्यों हीं अर्जुन बाण मारने लगे। कर्ण ने कहा युद्धनियमविरुद्ध बाण क्यों चलाते हो? श्रीकृष्ण ने कहा तुम ने किस नियमानुसार सभा के बीच दुःशासन को आज्ञा दी थी कि द्रौपदी को नंगी कर दो जब कि कर्ण पहिया खींच ही रहा था अर्जुन ने उसे बाणों से मार डाला। इसी दिन भीम और दुःशासन का घोर युद्ध हुआ। दुःशासन की छाती तोड़ भीम ने राक्षस की भांति उस का रक्त पान कर लिया। दुर्योधन दुखी हो रण-क्षेत्र से अपने शिविर में आगया। कृपाचार्य उसे समझाने लगे कि अब भी पाण्डवों से सुलह कर लो तो वे आधा राज्य तुम्हें दे देंगे। दुर्योधन बोला "जिस ने पाण्डवों को इतना नीचा दिखाया वह अब उन से प्रार्थना कैसे कर सकता है? भीष्म, द्रोण, कर्ण, जयद्रथादि मेरे लिए प्राण दे चुके, उन के बिना अब मैं राज पा कर भी सुखी कैसे रह सकता हूं, यदि राज्य मुझे मिल भी जाय तो क्या वह मेरे साथ सदा रहेगा? मैं क्षात्र-धर्म्म को क्यों छोड़ूं? रण-क्षेत्र में मरना क्षत्रिय के लिए सर्वोपरि पुण्य है अतः मैं सन्धि का नाम भी नहीं ले सकता......." दुर्योधन के इन वचनों ने उस के साथियों के हृदय में वीरभाव का सञ्चार कर दिया और सब के सब मरने पर पुनः उद्यत होगए।

दूसरे दिन कौरवदल के सेनापति शल्य बनाए गए जिन्हों ने बड़ी वीरता के साथ पाण्डवों से युद्ध किया परन्तु वह भी मारे गए और साथ ही कौरव दल का भी नाश हो गया केवल थोड़े से योद्धा कृपाचार्य, कृतवर्म्मा तथा अश्वत्थामादि बचे।

दुर्योधन लड़ते २ जब बहुत थक गया तब एक स्थान में जा छिपा । पाण्डवों ने उसे बहुत खोजा परन्तु उस का पता न लगा । परन्तु पीछे से पाण्डवों के एक चर को उस का पता लग गया । उस से पाण्डवों ने दुर्योधन का पता पा उस के निकट पहुंचे और युधिष्ठिर कहने लगे कि धिक्कार है तुझ को जो तू अब छिप रहा है दुर्योधन धिक्कारों को सुन न सका और बोला कि मैं अकेला हूं एक आदमी से युद्ध कर सकता हूं । युधिष्ठिर ने कहा हम पांचों भाइयों में से जिस से तेरी इच्छा हो युद्ध कर । दुर्योधन ने कहा भीम से युद्ध करूंगा । तदनुसार दोनों वीर गदा लेकर युद्ध करने लगे, घोर युद्ध हुआ, अन्त में भीम के प्रहारों से बचने के लिए जब कि दुर्योधन कूद रहा था भीम की गदा दुर्योधन के जंघों में लगी और पैरों की हड्डियां टुकड़े २ हो गईं और दुर्योधन गिर पड़ा श्रीकृष्ण के भाई बलराम जो इस समय उपस्थित थे बोले यह धर्मयुद्ध नहीं हुआ कटि से नीचे गदाघात कर भीम ने घोर पाप किया मैं उसे बिना मारे नहीं छोड़ सक्ता । श्रीकृष्ण ने कहा द्रौपदी जब सभा में लाई गई थी तो दुर्योधन ने कहा था कि द्रौपदी मेरे जंघा पर बैठे तब भीम ने प्रतिज्ञा की थी कि इस जंघे को मैं अवश्यही तोडूंगा । तदनुसार भीम ने जंघे में गदा मारी है । बलराम शान्त हुए और अधमुए दुर्योधन को छोड़ पाण्डव अपने शिविर में आए अन्य सब लोगों को विश्राम करने की आज्ञा दे पांडव, द्रौपदी और श्रीकृष्ण अपने शिविर से बाहर जागते रहे ।

उधर दुर्योधन के द्वन्द्वयुद्ध का समाचार पा अश्वत्थामा, कृतवर्म्मा और कृपाचार्य उस के निकट पहुंचे । अश्वत्थामा ने कहा पांडवों से बदला लिए बिना मैं नहीं रह सक्ता । मरता हुआ दुर्योधन भी यह सुन प्रसन्न हुआ जब दुर्योधन मर गया तो अश्वत्थामा रात्रि समय चुपचाप पांडवों के शिविर में घुसगया और सोते धृष्टद्युम्न और शिखंडी के शीश काट द्रौपदी के सोते हुए पांचों पुत्रों को भी मार डाला । हाहाकार मचने पर श्रीकृष्णादि इस ओर दौड़े परन्तु अश्वत्थामा भाग निकला, भीम उस के पीछे दौड़े और एक रथ पर सवार हो श्रीकृष्ण, युधिष्ठिर तथा अर्जुन दौड़े, और गंगा के किनारे अश्वत्थामा को जा पकड़ा । परन्तु अपने गुरु का पुत्र समझ पांडवों ने उसे नहीं मारा और उस के शीश का बहुमूल्य रत्न द्रौपदी को दिखा शान्त करने के लिए लेलिया और लौटे ।

इस प्रकार महाभारत का युद्ध समाप्त हुआ । कौरव और पाण्डवों की सारी सेनाएं कट मरीं । इस युद्ध में वीरों मध्ये केवल श्रीकृष्ण, पांचों पाण्डव, सात्यकी

कृपाचार्य, कृतवर्म्मा, अश्वत्थामा, युयुत्सु आदि कतिपय पुरुष जीते बचे। वर्त अद्वितीय धनबल, विद्याबल, और बाहुबल का प्रताप घट गया उ सूर्य्य डूबने लगा और अविद्या की रात आर्य्यसन्तान को ग्रसने के लिए च से विकराल रूप धारण करने लगी ॥

विजयी परन्तु शोकमय पाण्डव हस्तिनापुर पहुंचे, विधवा नारियों पाण्डवों के दुख को और भी बढ़ा दिया तथापि नियमानुसार युधिष्ठिर का भिषेक हुआ और युधिष्ठिर अपनी सारी शक्ति को प्रजा के अभ्युदय के करने लगे * अभिमन्यु की धर्म्मपत्नी उत्तरा के गर्भ से एक पुत्रोत्पन्न हुआ नाम परीक्षित रक्खा गया। अपने पापों के प्रायश्चित्त के लिए पाण्डवों यज्ञ किया जिस में हिमालय की ओर से लाई हुई सम्पत्ति को पाण्डवों ने वाले व्यासादि ऋषियों और ब्राह्मणों को बांट दिया। व्यास को जो कुछ उन्हों ने भी दान कर दिया। युधिष्ठिर के कुछ दिन राज्य करने के पश्चात् गान्धारी और पाण्डवों की माता कुन्ती तथा सञ्जय और विदुर सहि को चले गए। दो वर्षों के पश्चात् ये सब के सब तपोवन में भयङ्कर आग जलमरे। कुछ दिनों बाद यादवों में भी परस्पर का झगड़ा हुआ और प्रायः करने योग्य यादव लड़ मरे, श्रीकृष्णचन्द्र युद्ध रोक न सके और जब वि वृक्ष के नीचे लेटे हुए थे एक जंगली ने उन्हें पशु वा पक्षी समझ तीर मार श्रीकृष्णचन्द्र जी भी मरगए। यह सब समाचार सुन पाण्डव बड़े दुखी परीक्षित को हस्तिनापुर का राज सौंप आप द्रौपदी सहित हिमालय की ओर गए जहां उन सब का देहान्त हो गया।

पञ्चमो भाग सम्पूर्णः ॥

समाप्तः प्रथमः खण्डः ।

* महाभारत में लिखा है कि युधिष्ठिर ने प्रायः छत्तीस वर्षों तक शासन कि